प्रकाशक
आचार्य श्री आत्माराम जैन
प्रकाशन समिति, लुधियाना ।

मुद्रक
रमेशचन्द्र शर्मा,
शर्मा ब्रादर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस,
अलवर (राजस्थान) ।

श्री उपासकदशाङ्गसूत्र संकेतिका

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रात स्मरणीय जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न जैनाचार्य श्रद्धेय श्री १००८ श्री आत्मारामजी महाराज से जैन ससार का ऐसा विरला ही व्यक्ति होगा जो परिचित न हो। पूज्य आचार्य श्री जी ने अपने जीवन काल मे जैन धर्मविषयक अनेको ग्रन्थो की रचना करके समाज से अज्ञान अन्धकार को दूर करने का स्तुत्य प्रयास किया। इतना ही नही जैनेतर जनता को भी जैन धर्म तथा सिद्धान्तो से परिचित कराने के लिए भरसक परिश्रम से जैनागमो की सरल और सुबोध शैली से व्याख्याएँ की और जैन शासन का सम्मान बढाया। जैन समाज उनकी ज्ञान-गरिमा से अपने आपको गौरवान्वित समझता है।

जिन जैनागमो की सविस्तर टीकाएँ लिखी हैं, उनका स्वाध्याय करके मुमुक्षुजन अपने को कृतकृत्य मानते हैं। श्री आचाराङ्गसूत्र जैसे आगम की भाषा विवेचना अभी अभी 'आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति' की ओर से प्रकाशित हुई है। यह प्रथम अवसर है जबकि इस सूत्र की सम्पूर्ण रूप से विशद् व्याख्या प्रकाशित हुई है।

हम अपने प्रेमी पाठको के कर कमलो मे आचार्यवर्य द्वारा अनुवादित श्रीउपासक-दशाङ्गसूत्र को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। वैसे तो समस्त श्रुतागम आत्मोत्थान का परम श्रेयस्कर साधन है, फिर भी प्रस्तुत सूत्र गृहस्थवर्ग के लिए परमोपयोगी है। यदि आज जनता सूत्रोक्त नियमो का अनुकरण करे तो इससे समाज और देश का नैतिक तथा चारित्रिक उत्थान हो कर सभी प्रकार की उपस्थित विषम समस्याएँ स्वय विलय हो सकती हैं।

हम प्रस्तुत सूत्र को किन्ही विशेष कारणो से प्रकाशन मे विलम्ब के लिए पाठको से क्षमा चाहते हैं। प्रकाशन समिति ने शीघ्रातिशीघ्र अन्य सूत्रो के प्रकाशन करने का दृढ सकल्प किया हुआ है। शास्त्रो के प्रकाशन के लिए ६२५) रु० से कोई भी व्यक्ति स्थायी सदस्य बन सकता है। इसके विक्रय से अन्य सूत्र, ग्रन्थ प्रकाशित होते रहेगे। अन्त मे समिति उन महानुभावो का हार्दिक धन्यवाद करती हैं जिन्होने किसी भी रूप मे उक्त शास्त्र के प्रकाशन मे सहायता की है। साथ ही शर्मा प्रेस अलवर के अध्यक्ष तथा उनके कर्मचारियो का भी धन्यवाद करते हैं जिनके सतत प्रयास से सूत्र शीघ्र तथा सुन्दर रूप मे प्रकाशित हो सका है। शास्त्रमाला के सदस्यो की सूची साथ ही दी जा रही है।

निवेदक—**पन्नालाल जैन,**

मन्त्री श्री आचार्य आत्माराम जैन प्रकाशन समिति

लुधियाना।

सदस्य-सूची

१	श्री सन्तलालजी जैन	लुधियाना
२	श्री सोहनलालजी जैन	,,
३	श्री बख्शीराम चमनलाल जैन	,,
४	श्री नन्दलालजी जैन	,,
५	श्री हुकमचन्दजी जैन	,,
६	श्री सावनमलजी जैन नाहर	,,
७	श्री हंसराजजी जैन	,,
८	श्री मुन्शीरामजी जैन	,,
९	श्री बालकरामजी जैन	,,
१०	श्री प्यारेलालजी जैन	,,
११	श्री बाँकेरायजी जैन	,,
१२	श्री हरिरामजी थापर	,,
१३	श्रीमती भाग्यवती जैन	,,
१४	बहिन देवकीदेवी जैन	,,
१५	श्री तेलूरामजी जैन	,,
१६	श्री अमरनाथजी जैन	,,
१७	श्री ज्ञानचन्दजी जैन	,,
१८	श्री कुलयशरायजी जैन	,,
१९	बहिन शीलादेवी जैन	,,
२०	श्री दौलतरामजी जैन	समराला
२१	श्री सत्यप्रकाशजी जैन	फगवाडा
२२	श्री बनारसीदास जैन	कपूरथला
२३	श्रीमती द्रौपदीदेवी जैन	,,
२४	श्री चुन्नीलालजी जैन	,,
२५	श्री धनीरामजी जैन	सुलतानपुर
२६	श्री देशराजजी जैन	,,
२७	श्री घूमीरामजी जैन	जालन्धर छा०
२८	श्री तेलूरामजी जैन	,, ,,
२९	श्री सन्तरामजी जैन	अमृतसर
३०	श्री वैष्णवदासजी जैन	,,
३१	श्री गोपीरामजी जैन	होशियारपुर
३२	श्री हंसराजजी जैन	,,
३३	श्री शालिगरामजी जैन	जम्मू
३४	श्रीमती उत्तमीदेवी जैन	,,
३५	बहिन सावित्रीदेवी जैन	जीरा
३६	श्री मुनशीरामजी जैन	फरीदकोट
३७	श्रीमती हुकमीदेवी जैन	,,
३८	श्रीमती विष्णदेवी जैन	जेतो मंडी
३९	श्री कुन्दनलालजी जैन	रामाँ मंडी
४०	श्री मंगलसैन रोशनलाल जैन	भटिण्डा
४१	श्री रामजीदास जैन	मालेरकोटला
४२	श्री अच्छरुमलजी जैन	पटियाला
४३	श्री बरखारामजी जैन	,,
४४	श्री चरणदासजी जैन	चंडीगढ
४५	श्री हरिरामजी जैन	घनौर
४६	श्री मोहनलालजी जैन	बनूड
४७	श्री अमृतसरियामल जैन	सामाना
४८	श्री किशोरचन्दजी जैन	मानसा
४९	श्री शिवजीरामजी जैन	,,
५०	श्री भानचन्दजी जैन	,,
५१	श्री अमोलकसिंह जैन	हाँसी
५२	श्री शिवप्रसादजी जैन	अम्बाला

५३	श्री खजान्चीरामजी जैन	देहली	६४	श्री आगारामजी जैन	
५४	श्री लद्धेशाहजी जैन	,,	६५	श्री परमानन्दजी जैन	
५५	श्री मुनिलालजी जैन	,,	६६	श्री रोचीशाहजी जैन	
५६	श्री विलायतीरामजी जैन न्यू० देहली		६७	श्री तेजेशाहजी जैन	
५७	श्री कुन्जलालजी जैन	देहली	६८	श्री चूनीशाहजी जैन	
५८	श्री खूबचन्दजी जैन	,,	६९	श्री राधूशाहजी जैन	
५९	श्री अमरनाथजी जैन	,,	७०	श्री नत्थूशाहजी जैन	
६०	श्री मोतीलालजी जौहरी	,,	७१	श्री जयदयालशाहजी जैन	
६१	श्रीमती केसरबाई जैन	,,	७२	श्रीमती मलावीदेवी जैन	
६२	श्रीमती चन्द्रपतिजैन	,,	७३	श्रीमती खेमीबाई जैन	बम्बई
६३	बहिन महेन्द्रकुमारी	गुडगाँव	७४	श्रीमती अनारबाई लोहामडी आ०	

नोट—पाँच सौभाग्यवती बहिनो ने गुप्त रूप से सदस्यता स्वीकार करके अनुकरणीय और प्रशस्य आगम सेवा की है। समिति उनका सहर्ष धन्यवाद करती है।

उपरोक्त सदस्यो के फोटो पूर्व प्रकाशित सूत्रो मे छप चुके हैं। बहुत से सदस्यो के फोटो माँगने पर नही मिल पाए। और कई सदस्यो ने अपने फोटो प्रकाशित नही कराए। भविष्य मे चित्र छापने का विचार नही है क्योकि बार-बार चित्र देने से कागज और धन का सदुपयोग नही होता। यदि सदस्य चाहेगे तो पुन इस विषय मे विचार किया जा सकता है। शास्त्रमाला को व्यवस्थित और सुन्दर बनाने के लिए सदस्य अपने सुझाव दे सकते हैं।

—प्रकाशन समिति।

प्रशस्तिः

जिनेश श्रीवीरं कृतशबलशोभ चरणयो, विचित्रज्योतिर्भि विविधमणिरागै सुरुचिभि ।
स्पृहावद्भिः स्प्रष्टुञ्चरणकमले मौलिलगनै, मणीनां रोचिर्भिः सुरनृपकिरीटैः समणिभि ।।
भजन्नेको युक्तोऽखिल गृहिगुणैर्धर्मसहितैः, शुचि सुव्यापारे यतिचरणसेवी सुकुलवान् ।
अवात्सीत् सिंहान्तोऽमर इति सुनामामृतसरे, महार्घद्रव्याणां पणनधृतबुद्धिर्गृहपतिः ।।
अथैकस्मिन्काले प्रवचनमतेदत्तमतिना, इदं तेन ध्यात विरतरतिना लोकगतिषु ।
प्रवृत्तिः ससारे सुखशतहृतौ हेतुरुदिता, निवृत्तिस्तस्माद्वै शमसुखकरी तेन गदिता ।।
सपर्या सद्योगै सयमसुधियां क्षेमकरणी, तपश्चर्या घोरा सकलभवकर्मापहरणी ।
श्रुतस्याभ्यासेश विपुलमतिशोभ शुभकर—मधीता या विद्या स्मरणचरणे सा तु सुफला ।।
भविष्यामि त्यागी गुरुचरणवर्त्ती यतिरहम्, रतोज्ञाने ध्याने विजितविषय शान्तमदन ।
निमग्न सेवायां सुविपुलतपोलग्नवपुषा, स्वधीष्ये शास्त्राणि स्मृति-धृतिनिदिध्यासकरणैः ।।
गृहित्वा प्रव्रज्या समधिगतगुप्ति सुसमिति, मुनि सञ्जात स स्थविरमुनिषु प्रौढमतिल ।
प्रवृत्त शास्त्राणं पठनमनने धैर्य-चरण, सुसेवी पादाना गुरुचरणवर्ती विमलधी ।।
समुद्र शास्त्राणा स्थिरमनतिकालेन कृतवान्, तत स्वेसिद्धान्ते विपुलगहने धीरगतिमान् ।
अवाप्तं नैपुण्य परसमयशास्त्रेष्वपिपरम्, व्युपेत सपद्भि श्रमणगणशास्तु सुवदन ।।
दधानश्चातुर्य प्रवचन-कथाया बहुमत, सुशिष्यैर्धीमद्भि परिवृतशरीरो विचरति ।
गुणैस्तैराकृष्टैर्मुनिगृहिभिरादेयवचन, मिलित्वा सर्वैस्तैर्मुनिगणविधीश प्रकटित. ।।
प्रभुञ्जैनाचार्य मुनिममरसिंहाख्यमतुल, स्वशास्तार लब्ध्वा यतिगृहिगणा मोदमगमन् ।
चिरं शास्ता संघ जिनवचनवृत्ति सुचरितं, स्वधर्मे शैथिल्य सुयतिगृहिणां दूरमकरोत् ।।
प्रदेशे पञ्जावे परिविहरमाणेन गणिना, चिराख्य मिथ्यात्व परिहृतमशेष कुमतिजम् ।
प्रचार्यैवं धर्म परम-पदद जैनमभित., प्रसार्यैवं सङ्घाञ्जगति महती ख्यातिमगमत् ।।

श्रीरामवक्ष निजशिष्यवर्य, नियुक्तवान् स्वीयपदेऽन्तकाले ।
प्रदाय चाचार्यपद, सुरक्षाभरान्वितं प्रापमुद सुतोष ।।
सङ्घाग्रणीर्वररुचिवरधीर्मुनीश, रक्षापर सततसघशुभानुदर्शी ।
विद्वत्प्रकाण्डमुचितेन परिश्रमेण, स्वग्रे नयन्मुनिगण त्रिदिवंगत स ।।

अतो मोतीराम निजगणगणेश विहितवान्, वराचार्यः सत्सु प्रयुतगणिसम्पत्तिरमद ।
मनोज रूपेण प्रगुरुममराणां मतिधनै—रध कुर्वन्नासीन्मुनिगणसुरक्षा सततधी ।।

अवच्छेदात्पूर्व गण इति क इत्यन्तिमपद, यदास्यात्सम्मेल सुवरपदवीभूषणमणिः ।
गुणी वीरो धीरो मुनिपतिसुशिष्यो घनयम', सुधी. शान्तोदान्तो गणपति सुनामामुनिवर. ।।
सुशिष्यं तस्यापि शुभद जयरामाख्यमनघ, विदुर्लोकाधीर यमिवरमदोषं गुणगृहम् ।
तदीयान्तेवासी वरगुणगणालकृतशम, मुनिश्शालिग्राम सुगुरुरुचिमङ्क्तं तनिपुण ।।
सुनाम्नात्माराम क्रमगतसुशिष्यो वरगुरो—र्व्रतीह्यावालाद्य समुपचिततेजा वरयमी ।
सुगीतो विद्वद्भि परिविदितशास्त्रस्ततमतिः, कुले जात क्षात्रे परमकुलदीपो दिनमणिः ।।
माता शीलवती पतिव्रतपरा सेवारता प्रेमभाक्, नाम्नासापरमेश्वरी पतिकुलं वृद्धि नयन्ती मुदा
पुण्य सूनुमिम सुलक्षणयुत तेजस्विन सुन्दरम्, सार्द्ध प्रादुरभावयत्सुयसा पुञ्जीकृतश्रेयसम् ।।
वरेण्यस्तेजस्वी सुधनि-मनसारामतनुज, सुकान्त सौम्याभो लघुवयसि सम्प्राप्तविरतिः ।
प्रशस्त कोशज्ञैर्धृतविविधशब्दो निजमतौ, पुरी राहो नाम्नीमवतरणपूतां विहितवान् ।।
सदाभ्यासे लग्नो मननरुचिरासीदविवर सुपाठाञ्छास्त्राणामचिरपठितान्कण्ठमकरोत् ।
अखिन्न कालज्ञो पवनगतिराप्त समयवित्, परेषां शास्त्राणि स्मृतिपथमशेषान्यगमयत् ।।
महान्तोनेतार परमतुलविद्वासमविदु., महात्मा वीरात्मा प्रकृतिसरल पूजितपदः ।
सदा भक्तौ लीन परिविजितकामो वरधृति, मनीषी विख्यात समलभत कीर्ति सुकृतिकृत् ।।

पुरातनी भारतराजधानी दिल्लीतिनाम्ना प्रथिता पृथिव्याम् ।
निवासिन श्रावकभावुकाजना, रताजिनेशस्य पदाब्जभक्तौ ।।

एष वाग्मी तथा सम्यक् पण्डित. सर्वपूजित, तपस्वी मोहतमसश्छेत्तायं मुनिसत्तम ।
सूर्यवज्जैनसूत्राणा सम्यगर्थप्रकाशक इति ज्ञात्वा जनै प्रोक्तो जैन-धर्मदिवाकर. ।।
उपाध्याय पूर्व चिरमभवदध्यापिलमुनि, मुनीनामाचार्यस्तदनु यमिभिर्निश्चितकृत. ।
सुवेना नरवाना गणिगणसुसम्मानितपद, प्रधानाचार्यश्च श्रमणगणशास्तातदनु वै ।।
श्रद्धावन्तो विपुलधनिनो यूथबद्धा गृहस्था, रूप कान्त रुचिरममल भातिरस्कुर्वदर्कम् ।
दृष्ट्वा पुण्य मुदितमनसो वदमाना विनीताः, शान्तेर्लाभ स्तुतिपठनजं प्राप्नुवन्तिस्म कामम् ।।
एषा व्याख्या सरलसुगमा बोधयन्ती पदार्थान्, साद्योपान्ता सुविवृतियुता मोदहेतु सुवर्णा ।
प्राचार्यैर्वं रुचिरलिखिता तेन धीरात्मना सा, मिथ्यात्वान्ध निखिलमपहर्तुं समर्था सुकल्पा ।।
लभन्तां कल्याण भवजलधिपार जनगणा. अहं वन्दे भूयश्चरणयुगलं पद्मरुचिरम् ।
तपस्वी पुण्यात्मा सुविमलयशस्वी महगणी, मनस्वी योगीश किरतु सतत मङ्गलमहो ।।

प्रशस्यो यशस्वी तपस्वी मनीषी, समस्तागमानां पर पारदृश्वा ।
जनानां शुभस्योपदेष्टा मुनिर्यो, सदा तं गुरुं श्रीसमेतं नमामि ।।

आचार्यचरणकमलचञ्चरीकः—

प्रशिष्यो मुनिविक्रमः

प्रस्तावना

[लेखक—डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री]

प्राक्कथन

किसी ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखते समय हमारे सामने उसके दो रूप आते हैं—(१) वहिरङ्ग और (२) अन्तरङ्ग। वहिरङ्ग रूप का अर्थ है उस ग्रन्थ के रचना-काल, कर्त्ता, भापा, एव वाह्य आकार से सम्बन्ध रखने वाली अन्य वातो का निरूपण। उपासकदशाङ्ग सूत्र सातवाँ अङ्ग है और सभी अङ्ग सुधर्मा स्वामी की रचना माने जाते हैं। उनका निरूपण प्रस्तावना के पहले खण्ड मे किया जायेगा।

ग्रन्थ का दूसरा रूप अन्तरङ्ग है। इसका अर्थ है उसमे प्रतिपादित विषयो का निरूपण। उपासकदशाङ्ग मे दस आदर्श गृहस्थो का वर्णन है, जिन्हे श्रावक कहा जाता है। जैन धर्म मे श्रावक का पद जीवन की उस भूमिका को प्रकट करता है जहा त्याग और भोग, स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है, अत समाज रचना की दृष्टि से इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

उपासकदशाङ्ग मे ई० पू० ६०० का सास्कृतिक चित्र है। आनन्द का जीवन तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय पर प्रकाश डालता है। राजा, ईश्वर, तल्वर आदि नाम राज्याधिकारियो के परिचायक हैं। गोशालक का निर्देश धार्मिक स्थिति की ओर सकेत करता है। चम्पा, राजगृह आदि नगरियो तथा राजाओ के नाम मगध तथा आस पास के जनपदो का भौगोलिक परिचय देते हैं। इन सवका निरूपण विविध परिशिष्टो मे किया गया है।

प्रथम खण्ड

आगमो का संक्षिप्त परिचय

आदिकाल

महावीर से पहले का साहित्य—

जैन-साहित्य का प्राचीनतम रूप चोदह पूर्व माने जाते हैं। उनका परिचय आगे दिया जाएगा। यद्यपि इस समय कोई पूर्व उपलव्ध नही है, फिर भी उस साहित्य मे से उद्धृत या उस आधार पर रचे गए ग्रन्थ विपुल मात्रा मे आज भी विद्यमान हं।

पूर्वो की रचना का काल निश्चित रूप से नही वताया जा सकता। 'पूर्व' शव्द इस वात को सूचित करता है कि वे भगवान महावीर से पहले विद्यमान थे।

भगवती सूत्र मे जहाँ भगवान की परम्परा के साधुओ का वर्णन आता है, वहाँ उनके ग्यारह एव वारह अङ्ग पढने का- उल्लेख है और जहाँ उनसे पूर्ववर्ती परम्परा वाले साधुओ का वर्णन आता है वहाँ ग्यारह अङ्ग तथा पूर्वो के अध्ययन का निर्देश है। जिनभद्र ने तो यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि साधारण बुद्धि के लोगो के लिए चौदह पूर्वो मे से निकाल कर अङ्गो की रचना की गई। इन सव प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर से पहले का श्रुत-साहित्य ग्यारह अङ्ग तथा पूर्वो के रूप मे था। महावीर के पश्चात् कुछ समय तक वारह अङ्ग और चौदह पूर्व दोनो प्रकार का साहित्य चलता रहा। क्रमश पूर्व साहित्य लुप्त हो गया और अङ्ग-साहित्य पठन-पाठन मे चलता रहा। भगवान पार्श्वनाथ ईसा से ८५० वर्प पहले हुए। उनमे यदि ईसा के वाद की वीस शताव्दियाँ मिला दी जाएँ, तो कहा जा सकता है कि लगभग ३००० वर्प पहले जैन परम्परा मे पूर्व नाम का विपुल साहित्य विद्यमान था। उसका आदिकाल इतिहास की पहुँच से पहले का है। उसका माप वर्पो की सख्या द्वारा नही, किन्तु कालचक्र के युगो द्वारा ही किया जा सकता है।

भगवान महावीर के वाद का श्रुत-साहित्य अङ्ग, उपाग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक आदि मे विभक्त है। उसकी सख्या के विपय मे विभिन्न परम्पराएँ है,

जिनका परिचय आगे दिया जाएगा। उससे पहले यह जानने की आवश्यकता है कि जैन परम्परा मे शास्त्रीय ज्ञान का क्या स्थान है ?

जैन दर्शन मे ज्ञान के पॉच भेद किए गए हैं। शास्त्र या व्यक्ति द्वारा सीखी गई बातो को दूसरे भेद मे गिना गया है। इसका शास्त्रीय नाम है श्रुता-ज्ञान। इसका अर्थ है, सुना हुआ ज्ञान। ब्राह्मण परम्परा मे जो महत्व श्रुति या वेद का है, जैन-परम्परा मे वही महत्व श्रुतज्ञान को दिया गया है। किन्तु दोनो के दृष्टिकोण मे भेद हैं।

मीमासादर्शन वेद को अनादि मानता है। उसका कहना है कि वेद किसी का बनाया हुआ नही है। वह गुरु और शिष्य की परम्परा मे अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। उसकी परम्परा न कभी प्रारम्भ हुई और न कभी समाप्त होगी।

अन्य वैदिक-दर्शन वेद को अनादि नही मानते। वे उसे ईश्वर की रचना मानते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे ईश्वर ऋषियो को वेदो का सन्देश देता है। तत्पश्चात् ऋषि उनका प्रचार करते हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ मे इसी प्रकार वेद रचे जाते हैं।

जैन धर्म अपने आगमो को न अनादि मानता है और न ईश्वर की रचना। वह उन्हे ज्ञानी तथा चारित्र-सम्पन्न महापुरुषो की रचना मानता है। तीर्थकर उनका आशय अपने व्याख्यानो मे प्रकट करते हैं। शाब्दिक रचना गणधर करते हैं। वैदिक दर्शन वेदो की रचना के साथ जिस आधिदैविक तत्त्व को जोडते हैं, जैन दर्शन उसे नही मानता। वैदिक दर्शन परम्परा को इतना ऊँचा स्थान देते हैं कि वह मानव बुद्धि के लिए अगम्य हो जाती है। जैन दर्शन परम्परा को मानव बुद्धि की देन मानता है।

वैदिक परम्परा के अनुसार वेदो मे परिवर्तन करने का अधिकार किसी को नही है। किन्तु जैन परम्परा मे मानव का अधिकार छीना नही गया है। भगवान पार्श्वनाथ के समय आगमिक साहित्य चौदह पूर्वो मे विभक्त था। भगवान महावीर के समय उसे अङ्ग और उपागो मे बॉटा गया। पार्श्वनाथ का चतुर्याम धर्म था, महावीर ने पचयाम की स्थापना की। वस्त्र, प्रतिक्रमण तथा कई दूसरे विषयो मे सशोधन किया गया। उत्तराध्ययन के केशी-गौतम सवाद मे इन बातो का वर्णन

मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि जैन आगमो मे अपरिवर्तनीयता की कोई भावना नही रही। इतना ही नही, जीतकल्प के नाम से भिन्न-भिन्न समय मे आचार्यो द्वारा बनाई गई मर्यादाओ को भी आगमो मे स्थान मिलता रहा।

श्रुतज्ञान के विषय मे दूसरा प्रश्न है उसके प्रामाण्य का। मीमासा व वेदान्त-दर्शन वेद को स्वत प्रमाण मानते हैं। उनमे कही हुई बाते इसलिए प्रमाण नही हैं कि उनका कहने वाला कोई निर्दोष विद्वान है बल्कि इसलिए प्रमाण हैं कि वे वेद की बाते हैं। जैन दर्शन भी आगमो को प्रमाण मानता है, किन्तु वह इसलिए कि उनका कहने वाला निर्दोष है। वह जैसा जानता है वैसा कहता है। साथ ही उसका ज्ञान भी ठीक है, क्योकि अभी तक उसकी कोई बात झूठी नही उतरी। इस प्रकार जैनदर्शन और वैदिकदर्शनो के दृष्टिकोण मे मौलिक भेद है। दोनो परम्परा का सम्मान करते हैं, किन्तु एक उसे सर्वोपरि सत्य मानता है और दूसरा उसे विशिष्ट ज्ञानी का अनुभव बताता है। दोनो के अनुसार उसमे अक्षर या मात्रा का भी परिवर्तन नही हो सकता। यहाँ तक कि उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरो मे भी परिवर्तन करने पर पाप माना गया है।

जैन दर्शन मे एक और विशेषता है। वहाँ अर्धमागधी भाषा मे लिखे गए मूल ग्रन्थो को ही आगम नही माना गया, मूल के साथ अर्थ को भी आगम माना गया है। आचाराग आदि आगमो के अनुवाद भी आगम ही हैं। प्रतिक्रमण मे, जहाँ ज्ञान सम्बन्धी अतिचारो की चर्चा है, तीन प्रकार का आगम बताया गया है—सूत्रागम, अर्थागम तथा तदुभयागम।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि जैन आगमो मे परिवर्तन की गु जाइश है तो "हीणक्खर, अच्चक्खर, पयहीण, विणयहीण, जोगहीण, घोसहीण" आदि मे अक्षरो की न्यूनाधिकता तथा घोष परिवर्तन को दोष क्यो माना गया ? इसका उत्तर स्पष्ट है परिवर्तन की योग्यता होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को बिना जाने बूझे यह अधिकार नही है। शुद्ध उच्चारण न करना या बिना समझे बूझे मूल या अर्थ मे परिवर्तन कर देना तो दोष ही है। साधारण बातचीत मे भी उच्चारण, प्रासगिकता, दबाव आदि का ध्यान रखा जाता है। इसकी उपेक्षा करने पर वाणी का प्रभाव कम हो जाता है। इसी दृष्टि से यदि आगमो मे भी इन बातो को दोष बताया

गया है तो यह उचित ही है। विचारो का परिमार्जन और भाषा का सौष्ठव तो प्रत्येक बात के लिए आवश्यक है।

श्रुतज्ञान का व्यापक अर्थ है, साहित्य। वैदिक परम्परा मे वेदो को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विविध प्रयत्न किए गए। पदपाठ, घनपाठ, जटापाठ आदि के द्वारा वेदो के पाठ तथा उच्चारण को अब तक जो अक्षुण्ण रखा गया है, वह एक महान् आश्चर्य है। हजारो वर्षो से चली आ रही चीज को इस प्रकार स्थिर रखने का उदाहरण ससार मे दूसरी जगह नही मिलता। किन्तु जैन परम्परा ने इस विषय मे जिस विशाल हृदयता का परिचय दिया है, वह वैदिक परम्परा मे नही है। अध्ययन की दृष्टि से देखा जाए तो जैन आचार्यो ने वैदिकदर्शन तथा अन्य साहित्य मे जो रुचि दिखाई है वह तो वैदिक परम्परा मे नही दिखाई देती। जब हम शकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र सरीखे विद्वानो द्वारा किए गए जैनदर्शन के खण्डन को देखते है तो हँसी आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने जैनदर्शन का कोई ग्रन्थ उठाकर देखने का प्रयत्न ही नही किया। कुछ जैन आचार्यो ने भी वैदिकदर्शनो को विना समझे ही उसका खण्डन कर दिया है, किन्तु सिद्धसेन दिवाकर, अकलक, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा यशोविजय उपाध्याय आदि अनेक विद्वान ऐसे है जिनके विषय मे यह बात नही कही जा सकती। उन्होने वैदिक-दर्शनो को विधिपूर्वक पढा है और पूर्वपक्ष के रूप मे अच्छी तरह लिखा है। वैदिकदर्शनो मे ऐसा एक भी आचार्य नही मिलता। ब्राह्मण पण्डितो मे अब भी यह धारणा बद्धमूल है कि नास्तिक ग्रन्थो को नही पढना चाहिए।

जैन परम्परा मे दूसरी बात ग्रन्थ-भण्डारो की है। जेसलमेर, पाटण आदि के ग्रन्थ-भण्डार भारतीय सस्कृति की अमूल्य निधि है। वहाँ केवल जैन ही नही, बौद्ध तथा वैदिक ग्रन्थो का भी इतना अच्छा सग्रह मिला है जिनके आधार पर ही उन ग्रन्थो का सरक्षण किया जा सका है। वैदिक परम्परा मे इस प्रकार के भण्डार सुनने मे नही आए। कुछ भण्डार राज्याश्रित है किन्तु उनमे भी प्राचीन साहित्य कम है और मध्यकालीन अधिक।

जैन भण्डार और साहित्य ने भारतीय इतिहास के निर्माण मे महत्वपूर्ण योग दिया है। विण्टरनिज के शब्दो मे वहाँ उन्हे इतिहास की प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध हुई है।

किन्तु उन के सरक्षको द्वारा ग्रन्थ सरक्षण की यह परम्परा आगे जाकर ग्रन्थगोपन के रूप मे परिणत हो गई। ग्रन्थो का पठन-पाठन कम हो गया और उन्हे छिपा कर रखा जाने लगा। उन्हे अपरिचित व्यक्ति को दिखाते हुए भी सकोच होने लगा। सम्भव है मुस्लिम शासन मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई हो, जिससे बाध्य हो कर ऐसा करना पडा।

किन्तु यह प्रवृत्ति अग्रेजो के शासन मे भी चलती रही। परिणामस्वरूप जैन-ग्रन्थो का प्रचार बहुत कम हो पाया।

पूर्वो का परिचय

महावीर के बाद का आगम-साहित्य अङ्गप्रविष्ट तथा अनगप्रविष्ट के रूप मे विभक्त हुआ। अङ्गो मे बारहवाँ दृष्टिवाद है। उसके विविध अध्यायो मे १४ पूर्व भी आ जाते हैं। इस प्रकार एक ओर अङ्ग साहित्य की उत्पत्ति पूर्वो से बताई जाती है, दूसरी ओर बारहवे अङ्ग मे सभी पूर्वो का समावेश किया जाता है। इस विरोधाभास का निराकरण इस प्रकार होता है—भगवान महावीर के बाद पूर्वो के आधार पर अङ्गो की रचना हुई। किन्तु पार्श्वनाथ के साधुओ मे पूर्वो की परम्परा लुप्त हो गई थी, सिर्फ ११ अङ्ग सूत्र ही रह गए थे, जब वे महावीर के शासन मे सम्मिलित हो गए तो उनके साहित्य को भी अङ्गो मे सम्मिलित कर लिया गया।

यहाँ एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि चौदह पूर्वो के ज्ञाता को श्रुत केवली कहा गया है। अर्थात् चौदह पूर्व जान लेने के बाद शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण हो जाता है। फिर अन्य अङ्ग साहित्य को पढने की आवश्यकता नही रहती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ११ अङ्गो मे प्रतिपादित ज्ञान पूर्वो से ही शब्दत या अर्थत उद्धृत किया गया।

शीलाकाचार्य ने आचाराग की टीका मे पूर्वो को सिद्धसेन कृत सन्मति तर्क के समान द्रव्यानुयोग मे गिना है। इसका अर्थ यह है कि पूर्वो का मुख्य विषय जैन मान्यताओ का दार्शनिक पद्धत्ति से प्रतिपादन रहा होगा। प्रत्येक पूर्व के अन्त मे प्रवाद शब्द और उनका दृष्टिवाद मे समावेश भी इसी बात को प्रकट करता है। पूर्वो के परिमाण के विषय मे पौराणिक मान्यता है कि अम्बारी सहित खडे हाथी

को ढकने मे जितनी स्याही लगती है उतनी स्याही मे एक पूर्व लिखा जायेगा। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्रार्थ मे जिन युक्तियो का प्रयोग किया जाता था उनका परिमाण विशाल था। दृष्टिवाद तथा पूर्वो का सस्कृत-भाषा मे होना भी इसी बात की पुष्टि करता है कि उनका प्रयोग विद्वत्सभा मे होता होगा।

भगवान महावीर को भी कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् कुछ समय तक विद्वानो से शास्त्रार्थ करना पड़ा। उनकी तत्कालीन वाणी भी पूर्व साहित्य मे सम्मिलित करली गई होगी।

किन्तु महावीर को विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ की यह प्रणाली पसन्द नही आई, उन्होने इसे व्यर्थ का वाग्जाल समझा। परिणामस्वरूप सर्वसाधारण मे उपदेश देना प्रारम्भ किया और उसके लिए जनता की बोली अर्धमागधी को अपनाया। अब भगवान का उपदेश पडितो को पराजित करने के लिए नही होता था। उनका ध्येय था जन-साधारण को धर्म के तत्त्व से अवगत कराना। जैन परम्परा मे यह दृष्टिकोण अब तक विद्यमान है। उस समय उन्होने जो उपदेश दिये वे अङ्ग-साहित्य मे उपनिबद्ध हुए। उनमे दार्शनिक भूमिका होने पर भी शैली पूर्णतया जनपदीय थी। इसलिए जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है कि स्त्री तथा सर्वसाधारण के लिए पूर्वो के आधार पर द्वादशागी की रचना हुई।

अब हम दृष्टिवाद मे पूर्व साहित्य के सन्निविष्ट होने के प्रश्न को लेते हैं। नन्दी सूत्र मे जहाँ दृष्टिवाद के उपकरणो का उल्लेख है वहा 'पूर्वगत' शब्द आया है। इसका अर्थ यह है कि दृष्टिवाद का वह प्रकरण पूर्व साहित्य के आधार पर रचा गया या उसका सार रहा होगा। पूर्व मे जिन विषयो तथा मत-मतान्तरो को लेकर विस्तृत चर्चा रही होगी, इसमे इन्ही का सक्षिप्त परिचय रहा होगा।

अब हमारे सामने प्रश्न आता है पूर्व साहित्य तथा दृष्टिवाद के लोप का। यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर स्वामी के बाद एक हजार वर्ष तक जैन परम्परा का मुख्य लक्ष्य आत्मसाधना, चारित्र-विकास तथा साधारण जनता मे प्रचार रहा है। मतमतान्तरो के खण्डन-मण्डन तथा विद्वानो मे प्रयुक्त सस्कृत भाषा की ओर जैन मुनियो ने विशेष ध्यान नही दिया। खडन मडन को कोरा वाग्जाल समझ कर जन मानस तक पहुँचने के लिए स्थानीय बोलियो को अपनाया, तत्कालीन

जैन साहित्य मे शास्त्रार्थ पद्धति तथा हेतुविद्या सम्वन्धी उल्लेख आते हैं, इससे यह तो नही कहा जा सकता कि जैन आचार्य उनसे अनभिज्ञ थे, किन्तु उनकी स्वाभाविक रुचि दूसरी ओर थी। अत पूर्वो तथा दृष्टिवाद के अध्ययन अध्यापन का क्रम टूट गया, तथा काल की गति के अनुसार धारणाशक्ति भी धीरे-धीरे क्षीण होती चली गई, जिससे समग्र पूर्व साहित्य और दृष्टिवाद का व्यवच्छेद हो गया। इस बात को प्रमाणित करने के लिए भगवती सूत्र मे आया हुआ भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद पर्याप्त स्पष्टीकरण करता है। गौतम के प्रश्न के उत्तर मे भगवान महावीर ने स्वय प्रतिपादन किया है कि मेरे प्रवचन सम्वन्धी पूर्वो का ज्ञान एक हजार वर्ष तक विद्यमान रहेगा।

श्वेताम्वर तथा दिगम्बर परम्पराओ के अनुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रवाहु स्वामी थे। भद्रवाहु का स्वर्गवास वीरनिर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। उन्ही के साथ चतुर्दश पूर्वधर या श्रुतकेवली का लोप हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार यह लोप वीरनिर्वाण के १६२ वर्ष वाद माना जाता है। इस प्रकार दोनो मे ८ वर्ष का अन्तर है।

आचार्य भद्रवाहु के बाद दस पूर्वधरो की परम्परा चली। उसका अन्त आर्यवज्र स्वामी के साथ हुआ। उनकी मृत्यु वीरनिर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात् अर्थात् ११४ वि० मे हुई। दिगम्वर मान्यतानुसार अन्तिम दश पूर्वधर धरसेन हुए और उनकी मृत्यु वीरनर्वाण के २४५ वर्ष पश्चात् हुई। श्रुतकेवली के सम्वन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्वर मान्यताओ मे विशेष अन्तर नही है। दोनो की मन्यताओ मे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रवाहु थे। उस समय मे भी केवल ८ वर्ष का अन्तर है। इसका अर्थ यह है कि उस समय तक दोनो परम्पराएँ प्राय एक थी। किन्तु दसपूर्वधर के विषय मे नाम का भेद है और समय मे भी २३९ वर्ष का भेद है। दिगम्वर परम्परानुसार भद्रवाहु के बाद दस पूर्वधरो की परम्परा केवल १८३ वर्ष रही। श्वेताम्वरो के अनुसार यह परम्परा ४१४ वर्ष तक चलती रही।

आर्यव्रज के पश्चात् आर्यरक्षित हुए। वे ९ पूर्व सम्पूर्ण और दसवे पूर्व के २४ यविक जानते थे। ज्ञान का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। आर्यरक्षित के शिष्यो मे केवल दुर्वलिका पुष्यमित्र नौ पूर्व सीख सके किन्तु वे भी अनाभ्यास के कारण नवम पूर्व को भूल गए। वीर-निर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् पूर्वो का ज्ञान सर्वथा

लुप्त हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार यह स्थिति वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् हो गई।

पूर्वाश्रित साहित्य—

पूर्वो के लुप्त हो जाने पर भी उनके आधार पर बना हुआ या उनमे से उद्धृत साहित्य पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है। इस प्रकार के साहित्य को निर्यूहित (प्रा०-णिज्जूहिय) कहा गया है। इस प्रकार के ग्रन्थो के कुछ नाम निम्नलिखित हैं—

	ग्रन्थ का नाम	पूर्व का नाम
१	उवसग्गहरथोत	अज्ञात
२	ओहणिज्जुत्ति	पच्चक्खाणप्पवाय
३	कम्मपयडी	कम्मप्पवाय
४	प्रतिष्ठाकल्प	विज्जप्पवाय
५	स्थापनाकल्प	
६	सिद्धप्राभृत	अग्गाणीय
७	पज्जोयाकप्प	
८	धम्मपण्णत्ति	आयप्पवाय
९	वक्कसुद्धि	सच्चप्पवाय
१०	दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन	पच्चक्खाणप्पवाय
११	परिसहज्झयण	कम्मप्पवाय
१२	पचकप्प	अज्ञात
१३	दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार	पच्चक्खाणप्पवाय
१४	महाकप्प	अज्ञात
१५	निशीथ	पच्चक्खाणप्पवाय
१६	नयचक्र	नाणप्पवाय
१७	सयग	अज्ञात
१८	पचसग्रह	अज्ञात
१९	सत्तरिया (कर्मग्रन्थ)	कम्मप्पवाय
२०	महाकर्मप्रवृत्ति प्राभृत	

२१ कषायप्राभृत — अग्गाणीय

२२ जीवसमास — अज्ञात

दिगम्बरो मे आगम रूप से माने जाने वाले षट्खण्डागम और कषायप्राभृत भी पूर्वो से उद्धृत कहे जाते हैं।

चौदह पूर्वो के नाम तथा विषय—

१. उत्पाद–द्रव्य तथा पर्यायो की उत्पत्ति।

२ अग्रायणीय–सब द्रव्यो तथा जीवो के पर्यायो का परिमाण। अग्र का अर्थ है परिमाण और अयन का अर्थ है परिच्छेद।

३ वीर्यप्रवाद–सकर्म एव अकर्म जीव तथा पुद्गलो की शक्ति।

४ अस्तिनास्तिप्रवाद–धर्मास्तिकाय आदि वस्तुएँ स्वरूप से हैं और पररूप से नही हैं, इस प्रकार स्याद्वाद का वर्णन।

५ ज्ञान प्रवाद–मति आदि पाँच ज्ञानो का स्वरूप एव भेद प्रभेद।

६ सत्य प्रवाद–सत्य, सयम अथवा सत्य वचन और उसके प्रतिपक्ष असत्य का निरूपण।

७ आत्म प्रवाद–जीवन का स्वरूप विविध नयो की अपेक्षा से।

८ कर्म प्रवाद या समय प्रवाद–कर्मो का स्वरूप भेद प्रभेद आदि।

९ प्रत्याख्यान प्रवाद–व्रत नियमो का स्वरूप।

१० विद्यानुप्रवाद–विविध प्रकार की आध्यात्मिक सिद्धियाँ और उनके साधन।

११ अवन्ध्य–ज्ञान, तप, सयम आदि का शुभ एव पाप कर्मो का अशुभ फल। इसे कल्याणपूर्व भी कहा जाता है।

१२ प्राणायु–इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, मन आदि प्राण तथा आयुष्य।

१३ क्रिया विशाल–कायिक, वाचिक आदि विविध प्रकार की शुभाशुभ क्रियाएँ।

१४ विन्दुसार–लोक-बिन्दुसार लब्धि का स्वरूप एव विस्तार।

पूर्व साहित्य इस वात का द्योतक है कि जैन परम्परा महावीर से पहले भी विद्यमान थी और उस समय उसके पास विशाल साहित्य था।

वर्तमान-आगम

जैन परम्परा के अनुसार श्रुत-साहित्य का प्रारम्भ त्रिपदी मे होता है। तीर्थंकर भगवान तीन पदो का उच्चारण करते हैं और गणधर उसी बीज को लेकर विशाल श्रुत-साहित्य की रचना करते हैं। वह त्रिपदी निम्नलिखित है--

"उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।"

अर्थात् प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर रहती है। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश वस्तु का लक्षण है। इसी सूत्र का विस्तार विशाल जैन-दर्शन है।

भगवान महावीर की परम्परा मे उपरोक्त त्रिपदी का विस्तार करके सुधर्मा स्वामी ने बारह अङ्गो की रचना की।

(१) आचाराङ्ग	(७) उपासकदशाङ्ग
(२) सूत्रकृताङ्ग	(८) अन्तकृद्दशा
(३) स्थानाङ्ग	(९) अनुत्तरोपपातिक
(४) समवायाङ्ग	(१०) प्रश्न व्याकरण
(५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)	(११) विपाक
(६) ज्ञाताधर्म कथा	(१२) दृष्टिवाद

कालक्रम से बारहवे दृष्टिवाद का लोप हो गया। शेष अङ्ग भी अपने मूल रूप मे उपलब्ध नही हैं, फिर भी ये महावीर की मौलिक परम्परा के प्रतीक हैं। दिगम्बर परम्परा मे यह माना जाता है कि मूल आगम सर्वथा लुप्त हो गए और इस समय जो उपलब्ध हैं वे भगवान महावीर के ९८० वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणी के सकलित किए हुए हैं।

गणधरो के बाद चौदह पूर्वो का ज्ञान रखने वाले मुनिवरो ने जो कुछ लिखा वह आगमो मे सम्मिलित कर लिया गया। जैन परम्परा मे चौदह पूर्वधारी को श्रुत-केवली कहा जाता है अर्थात् वह सम्पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान का धारक होता है।

इसके बाद सम्पूर्ण दस पूर्वो का ज्ञान रखने वाले मुनियो ने जो कुछ लिखा उसे भी आगमो मे स्थान दे दिया गया। कहा जाता है--दस पूर्वो का ज्ञान सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त कर सकता है। मिथ्यादृष्टि दसवे पूर्व को पूरी तरह नही जान सकता।

दस पूर्वधारी का सम्यग्दृष्टि होना अनिवार्य है, इसलिए उसके द्वारा रचा गया साहित्य भी आगम कोटि मे आ गया।

पूर्वो का ज्ञान लुप्त होने के बाद जो साहित्य रचा गया, उसे भी आगमो मे स्थान मिला। इस प्रकार हम देखते है कि वीर-निर्वाण के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक नए प्रकरण रचे गए और उन्हे आगमो मे स्थान भी मिलता गया। यह कार्य नीचे लिखी तीन वाचनाओ मे हुआ।

तीन वाचनाएँ

पाटलिपुत्र परिषद् (वी० नि० १६०)—

भगवान महावीर के १६० वर्ष पश्चात् मगध मे बारह वर्ष का भयकर दुर्भिक्ष पडा। साधुओ को आहार-पानी मिलना कठिन हो गया। ये इधर-उधर बिखर गए। उनके साथ आगमो का ज्ञान भी छिन्न-भिन्न हो गया।

दुर्भिक्ष का अन्त होने पर समस्त सघ एकत्रित हुआ और आगमो को सुरक्षित रखने पर विचार हुआ। जिस मुनि को जितना स्मरण था, उसने कह सुनाया। इस प्रकार ११ अङ्ग तो सुरक्षित हो गए किन्तु बारहवाँ दृष्टिवाद किसी को याद न निकला। उस समय आर्य भद्रबाहु ही चौदह पूर्वो के ज्ञाता थे और वे योग साधना के लिए नैपाल गए हुए थे। सघ ने श्रुत-रक्षा के लिए स्थूलभद्र तथा अन्य पाँच सौ साधुओ को उनके पास भेजा। भद्रबाहु महाप्राण नामक ध्यान मे लगे हुए थे। इसलिए अध्यापन के लिए समय कम मिलता था। ऊब कर दूसरे साधु तो वापिस चले आए किन्तु स्थूलभद्र वहाँ रह गए। उन्होने सेवा एव परिश्रम द्वारा दस पूर्वो का ज्ञान प्राप्त कर लिया। किन्तु शेष चार पूर्वो को केवल मूलमात्र सीख सके। उसके लिए भी दूसरो को सिखाने की मनाही थी। इस प्रकार भगवान महावीर के दो सौ वर्ष पश्चात् श्रुतज्ञान का ह्रास प्रारम्भ हो गया। वी० नि० १९१ मे आर्यसुहस्ति के समय भी राजा सम्प्रति के राज्य मे दुर्भिक्ष पडा। ऐसे सकटो के समय श्रुतज्ञान का ह्रास स्वाभाविक था।

पाटलिपुत्र वाचना का विस्तृत वर्णन तित्थोगाली पइण्णय, आवश्यकचूर्णि और

हेमचन्द्र के परिशिष्ट और आदि-पर्वों मे मिलता है। तित्थोगालीय का साराश निम्नलिखित है—

भगवान महावीर के बाद सातवे पुरुष चौदह पूर्वधारी भद्रबाहु हुए, जिन्होने बारह वर्ष तक योगमार्ग का अवलम्बन किया और सूत्रार्थ की निबन्धो के रूप मे रचना की।

उस समय मध्यप्रदेश मे प्रबल अनावृष्टि हुई। इस कारण साधु दूर देशो मे चले गए। कोई वैताढच पर्वत की गुफाओ मे, कोई नदियो के तट पर और कोई समुद्र के तट पर जाकर सयमी जीवन बिताने लगे। सयम मे दोप लगने से डरने वाले कुछ साधुओ ने अन्न-जल का परित्याग करके अन्तिम सलेखना व्रत ले लिया।

बहुत वर्षो बाद जब दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तो बचे हुए साधु फिर मगध देश मे आ पहुँचे और चिरकाल के पश्चात् एक दूसरे को देखकर अपना नया जन्म मानने लगे।

इसके बाद साधुओ ने परस्पर पूछ-ताछ कर ग्यारह अङ्ग सकलित किए, पर दृष्टिवाद का जानने वाला कोई न मिला। वे कहने लगे—पूर्वश्रुत के बिना हम जिन-प्रवचन का सार कैसे समझ सकेगे ? हाँ, चौदह पूर्वो के ज्ञाता आर्य भद्रबाहु इस समय भी विद्यमान है। उनके पास से इस समय भी पूर्वश्रुत प्राप्त हो सकता है। परन्तु उन्होने बारह वर्ष के लिए योग धारण कर रखा है, इसलिए वाचना देगे या नही, यह सदेहास्पद है। इसके बाद श्रमण-सघ ने अपने दो प्रतिनिधि भेजे और भद्रबाहु से प्रार्थना की—"पूज्य क्षमाश्रमण ! वर्तमान समय मे आप जिन-तुल्य है। पाटलिपुत्र मे "महावीर का सघ" आपसे प्रार्थना करता है कि आप श्रमण-सघ को पूर्वश्रुत की वाचना दे।"

प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—"श्रमणो ! मै इस समय वाचना देने मे असमर्थ हूँ। आध्यात्मिक साधना मे व्यस्त होने के कारण मुझे वाचना से कोई प्रयोजन भी नही है।"

भद्रबाहु के उत्तर से नाराज होकर स्थविरो ने कहा—"क्षमाश्रमण ! इस प्रकार प्रयोजन का अभाव बता कर आप सघ की अवज्ञा कर रहे है। इस पर आपको क्या दण्ड मिलेगा, यह विचार कीजिए।"

भद्रबाहु ने कहा—"मैं जानता हूँ, इस प्रकार बोलने वाले का सघ बहिष्कार कर सकता है।"

स्थविर बोले—"आप यह जानते हुए भी सघ की प्रार्थना का अनादर करते हैं ? आप ही बताइये, हम आपको सघ के अन्दर कैसे रख सकते हैं ? क्षमाश्रमण ! हमने आपसे प्रार्थना की किन्तु आप वाचना देने के लिए तैयार नही हुए। इसलिए आज से आप सघ से पृथक् कर दिए गए। बारह मे से किसी प्रकार का व्यवहार आपके साथ न रखा जाएगा।"

भद्रबाहु यशस्वी पुरुष थे। अपयश से डरते थे। जल्दी सम्भल गए और बोले—"श्रमणो ! मैं एक शर्त पर वाचना दे सकता हूँ। वह यह है कि वाचना लेने वाले मुझे न बुलावे और मैं उनको न बुलाऊँ। यदि यह स्वीकार है तो कायोत्सर्ग का ध्यान पूरा होने के बाद, यथा अवकाश मैं वाचना दे सकूँगा।"

भद्रबाहु की शर्त को स्वीकार करते हुए स्थविरो ने कहा—"क्षमाश्रमण ! जैसा आप कहेगे और जैसी आपकी इच्छा है हम मानने को तैयार हैं।"

इसके बाद ग्रहण और धारण मे समर्थ बुद्धिशाली ५०० साधु विद्यार्थी के रूप मे और प्रत्येक की सेवा-सुश्रूषा के लिए दो-दो साधु इस प्रकार १५०० साधु भद्रबाहु स्वामी के पास पहुँचे।

वाचना की इच्छा से इतने साधु वहाँ पहुँच तो गए किन्तु कठिनाई मे पड गए। भद्रबाहु ने वाचना का जो क्रम रखा उससे उन्हे सन्तोष नही हुआ। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे वे विदा होने लगे और अन्त मे केवल स्थूलभद्र रह गए। एक पद, आधा पद जो कुछ भी मिलता वे नम्रतापूर्वक सीख लेते किन्तु हताश होकर छोडने को तैयार नही हुए। इस प्रकार रहते-रहते आठ वर्षो मे स्थूलभद्र ने आठ पूर्वो का अध्ययन कर लिया। इसके बाद भद्रबाहु की योग साधना पूरी होगई और उन्होने सर्वप्रथम स्थूलभद्र से सम्भाषण करते हुए पूछा—"भद्र ! तुम्हे भिक्षा और स्वाध्याय योग मे किसी प्रकार का कष्ट तो नही है ?"

स्थूलभद्र ने कहा—"मुझे कोई कष्ट नही है। मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। अब तक मैंने कितना सीख लिया और अभी कितना शेष है ?"

भद्रबाहु ने कहा—"अभी तक तुमने सरसो के दाने जितना सीखा है, और मेरु जितना शेष है।"

स्थूलभद्र तनिक भी विचलित या हतोत्साह नही हुए । फिर बोले—"भगवन् ! मै अध्ययन से थका नही हूँ । मन मे एक ही विचार आता है कि अपने इस अल्प जीवन मे उस मेरु तुल्य श्रुतज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकूगा ?"

स्थूलभद्र का विचार सुनकर स्थविर भद्रबाहु ने कहा—"स्थूलभद्र ! अब तुम इस विषय की चिन्ता मत करो । मेरा ध्यान पूर्ण हो गया है और तुम बुद्धिमान हो । मैं दिन-रात वाचना देता रहूँगा, इससे दृष्टिवाद पूर्ण हो जाएगा ।"

स्थूलभद्र प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने लगे और उन्होने दस पूर्व सागोपाग सीख लिए ।

एक दिन स्थूलभद्र एकान्त मे बैठकर ग्यारहवा पूर्व याद कर रहे थे । उस समय उनकी सात बहने भद्रबाहु के पास वन्दनार्थ, आई और स्थूलभद्र के विषय मे पूछने लगी । भद्रबाहु ने स्थान बता दिया । उधर स्थूलभद्र पूर्वो मे प्रतिपादित यन्त्र-विद्या का परीक्षण कर रहे थे । इसलिए वे सिह का रूप बनाकर बैठ गए । साध्वियाँ सिह को देख कर डर गई, वापिस लौट आई और भद्रबाहु से कहने लगी—"क्षमा-श्रमण ! आपने जो स्थान बताया वहाँ स्थूलभद्र नही हैं । उनके स्थान पर विकराल सिह बैठा हुआ है । न जाने स्थूलभद्र का क्या हुआ !"

भद्रबाहु ने कहा—"आर्यिकाओ, ! वह सिह तुम्हारा भाई स्थूलभद्र ही है ।"

आचार्य के वचन सुनकर साध्वियाँ फिर वहाँ गई तो स्थूलभद्र को बैठा पाया ।

बहनो को विदा करके स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास वाचना लेने गए । भद्रबाहु ने कहा—"अनगार! जो तुमने पढा है वही बहुत है । तुम्हे आगे पढने की आवश्यकता नही है । गुरु के वचन से स्थूलभद्र को अपनी भूल का ख्याल आया । वे पश्चात्ताप करने लगे और गुरु के चरणो मे गिरकर अपराध के लिए क्षमा मागने लगे । गच्छ के दूसरे साधुओ ने भी स्थूलभद्र की इस भूल को क्षमा करके आगे की वाचना देने के लिए प्रार्थना की ।

स्थूलभद्र और श्रमण-सघ की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—"श्रमणो ! इस विषय मे अधिक आग्रह मत करो । मै वाचना क्यो नही देना चाहता, इसका विशेष कारण है । मैं स्थूलभद्र के दोष के कारण नही किन्तु भविष्य का विचार करके शेष पूर्वो का अध्ययन बन्द करना चाहता हूँ । जब स्थूलभद्र सरीखा त्यागी भी श्रुतज्ञान का दुरुपयोग करने के लिए तैयार हो गया तो दूसरो की बात ही

क्या है ? श्रमणो ! उत्तरोत्तर विषम समय आ रहा है। मानसिक एव आध्यात्मिक शक्तियो का ह्रास हो रहा है। मनुष्य की क्षमता एव गभीरता नष्ट हो रही है। ऐसी स्थिति मे शेष पूर्वो का प्रचार करना कुशलदायी नही है।"

आचार्य का यह उत्तर सुन कर स्थूलभद्र दीनता पूर्वक बोले—"भगवन् ! अब कभी दुरुपयोग नही करूँगा। आप जसा कहेगे सभी नियमो का पालन करूँगा। कृपया मुझे तो शेष चार पूर्व बता ही दीजिए।"

अति आग्रह के वश हो कर भद्रबाहु ने कहा—"स्थूलभद्र ! विशेष आग्रह है तो मैं शेष पूर्व तुम्हे बता दूगा। पर उन्हे दूसरो को पढाने की अनुज्ञा नही दूगा। तुम्हे यह अनुज्ञा केवल दस पूर्वो के लिए मिलेगी। शेष चार पूर्व तुम्हारे साथ ही समाप्त हो जाएँगे।" इस प्रकार अतिम चार पूर्व विछिन्न हो गए।

भद्रबाहु और स्थूलभद्र की उपरोक्त घटनाएँ कई महत्वपूर्ण बातो को प्रकट करती हैं। इनसे प्रतीत होता है कि—१ उस समय सघ का सगठन इतना दृढ था कि भद्रबाहु सरीखे समर्थ महापुरुष भी उसकी अवहेलना नही कर सकते थे सघ का कार्य आत्म-साधना से भी बढ कर माना जाता था।

२ ग्यारह अगो के होते हुए भी पूर्वो को विशेष महत्व दिया जाता था। इसका कारण उनका सूक्ष्म विचार रहा होगा।

३ साधु के लिए लौकिक विद्याओ का उपयोग वर्जित था।

४ ज्ञान-दान करते समय योग्यायोग्य पात्र का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था।

माथुरी वाचना (वी० नि० ८२७-८४०)

जैन आगमो का सकलन करने के लिए दूसरी वाचना वीर-निर्वाण के बाद ८२७ और ८४० के बीच मथुरा मे हुई। इसीलिए यह माथुरी वाचना कही जाती है। इसके सयोजक आचार्य स्कन्दिल थे। वे पादलिप्त सूरि के कुल मे विद्याधर गच्छ के आचार्य थे। आर्यसुहस्ति के शिष्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध हुए उनके चार शिष्यो ने चार गच्छ चलाए। द्वितीय शिष्य विद्याधरगोपाल ने विद्याधर गच्छ की स्थापना की। उस परम्परा मे खपटाचार्य और पादलिप्त सूरि भी हुए। युग-प्रधान पट्टावली मे इनका युग इस प्रकार बताया गया है वज्र (वर्ष) आर्यरक्षित (१३ वर्ष) पुष्पमित्र (२० वर्ष) वज्रसेन (३ वर्ष) नागहस्ती (६९ वर्ष) रेवती-मित्र (५९ वर्ष) ब्रह्मदीपकसिंह (७८ वर्ष) स्कन्दिल (१३ वर्ष)।

जिस प्रकार भद्रवाहु के समय दुर्भिक्ष के कारण श्रुत परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई थी, उसी तरह आचार्य स्कन्दिल के समय भी दुष्काल के कारण आगमो का ज्ञान अस्तव्यस्त हो गया। वहुत से श्रुतधर स्थविर परलोकवासी हो गए। अवशिष्ट श्रमणो मे भी पठन-पाठन की प्रवृत्ति वन्द हो गई। आचार्य स्कन्दिल ही एक श्रुतधर वचे थे। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर उनकी अध्यक्षता मे मथुरा मे श्वेताम्वर श्रमण-सघ एकत्रित हुआ और आगमो को व्यवस्थित करने मे लग गया। उनको जितना पाठ याद था, उतना लिख लिया गया। इस प्रकार सारा पाठ लिख लेने के वाद आर्य स्कन्दिल ने साधुओ को उसकी वाचना दी। इसको स्कन्दिली-वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी वाचना का वर्णन आचार्य मलयगिरि की नन्दी-टीका, ज्योतिषकरण्ड की टीका, भद्रेश्वर की कथावली और हेमचन्द्र के योगशास्त्र मे मिलता है। कहा जाता है कि उस समय कालिक-श्रुत और अवशिष्ट पूर्व-श्रुत को सगठित किया गया। माथुरी वाचना से नीचे लिखी महत्वपूर्ण वाते मालूम पडती हैं—

१ उन दिनो जैनधर्म का केन्द्र मगध से हट कर मध्यदेश मे आ गया था। सम्भवतया दुर्भिक्षो के कारण ऐसी स्थिति आई हो और मगध के दुर्भिक्ष के कारण वहुत से साधु इधर चले आए हो और वही विचरने लगे हो।

२ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की मान्यता है कि मथुरा ई० पू० द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा के वाद ग्यारहवी शताब्दी तक लगभग १३०० वर्ष जैन धर्म का महत्व पूर्ण केन्द्र रहा है। (देखो श्रमण अगस्त १९५३) ककाली टीले मे जैन-स्तूप या स्थापत्य के जो अन्य अवशेष मिले हैं वे तो ई० पू० छठी शताब्दी अर्थात् भगवान महावीर के समकालीन हैं। किन्तु शिलालेख प्राय ई० पू० द्वितीय शताब्दी से पश्चाद्वर्ती हैं। इससे जैन परम्परा की यह वात पुष्ट होती है कि भगवान महावीर के समय जैन धर्म वहुत अधिक फैला हुआ था।

३ वीर-निर्वाण के ३०० वर्ष वाद मौर्य राजा वृहद्रथ को मार कर उसका सेनानी पुष्यमित्र मगध के सिहासन पर वैठ गया। वह केवल वैदिक धर्म का अनुयायी ही नही था, अन्य धर्मो से द्वेष भी करता था। नन्द और मौर्य राजाओ ने अपने २ धर्म मे निष्ठा के साथ अन्य धर्मो का उचित सत्कार किया। अशोक और सम्प्रति ने तो वौद्ध और जैन धर्म के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए। पुष्यमित्र ने

उनके द्वारा वनाए हुए सघाराम और उपाश्रयो को नष्ट करके जैन एव बौद्ध भिक्षुओ को भगाना आरम्भ किया। उसने साधुओ पर कर लगाया और उनके कपडे उतरवा लिए। सम्भवतया उसी समय मगध जैन एव बौद्ध श्रमणो से शून्य हो गया।

वल्लभी वाचना (वी० नि० ८३० के लगभग)

जिस समय मथुरा मे आर्य स्कन्दिल ने आगामोद्धार करके उनकी वाचना शुरु की उसी समय नागार्जुन सूरि ने वल्लभी नगरी (सौराष्ट्र) मे श्रमण-सघ एकत्रित किया। और दुर्भिक्ष के वाद वचे हुए आगमो का उद्धार किया। वाचक नागार्जुन एव अन्य श्रमणो को जो जो आगम अथवा प्रकरण ग्रन्थ याद थे वे सव लिख लिए गए। विस्मृत स्थलो का पूर्वापर सम्वन्ध देखकर सन्दर्भ मिलाया गया और फिर वाचना दी गई। इस वाचना मे आचार्य नागार्जुन प्रमुख थे, इसलिए इसे नागार्जुनी वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी और वल्लभी दोनो स्थानो की वाचनाएँ प्राय एक ही समय मे हुई। इसलिए यह कहना अनावश्यक है कि आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन एक ही समय मे विद्यमान थे। किन्तु वाचनाओ के वाद उनका परस्पर मिलना नही हुआ। इसलिए दोनो वाचनाओ मे परस्पर कुछ पाठ-भेद रह गया, उसका उल्लेख टीकाओ मे अव तक पाया जाता है। नागार्जुन की वाचनाओ मे मेल वाले अग को टीकाकार "नागार्जुनीयास्तु" कह कर वता देते है। वल्लभी वाचना का वैशिष्ट्य यह है कि उसमे प्रकरण ग्रन्थो को भी श्रुत-ज्ञान मे स्थान मिल गया।

देवर्द्धिगणी (वी० नि० ६८०)

उपरोक्त वाचनाओ के लगभग १५० वर्ष पश्चात् वल्लभी नगर (सौराष्ट्र) मे श्रमण सघ फिर सम्मिलित हुआ। उस सम्मेलन के अध्यक्ष देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण थे। उसमे उपरोक्त वाचनाओ मे सम्मिलित साहित्य के अतिरिक्त जो ग्रन्थ या प्रकरण आदि थे, उन्हे सुरक्षित करने का प्रयत्न किया गया।

इस श्रमण सम्मेलन मे दोनो वाचनाओ के पाठो का परस्पर समन्वय किया गया और जहाँ तक हो सका उन्हे एक रूप दे दिया गया। जो महत्वपूर्ण भेद थे, उन्हे पाठान्तर के रूप मे चूर्णियो मे सगृहीत किया। कुछ प्रकीर्ण ग्रन्थ जो एक ही वाचना मे थे वे ज्यो के त्यो प्रमाण मान लिए गए।

उपर्युक्त व्यवस्था के वाद सभी आगम एवं प्रकरण-ग्रन्थ स्कन्दिल की माथुरी

वाचना के अनुसार लिखे गए। नागार्जुनी वाचना का पाठ भेद टीका मे लिख दिया गया। जिन पाठान्तरो को नागार्जुन की परम्परा वाले छोडने को तैयार नही थे, उनका मूलसूत्र मे भी (वाचनान्तरे पुन) वायणतरे पुण (देखो कल्पसूत्र-वायणातरे पुण अय तेणउए सवच्छरे काले गच्छइ दीसइ) शब्दो द्वारा उल्लेख किया गया।

देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता मे जो वाचना हुई उसमे नीचे लिखी बाते महत्व-पूर्ण हैं—

१ माथुरी और नागार्जुनी वाचनाओ का समन्वय किया गया। जैन परम्परा के लिए यह अत्यन्त महत्व की बात है।

२ शास्त्रो के लेखन की परिपाटी आरभ की गई। यद्यपि लेखन आर्य स्कन्दिल के समय ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु इसे प्रोत्साहन देवर्द्धिगणी के बाद ही मिला।

३ जैन आगमो का अन्तिम रूप स्थिर कर दिया गया। इसके बाद जो ग्रन्थ रचे गए उन्हे आगमो मे नही लिया गया।

नन्दी-सूत्र के अनुसार आगमो का ग्रन्थ विभाजन—

आगमो की सख्या के विषय मे कई मान्यताएँ हैं। एक परम्परा चौरासी आगम मानती है। दूसरी परम्परा के अनुसार उनकी सख्या पैंतालीस है। स्थानक-वासी सम्प्रदाय केवल बत्तीस आगमो को प्रमाण मानती है। आधुनिक प्रचलित मान्यताओ की चर्चा मे न जाकर इस नन्दी-सूत्र द्वारा किए गए विभाजन को प्रस्तुत करते हैं। सक्षेप मे आगम दो प्रकार के हैं—अगप्रविष्ट और अगबाह्य।

अगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आयार, सूयगड, ठाण, समवाअ, विवाहपन्नत्ती, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हवागरणाइ, विवागसुअ, दिट्ठिवाअ।

अगबाह्य के दो भेद हैं—आवश्यक तथा आवश्यक व्यतिरिक्त।

आवश्यक के छ भेद हैं—सामाइय, चउवीसत्थव, वदणय, पडिक्कमण, काउसग्ग तथा पच्चक्खाण।

आवश्यक व्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कालिय तथा उक्कालिय।

कालिक के अनेक भेद हैं—उत्तराज्झयण, दसा, कप्प, ववहार, निसीह, महानिसीह, इसिभासिय, जबूदीवपन्नत्ती, दीवसागरपन्नत्ती, चदपन्नत्ती, खुड्डिया-विमाणविभत्ती, महल्लियाविमाणविभत्ती, अगचूलिया, वग्गचूलिया, विवाह-

चूलिया, अरुणोववाअ, वरुणोववाअ, गरुलोववाअ, धरणोववाअ, वेसमणोववाअ, वेलधरोववाअ, देविदोववाअ, उट्ठाणसुअ, नागपरियावणिआ, निरयावलिया, कप्पिआ, कप्पवडसिआ, पुप्फिआ, पुप्फचूलिआ, वण्हीदसा इत्यादि। इनके अतिरिक्त प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेव के चौरासी हजार प्रकीर्णक। दूसरे से लेकर तेइसवे तीर्थकर तक सख्यात प्रकीर्णक। अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर के चौदह हजार प्रकीर्णक। उत्कालिक-श्रुत भी अनेक प्रकार के हैं—दशवैकालिक, कप्पिआकप्पिअ, चुल्लकप्पसुअ, महाकप्पसुअ, उववाइअ, रायपसेणिअ, जीवाभिगम, पण्णवणा, महापण्णवणा, पमायप्पमाय, नदी, अणुओगदाराइ, देविदत्थओ, तदुलवेआलिय, चदविज्झय, सूरपण्णत्ती, पोरिसीमडल, मडलपवेस, विज्जाचरणविणिच्छय, गणिविज्जा, झाणविभत्ती, मरणविभत्ती, आयविसोही, वीयरायसुअ, सलेहणासुअ, विहारकप्प, चरणविही, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण इत्यादि।

उपरोक्त विभाजन मे बहुत से ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही है। आवश्यक के वन्दना आदि छ भेद स्वतन्त्र आगम न होकर एक ही आगम के विभिन्न प्रकरण हैं। अगो मे बारहवे दृष्टिवाद का लोप हो चुका है। आज कल नीचे लिखे अनुसार विभाजन किया जाता है—

१ ग्यारह अग दृष्टिवाद को छोड कर।

२ बारह उपाग—उववाइय, रायप्पसेणिय, जीवाभिगम, पण्णवणा, सूरपण्णत्ती जबूदीवपण्णत्ती, चदप्पण्णत्ती, कप्पिया, कप्पवडसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वण्हीदसा।

३ चार मूल—आवस्सय, दसवेआलिय, उत्तरज्झयण और पिडनिज्जुत्ति।

४. छेद—निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, पचकप्प, महानिसीह।

५ दस पइण्णा—चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, सथारओ, तदुल-वेयालिय, चन्दवेज्झओ, देविदत्थव, गणिविज्जा महापच्चक्खाण वीरत्थव।

आगमो का विषय विभाजन—

आर्यरक्षित ने आगमो को विषय की दृष्टि से चार अनुयोगो मे विभक्त किया है।

१ चरणकरणानुयोग २ धर्मकथानुयोग ३ गणितानुयोग ४ द्रव्यानुयोग।

आचार का प्रतिपादन करने वाले आचाराग, दशवैकालिक, आवश्यक आदि

सूत्रो को प्रथम अनुयोग मे गिना जाता है। धार्मिक दृष्टान्त, कथा एव चरित्रो का वर्णन करने वाले ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययन आदि दूसरे अनुयोग मे आते हैं। गणित का प्रतिपादन करने वाले सूरपण्णत्ती, चदपण्णत्ती आदि गणितानुयोग मे आते हें। दार्शनिक तत्त्वो का प्रतिपादन करने वाले दृष्टिवाद आदि द्रव्यानुयोग मे आते हैं।

उपरोक्त चार अनुयोगो मे विषय की दृष्टि से आगमो का विभाजन होने पर भी भेद-रेखा स्पष्ट रूप से नही खीची जा सकती। उत्तराध्ययन मे धर्मकथाओ के साथ-साथ दार्शनिक तथ्यो का भी पर्याप्त निरूपण है। भगवती तो सभी विषयो का समुद्र है। आचाराग मे भी यत्र-तत्र दार्शनिक तत्त्व मिल जाते हैं। इसी प्रकार कुछ को छोडकर अन्य सभी आगमो मे चार अनुयोगो का सम्मिश्रण है। इसलिए उपरोक्त विभाजन को मुख्य विषय की दृष्टि से स्थूल विभाजन ही मानना चाहिए।

श्रीमद्राजचन्द्र इन चारो अनुयोगो का आध्यात्मिक उपयोग बताते हुए लिखते हैं—

यदि मन शकाशील हो गया हो तो द्रव्यानुयोग का चिन्तन करना चाहिए। प्रमाद मे पड गया हो तो चरणकरणानुयोग का, कषाय से अभिभूत हो गया हो तो धर्मकथानुयोग का और जडता प्राप्त कर रहा हो गणितानुयोग का।

साख्यदर्शन की दृष्टि से देखा जाय तो शका और कषाय रजोगुण के परिणाम हैं और प्रमाद एव अज्ञान (जडता) तमोगुण के इन दोनो प्रभावो को दूर करके सत्व गुण की वृद्धि के लिए उपरोक्त अनुयोगो का चिन्तन लाभदायक है। इनमे दूसरे अनुयोगो का चिन्तन करणानुयोग के लिए है। द्रव्यानुयोग से दर्शन अर्थात् दृष्टि की शुद्धि होती है और दृष्टि की शुद्धि से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है। इसलिए चरणकरणानुयोग ही प्रधान है।

भगवद्गीता या हिन्दु साधना के साथ तुलना की जाय तो कहा जा सकता है कि द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध ज्ञानयोग से है, चरणकरणानुयोग का कर्मयोग से तथा धर्मकथानुयोग का भक्तियोग से। गणितानुयोग मन को एकाग्र करने की एक प्रणाली है अत यह राजयोग से सम्बन्ध रखता है।

भारतीय संस्कृति के दो स्रोत

भारत का सास्कृतिक इतिहास दो परम्पराओ के सघर्ष का परिणाम है। एक ओर धर्म को जीवन निर्वाह का साधन मानकर चलने वाली ब्राह्मण परम्परा है, दूसरी ओर जीवन को धर्म साधना का उपकरण मानने वाली श्रमण परम्परा। एक ने धर्म को व्यवसाय के रूप मे अपनाया, दूसरी ने आध्यात्मिक साधना के रूप में। एक ने भौतिक सुख को मुख्य रख कर धर्म को उसकी साधना माना, दूसरी ने भौतिक एषणाओ से ऊपर उठकर आत्मसाक्षात्कार को लक्ष्य बनाया। एक ने प्रेम की उपासना की, दूसरी ने श्रेय की। एक ने चाहा "हम सौ साल तक जीएँ, हमारा शरीर तथा इन्द्रियाँ स्वस्थ रहे, गौएँ दूध देने वाली हो, समय पर वृष्टि हो, शत्रुओ का नाश हो।" दूसरी ने कहा "आत्मसाधना के पथ पर आगे बढते जाओ, जीने या मरने की चिन्ता मत करो, इस शरीर, इन इन्द्रियो को, धन सम्पत्ति तथा सर्वस्व को आत्म साधना के पथ पर स्वाहा कर दो।" एक ने सुख सम्पत्ति के लिए देवताओ की खुशामद की, उनसे भीख माँगी। दूसरी ने कहा "सयम और तप के मार्ग पर चलो, देवता तुम्हारे चरण चूमेगे।" एक ने शरीर को प्रधानता दी, दूसरी ने आत्मा को। एक ने बाह्य क्रिया-काड को महत्व दिया, दूसरी ने मनोभावो को। एक ने मनुष्य को किसी दिव्य-शक्ति के हाथ मे कठपुतली समझा, दूसरी ने कहा तुम स्वय उस दिव्य शक्ति के केन्द्र हो।

वैदिक काल से लेकर आज तक का समस्त साहित्य इन दो धाराओ के सघर्ष को प्रकट करता है। जहाँ मन्त्र और ब्राह्मणो मे पहली परम्परा का विकास है, उपनिषदो मे उसकी प्रतिक्रिया है। एक ओर यज्ञो के अनुष्ठान मे सारा जीवन लगा देने को कहा गया है, दूसरी ओर यज्ञ रूपी नौका को अदृढ बताया गया है। एक ओर वैदिक क्रिया काड को सर्वोत्कृष्ट माना गया है, दूसरी ओर उसे अपरा विद्या कह कर आत्मविद्या की उपेक्षा होना बतलाया है। सूत्रकाल मे गृह्यसूत्र फिर उसी क्रियाकाड मे समाज को बाँधने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर जैन, बौद्ध, आजीविक आदि के रूप मे स्वतन्त्र विचारधाराएँ उसका विरोध करती हैं। महाभारत तथा पुराणो मे सभी प्रकार के विचारो का सकलन है। मध्यकाल मे श्रमण परम्परा के दो रूप हो गए हैं। पहला रूप जैन और बौद्ध धर्म के रूप मे पल्लवित हुआ, जिसने वैदिक परम्परा का सर्वथा त्याग कर के स्वतन्त्र विकास किया। दूसरा

वेदान्त, सांख्ययोग, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनो के रूप मे प्रस्फुटित हुआ। जिन्होने वेद पुराण को मानते हुए भी आत्म साधना को मुख्य लक्ष्य बनाया। जिन्होने वैदिक क्रिया काड की या तो सर्वथा उपेक्षा कर दी या उसे चित्तशुद्धि मानकर आध्यात्मिक साधना का अङ्ग बना दिया। शकराचार्य ने वेद प्रामाण्य की रक्षा करते हुए जिस प्रकार अद्वैत का प्रतिपादन किया है, वह इसी मनोवृत्ति का सुन्दर निदर्शन है। पन्द्रहवी शताब्दी के पश्चात् सत परम्परा के रूप मे बाह्य क्रियाकाड का जो विरोध हुआ उसमे भी सघर्ष झलकता है। वर्तमान युग मे महात्मा गाधी ने फिर उसकी प्राण प्रतिष्ठा की।

जैन धर्म इसी श्रमण परम्परा की एक धारा है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इसका जन्म वैदिक युग की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ। वैदिक साहित्य मे अर्हत्, निर्ग्रन्थ, यति, मुनि आदि अनेक ऐसी परम्पराओ का निर्देश है जो त्याग प्रधान होते हुए भी वेदो से पहले विद्यमान थी। सहिता साहित्य मे इन्द्र को मुनियो का मित्र तथा यतियोका शत्रु बताया गया है। तैतिरीय सहिता मे लिखा है—'इन्द्र ने यतियो को कुत्तो की भेट कर दिया।' ऐतरेय ब्राह्मण मे भी उसी प्रकार का उल्लेख है। यति और मुनियो का आचार प्राय एक सरीखा था। किन्तु यतियो का सम्बन्ध भारत के मूल निवासियो से था और मुनियो का आर्यो से। यह उद्धरण दो सम्प्रदायो के साधुओ और भक्तो मे प्रचलित पारस्परिक कलह को प्रकट करता है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का नाम वैदिक साहित्य मे आता है।

स्वय ऋषभदेव को विष्णु का अवतार तथा अहिसा और सयम का उपदेष्टा बताया गया है। उनकी अपनी तपस्या तथा कैवल्य का भी विस्तृत वर्णन है। ये सब प्रमाण जैन परम्परा की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं। यह निश्चित है कि भारत मे वैदिक प्रभाव फैलने से पहले इसका अस्तित्व था। ऋषभदेव के प्रभावशाली व्यक्तित्व को देखकर ही वैदिक परम्परा ने उन्हे स्वीकार किया होगा।

वास्तव मे देखा जाय तो इस समय हिन्दु धर्म के नाम से जो परम्परा प्रचलित है और जिसका मूल वेदो मे बताया जाता है उस पर अवैदिक तत्त्व इतने छा गए हैं कि मूल स्रोत छिप सा गया है। शिव, दुर्गा, राम, कृष्ण, लक्ष्मी आदि जिन देवो की पूजा इस समय हिन्दुओ मे प्रचलित है उसमे से एक भी वैदिक नही है। इन्द्र,

वरुण, रुद्र,- यम आदि वैदिक देवता अब केवल साहित्य मे ही मिलते हैं। हिन्दु सस्कारो मे अग्नि की साक्षी अवश्य एक ऐसा रिवाज है जो वैदिक यज्ञो की सूचना देता है। इसके अतिरिक्त राजसूय, पुत्रेष्टि, दर्श-पूर्णमास आदि यज्ञ भी प्राय समाप्त हो चुके हैं। आश्रम व्यवस्था तो सभवतया कभी रही ही नही, वर्ण व्यवस्था भी टूट चुकी है। दार्शनिक क्षेत्र मे तो वैदिक मान्यताओ को कोई स्थान नही है। उपनिषदो को आधार रूप से माना जाता है किन्तु उनकी व्याख्या अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार की जाती है। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के रूप मे एक ही प्रस्थान होने पर भी अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टताद्वैत, शुद्धद्वैत, द्वैत आदि परस्पर विरोधी मतो का आविर्भाव इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि वैदिक परम्परा मे ऋषभदेव का सम्मानित स्थान होने पर भी उनके द्वारा सचालित धार्मिक परम्परा को वैदिक परम्परा मे क्यो नही स्थान मिला ? वैदिक दर्शन अर्थात् मीमासा के साथ साख्य और वेदान्त का जितना भेद है, उतना जैन दर्शन का नही है। फिर भी जैन दर्शन को वेद-बाह्य परपरा मे रखे जाने का एक मात्र कारण यही है कि उसने वेदो को प्रमाण नही माना।

जैन धर्म

प्रसिद्ध इतिहासकार टायन बी० के शब्दो मे विश्व की सबसे बडी समस्या है मनुष्य का 'स्वकेन्द्रित होना।' प्रत्येक मनुष्य अपने को केन्द्र मे रखकर सोचता है, अपने ही सुख-दु ख का ध्यान रखता है तथा अपने ही विचारो को सर्वोपरि मानता है। धर्म का लक्ष्य है उसे 'स्व' परिधि से निकाल कर 'सर्व' की ओर उन्मुख करना। 'स्व' से सर्व की ओर अग्रसर होने के दो प्रेरक तत्त्व रहे हैं—(१) स्वार्थ और (२) परमार्थ। अपने भौतिक अस्तित्व के सरक्षण, धन-सम्पत्ति तथा अन्य लौकिक आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए भी मनुष्य अपने 'स्व' को निजी व्यक्तित्व से बढाकर कुल, परिवार, जाति, प्रात या राष्ट्र तक विस्तृत कर देता है। विभिन्न परिधियो मे सीमित परस्पर सहयोग एव सहानुभूति की इस भावना को कुल-धर्म, जाति-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि शब्दो से कहा जाता है। प्राचीन समय मे ऐसा कोई लौकिक स्वार्थ नही रहा जो मनुष्य को राष्ट्र की सीमा से आगे ले जा सके।

परिणामस्वरूप बहुत से धर्म राष्ट्र या जाति तक सीमित रह गए। उदाहरण के रूप मे ब्राह्मण धर्म राष्ट्र तक सीमित रहा। और यहूदी एव पारसी धर्म जाति विशेष तक। इन सब धर्मो को लौकिक धर्म कहा गया।

इसके विपरीत कुछ धर्मो ने मानवता की समस्याओ को सुलझाने के लिए आध्यात्मिकता का आश्रय लिया। उन्होने दार्शनिक चिन्तन द्वारा यह प्राप्त किया कि भौतिक अस्तित्व तथा बाह्य वस्तुओ के प्रति ममत्व ही सब समस्याओं का बीज है। ऐसे धर्मो के सामने जाति या भूगोल सम्बन्धी कोई परिधि न थी। वे लोकोत्तर धर्म कहे गए।

भारत की लोकोत्तर-धर्म परम्पराओ मे तीन दृष्टिकोण मिलते हैं। पहला दृष्टिकोण अद्वैतवादी परम्पराओ का है। उनकी मान्यता है कि 'स्व' को इतना व्यापक बना दो, जिसमे सब कुछ समा जाय। "पर' कुछ न रहे। जब तक "दूसरा" है, भय बना रहेगा (द्वितीयाद्वै भयम् भवति) जब सब एक ही हो गए, तो कौन किस से डरेगा, कौन किस की हिसा करेगा? दूसरा दृष्टिकोण शून्यावादी परम्पराओ का है। उनका कथन है कि परमार्थ सत्य कुछ भी नही है। विचार करने पर कोई पदार्थ सत्य सिद्ध नही होता (यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा)। बौद्ध परम्परा ने मुख्यतया इस बात पर बल दिया है। जब वास्तव मे सब शून्य है तो अहता या ममता कैसी?

उपरोक्त दोनो मान्यताओ का मुख्य आधार तर्क है। लौकिक प्रत्यक्ष उनका समर्थन नही करता। लौकिक दृष्टि से बाह्य और आभ्यन्तर प्रतीत होने वाली सभी वस्तुएँ सत्य हैं। उन मे रहने वाली अनेकता एव विषमता भी सत्य है। इनका अपलाप नही किया जा सकता। फिर भी विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि समानता स्वाभाविक है और विषमता परापेक्ष। घट और पट के परमाणुओ मे समानता होने पर भी रचना आदि मे भेद होने के कारण विषमता हो गई। इसी प्रकार सभी जीवो या आत्माओ मे मौलिक समानता होने पर भी विविध प्रकार की विकृतियो के कारण विषमता आ गई। प्राणियो का पृथक् २ अस्तित्व बुरा नही है। बुराई या दु खो का कारण परस्पर वैषम्य-भावना है। इस वैषम्य बुद्धि को दूर करके प्राणी मात्र के प्रति समता की बुद्धि स्थापित करना जैन धर्म का लक्ष्य बिन्दु है। उसकी मान्यता है कि 'स्व' बुरा नही है, किन्तु दूसरो के प्रति वैषम्य

बुद्धि ही बुरी है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा मे सन्ध्योपासना तथा मुसलमानो मे नमाज नित्यकर्म के रूप मे विहित है, इसी प्रकार जैन गृहस्थो के लिए सामायिक है। उसका अर्थ है—समता की आराधना या उसे जीवन मे उतारने का अभ्यास। सामायिक जैन साधु का तो जीवन-व्रत है, महाव्रत, तप आदि अन्य सभी बाते उसी के सहायक तत्त्व है। क्षेत्र की दृष्टि से समता की इस आराधना के दो विभाग हैं, आचार मे समता और विचार मे समता। आचार मे समता का अर्थ है, अहिसा और यह जैन आचार-शास्त्र का केन्द्र विन्दु है। विचार मे समता का अर्थ है, स्याद्वाद, यह जैन दर्शनशास्त्र का केन्द्र विन्दु है।

अहिसा की व्याख्या करते हुए जैन परम्परा मे बताया गया है कि स्वार्थ वुद्धि या कपाय से प्रेरित होकर दूसरे के प्राणो को कष्ट पहुँचाना हिसा है। प्राण दस हैं---पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, वचन, और शरीर, श्वासोच्छ्वास तथा आयु। इसका अर्थ प्राण ले लेना या शारीरिक कष्ट पहुँचाना ही हिंसा नही है। किन्तु दूसरे की ज्ञानेन्द्रियो पर प्रतिवन्ध लगाना अर्थात् उन्हे स्वतन्त्र होकर देखने, सुनने आदि से रोकना, स्वतन्त्र चिन्तन एव भाषण पर प्रतिवन्ध लगाना एव स्वतन्त्र विचरण मे रुकावट डालना भी हिसा है।

स्याद्वाद—का अर्थ है दूसरे के दृष्टिकोण को उतना ही महत्व देना जितना अपने दृष्टिकोण को दिया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई ज्ञान सर्वथा मिथ्या नही है और न सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी का ज्ञान पूर्ण सत्य है। सभी प्रतीतियाँ सापेक्ष सत्य हैं अर्थात् एक ही वस्तु को भिन्न अपेक्षाओ से अनेक रूपो मे प्रकट किया जा सकता है। वे रूप आपातत परस्पर विरोधी होने पर भी मिथ्या नही है। अपनी २ अपेक्षा से प्रत्येक दृष्टिकोण सत्य है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। व्यक्ति अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा से किसी एक धर्म को मुख्यता देता है। यदि वह अन्य धर्मो को गौण समझता है तो उसका ज्ञान सत्य है। यदि उनका अपलाप करता है, तो मिथ्या है।

आचार और विचार की इस समता को जीवन मे उतारने के लिए आचाराङ्ग-सूत्र मे एक उपाय वताया है कि व्यक्ति दूसरे के साथ व्यवहार करते समय, उसके स्थान पर अपने को रख कर देखे। जिस व्यवहार को वह अपने लिए बुरा मानता है, उसे दूसरे के साथ न करे।

वेदान्त के अनुसार व्यक्तिके स्व-केन्द्रित होने का कारण अविद्या अर्थात् अनात्मा मे आत्म बुद्धि है। बौद्ध धर्म के अनुसार इसका कारण तृष्णा है। जैन धर्म के अनुसार विपमता का कारण मोह है। इसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जीवन मे जैसे २ इनकी उत्कटता घटती जाती है, आत्मा की निर्मलता बढती जाती है और उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओ को चार श्रेणियो मे विभक्त किया जाता है—जिस जीव मे मोह की उत्कृष्ट मात्रा है वह मिथ्यात्वी है। अर्थात् वह आत्म विकास के मार्ग पर आया ही नही। वह दृष्टि एव चारित्र दोनो दृष्टियो से अविकसित है। दूसरी श्रेणी अपेक्षाकृत मन्द कपाय वाले उन व्यक्तियो की है जो आत्म विकास के मार्ग को अच्छा तो मानते हैं किन्तु उस पर चलने मे अपने आप को असमर्थ पाते हैं। वे सम्यग् दृष्टि हैं अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा ठीक मार्ग पर होने पर भी चारित्र की दृष्टि से अविकसित हैं। तीसरी श्रेणी मन्दतर कपाय वाले गृहस्थो की है जो चारित्र को आशिक रूप से अपनाते हैं। चौथी श्रेणी मन्दतम कपाय मुनियो की है जो चारित्र को पूर्णतया अपनाते हैं। कपाय के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर व्यक्ति कैवल्य या आत्म विकास की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

उपरोक्त श्रेणी विभाजन का आधार कर्म सिद्धान्त है और यह माना गया है कि प्राणियो मे विपमता का कारण कर्म बन्धन है। व्यक्ति के भले बुरे आचार एव विचारो के अनुसार आत्मा के साथ कर्म परमाणु बँध जाते हैं और वे ही सुख-दु ख आदि का कारण बनते हैं। वे जैसे २ दूर होते जाते हैं आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता जाता है। पूर्णतया शुद्ध आत्मा ही परमात्मा कहा जाता है। जितने आत्मा इस प्रकार शुद्ध हो गए हैं सभी परमात्मा बन गये हैं। उनके अतिरिक्त जगत का रचयिता या नियन्ता कोई व्यक्ति विशेष नही है।

व्यवहारिक क्षेत्र मे विपमता का कारण ममत्व या परिग्रह है। वह दो प्रकार का है—बाह्य वस्तुओ का परिग्रह और विचारो का परिग्रह। वस्तुओ का परिग्रह आचार मे हिंसा को जन्म देता है और विचारो का परिग्रह विचार सम्बन्धी हिंसा को।

जैन साधुओ के लिये पाच महाव्रतो का विधान है अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वास्तव मे देखा जाय तो ये अहिंसा या अपरिग्रह का ही

विस्तार है। अपरिग्रह के विना अहिसा की साधना नही हो सकती। ये पाचो महाव्रत जैन साधना के मूल तत्त्व हैं।

जैन धर्म, दर्शन एवं परम्परा को विहगम दृष्टि मे देखा जाय तो प्रतीत होता है कि सब का केन्द्र विन्दु एक मात्र समता है। वही समता नीचे चार क्षेत्रो मे वट गयी है–

१ आचार मे समता—अहिसा जैन आचार का मूल तत्त्व।

२ विचार मे समता—स्याद्वाद जैन-दर्शन का मूल तत्त्व।

३ प्रयत्न और फल मे समता—कर्म सिद्धान्त—जैन नीतिशास्त्र का मूल तत्त्व।

४ सामाजिक समता—व्यक्ति पूजा के स्थान पर गुण पूजा—जैन सघ व्यवस्था का मूल आधार।

प्रथम तीन समताओ के विपय मे सक्षिप्त वताया जा चुका है। चौथी के विपय मे कुछ लिखने की आवश्यकता है।

जो व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है उसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को छोड कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म मे विश्वास प्रकट करना होता है। देव आदर्श का कार्य करते हैं, गुरु उस आदर्श पर पहुँचने के लिये पथ-प्रदर्शक का और धर्म वह पथ है। देव या गुरु के स्थान पर किसी लौकिक या लोकोत्तर व्यक्ति विशेष को नही रखा गया न ही किसी वर्ण विशेप को महत्व दिया गया है। किन्तु आध्यात्मिक विकास के द्वारा प्राप्त पदो को महत्व दिया गया है। जो विकास की सर्वोच्च भूमिका पर पहुँच गये हैं वे देव हैं और जो साधक होने पर भी अपेक्षाकृत विकसित है, वे गुरु हैं।

जैन परम्परा मे नमस्कार मत्र तथा मगल पाठ का वहुत महत्व है। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे उसका उच्चारण किया जाता है। नमस्कार मन्त्र मे पॉच पदो को नमस्कार है। अर्हन्त अर्थात् जीवन-मुक्त, सिद्ध अथवा पूर्ण-मुक्त ये दोनो देव तत्त्व के रूप मे माने जाते हैं। शेप तीन हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीनो गुरु तत्त्व मे आते हैं।

मगल-पाठ मे अर्हन्त, सिद्ध, साधु एव धर्म इन चार को मगल, लोकोत्तम तथा शरण वताया गया है।

जैन अनुष्ठानो मे सामायिक के वाद प्रतिक्रमण का स्थान है। इसका अर्थ है– प्रत्यालोचना। व्यक्ति जान कर या अनजान मे किये गये कार्यो का पर्यवेक्षण

करता है और अङ्गीकार किये हुए व्रतो मे किसी प्रकार की स्खलना के लिये पश्चात्ताप प्रकट करता है। यह प्रतिक्रमण रात्रि के लिए प्रात सूर्योदय से पहले तथा दिन के लिये साय सूर्यास्त होने पर किया जाता है। साधु के लिए दोनो समय वाला प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। पन्द्रह दिन के लिए किया जाने वाला पाक्षिक, चार मास के पश्चात् किया जाने वाला चातुर्मासिक तथा वर्ष के अन्त मे किया जाने साम्वत्सरिक प्रतिक्रमण कहलाता है। जिस दिन यह प्रतिक्रमण किया जाता है उसे सवत्सरी या पर्युषण कहते हैं। यह जैन धर्म का सबसे बड़ा पर्व है। जो व्यक्ति उस दिन प्रतिक्रमण करके पश्चात्ताप एव प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि नही करता, उसे अपने को जैन कहने का अधिकार नही हैं।

प्रतिक्रमण के अन्त मे ससार के समस्त जीवो से क्षमा प्रार्थना द्वारा मैत्री की घोषणा की जाती है। यह घोषणा प्रतिक्रमण का निष्कर्ष है। वह इस प्रकार है—

खामेमि सव्वजीवा, सव्वे जीवा खमतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ ण केणई॥

अर्थात् मै सब जीवो को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करे। सब प्राणियो से मेरी मित्रता है किसी से वैर नही है।

संक्षेप मे जैन धर्म का लक्ष्य बिन्दु

नीचे लिखे सिद्धान्तो मे प्रकट किया जा सकता है—

१ प्राणी मात्र के प्रति समता की आराधना ही जैन साधना का लक्ष्य है।

२ विषमता का कारण मोह हैं। विचारो का मोह एकान्त या दृष्टि दोष है। व्यवहार मे मोह, चरित्र दोष है। इन दोनो को दूर करके ही आत्मा परम-आत्मा बन सकता है।

३ मनुष्य के सुख दुःख पर किसी बाह्य शक्ति का नियन्त्रण नही है व्यक्ति स्वय ही उनका कर्ता तथा भोक्ता है।

४ मनुष्य सर्वोपरि है चारित्र सम्पन्न होने पर वह देवो का भी पूज्य बन जाता है।

५ मनुष्यो मे परस्पर जन्मकृत कोई भेद नही है। ब्राह्मण या शूद्र सभी साधना के द्वारा परम-पूज्य अर्थात् देवाधिदेव बन सकते हैं।

जैन धर्म और व्यक्ति

व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से देखा जाय तो जैन धर्म मे वे सभी तत्त्व मिलते हैं जो पूर्णतया विकसित एव शक्तिशाली व्यक्तित्व के लिए आवश्यक हैं।

हमारा व्यक्तित्व कितना दुर्बल या सबल है इसकी कसौटी प्रतिकूल परिस्थिति है। जो मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियो मे घबरा जाता है उसका व्यक्तित्व उतना ही दुर्बल समझना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थिति को हम नीचे लिखे तीन भागो मे बाँट सकते हैं—

१ प्रतिकूल व्यक्ति—जो व्यक्ति हमारा शत्रु है हमे हानि पहुँचाने वाला है या हमारी रुचि के अनुकूल नही है, उसके सम्पर्क मे आने पर यदि हम घबरा जाते हैं या मन ही मन कष्ट का अनुभव करते हैं तो यह व्यक्तित्व की पहली दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमने अहिंसा को जीवन मे नही उतारा और सर्वमैत्री का पाठ नही सीखा।

२ प्रतिकूल विचार—अपने जमे हुए विश्वासो के विपरीत विचार उपस्थित होने पर यदि हम घृणा का अनुभव करते हैं, उन विचारो को नही सुनना चाहते या उन पर सहानुभूति के साथ मनन नही कर सकते तो यह दूसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि के अनुसार इसका अर्थ होगा कि हमने स्याद्वाद को जीवन मे नही उतारा।

३ प्रतिकूल वातावरण—इसके तीन भेद हैं—

(क) इष्ट की अप्राप्ति अर्थात धन-सम्पति सुख-सुविधाएँ परिजन आदि जिन वस्तुओ को हम चाहते हैं उनका न मिलना।

(ख) अनिष्ट की प्राप्ति—अर्थात् रोग प्रियजन का वियोग सम्पत्ति-नाश आदि जिन बातो को हम नही चाहते उनका उपस्थित होना।

(ग) विघ्न-बाधाएँ—अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि मे विविध प्रकार की अडचने आना। इन तीनो परिस्थितियो मे घबरा जाना व्यक्तित्व की तीसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमे कर्म सिद्धान्त पर विश्वास नही है। दूसरे शब्दो

मे व्याकुलता, घवराहट एव उत्साह हीनता के दो कारण हैं। या तो हम परावलम्बी ह अर्थात् हम मानते हैं की सुख की प्राप्ति आत्मा को छोडकर अन्य तत्त्वों पर अवलम्बित है अथवा ये मानते हैं कि आत्मा दुर्बल होने के कारण प्रतिकूल परिस्थिति एव विघ्न-बाधाओ पर विजय प्राप्त नही कर सकता। जैन धर्म मे आत्मा को अनन्त चतुष्टयात्मक माना गया है। अर्थात् यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप है। सुख को बाहर ढू ढने का अर्थ है हमे आत्मा के अनन्त सुख मे विश्वास नही है, इसी प्रकार विघ्न बाधाओ के सामने हार मानने का अर्थ है हमे आत्मा के अनन्त वीर्य मे विश्वास नही है। इस प्रकार हम देखते हैं जैन धर्म व्यक्तित्व विकास के सभी आवश्यक तत्त्वो को उपस्थित करता है।

जैन धर्म और समाज

समाज-शास्त्र का अर्थ है—"स्व" और "पर" के सम्बन्धो की चर्चा। इसकी दो भूमिकाएँ हैं लौकिक तथा लोकोत्तर। दार्शनिक या आध्यात्मिक भूमिका को लोकोत्तर भूमिका कहा जायेगा और भौतिक अस्तित्व के लिये जो परस्पर व्यवहार आवश्यक है उसे लौकिक भूमिका। लोकोत्तर भूमिका की दृष्टि से वेदान्त का कथन है कि "स्व" को इतना व्यापक वना दो कि "पर" कुछ न रहे। "तत्त्वमसि" का सदेश सकुचित परिधि वाले जीव को प्रेरणा देता है कि वह अपने को ब्रह्म समझे, जिसमे जड और चेतन, सारा विश्व समाया हुआ है। जिससे भिन्न कुछ नही है। दूसरी ओर वौद्ध दर्शन का सदेश है, कि "स्व" को इतना सूक्ष्म वनाते जाओ कि वह कुछ न रहे। सव कुछ "पर" हो जाये। तुम्हारा रहन सहन जीवन यहाँ तक कि आध्यात्मिक साधना भी "पर" के लिए वन जाय। महायान इसी का प्रतिपादन करता है। जैन धर्म का कथन है कि "स्व" और "पर" दोनो का अस्तित्व वास्तविक है वह अब तक रहा है और भविष्य मे रहेगा, उसे मिटाया नही जा सकता। आवश्यकता इस वात की है कि "स्व" का जीवन ऐसा वन जाय जिससे "पर" का लेश मात्र भी शोषण न हो। इसी प्रकार वह इतना स्वावलम्वी हो जाय कि "पर" उसका शोषण न कर सके। जव तक भौतिक अस्तित्व है यह अवस्था नही प्राप्त हो

सकती। अत भौतिक अस्तित्व के साधना-काल मे इन दोनो वृत्तियो का अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास के पूर्ण होने पर मानव समस्त भौतिक बन्धनो से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम मोक्ष, परमात्मावस्था या परमपद है।

लौकिक दृष्टि से मनुष्य की वृत्तियो को तीन भूमिकाओ मे बाँटा जा सकता है–(१) स्वार्थ (२) परार्थ और (३) परमार्थ।

(१) स्वार्थ भूमिका मे मनुष्य अपने भौतिक अस्तित्व तथा सासारिक कामनाओ की पूर्ति को सर्वोपरि मानता है। इसके लिए दूसरो की हिंसा या शोषण करने मे किसी प्रकार का सकोच नही करता। यह भूमिका धर्म शास्त्र की दृष्टि मे ससार या पाप की भूमिका समझी जाती है। वेदान्त मे इसे अविद्या कहा गया है। बौद्ध दर्शन मे मोह या मिथ्यात्व। योगदर्शन मे चित्तवृत्ति के दो प्रवाह बताए गए हैं–ससार प्राग्भारा और कैवल्यप्राग्भारा। उपरोक्त अवस्था का सम्बन्ध प्रथम प्रवाह से है।

(२) परार्थवृत्ति मे मनुष्य 'स्व' के क्षेत्र को कुटुम्ब, परिवार, जाति तथा राष्ट्र से बढाता हुआ समस्त विश्व तक फैला देता है। उसके हित को अपना हित तथा अहित को अपना अहित मानने लगता है क्षेत्र जितना सकुचित होगा व्यक्ति उतना ही स्वार्थी कहा जाएगा। तथा क्षेत्र जितना विकसित होगा उतना ही परार्थी। जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि की उन्नति के लिए जो कार्य किए जाते हैं वे सभी इस कोटि मे आते हैं।

(३) परार्थ की तरतमता को जानने के चार तत्त्व हैं–(१) क्षेत्र की व्यापकता (२) त्याग की उत्कटता (३) उद्देश्य की पवित्रता और (४) परिणाम का मगलमय होना। क्षेत्र की व्यापकता का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है, क्या क्षेत्र विशेष तक सीमित परार्थ वृत्ति धर्म का अङ्ग बन सकती है? एक व्यक्ति अपनी जाति अथवा राष्ट्र की सीमा मे प्रत्येक सदस्य का कल्याण एव विकास चाहता है और इसके लिए उस क्षेत्र के बाहर हिसा तथा अत्याचार करने मे भी नही हिचकता। हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं। उन्होने जिस वर्ग या क्षेत्र को ऊँचा उठाया वह उन्हे देवता या ईश्वर मानता रहा किन्तु बाह्य क्षेत्र के लिए वे दानव सिद्ध हुए। दूसरी श्रेणी उन लोगो की है जो अपने क्षेत्र मे परस्पर रचनात्मक परार्थवृत्ति का अनुसरण करते हैं।

किन्तु उसके बाहर तटस्थ हैं। तीसरे वे हैं जिनका लक्ष्य व्यापक है किन्तु कार्यक्षेत्र की दृष्टि से अपनी शक्ति तथा मर्यादा के अनुसार आगे बढते हैं अर्थात् वे समस्त विश्व का कल्याण चाहते हैं। किन्तु रचनात्मक कार्य करने के लिए सुविधानुसार क्षेत्र चुन लेते हैं। उपरोक्त दोनो वर्ग धर्म की कोटि मे आते हैं।

यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित होता है, परार्थ के लिए रचनात्मक कार्य का रूप क्या होगा ? क्या कोई ऐसा कार्य है जिससे किसी को कष्ट न पहुँचे ? एक व्यापारी अपने जाति-बन्धु को ऊँचा उठाने के लिए व्यापार मे लगा देता है और कुछ ही दिनो मे उसे लखपति बना देता है। क्या यह उपकार धर्म कहा जाएगा ? इसके उत्तर मे कई अपेक्षाएँ हैं, व्यापारी ने यदि उसकी सहायता किसी लौकिक स्वार्थ से की है, तो वह कार्य सामाजिक दृष्टि से उचित होने पर भी धर्म कोटि मे नही आता किन्तु यदि ऐसा कोई स्थूल स्वार्थ नही है तो स्वार्थ त्याग की दृष्टि से वह धर्म है। साथ ही उसका परिणाम दरिद्र जनता का शोषण है तो वह आदि मे मगल होने पर भी परिणाम मे मगल नही है। परिणाम मे मगल तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपने आध्यात्मिक गुणो का विकास करता हुआ ऊँचा उठे और किसी के लिए अमगल न बने। भौतिक दृष्टि से की गई सहायताओ मे धर्म का यह शुद्ध रूप नही आता। वह त्यागी जीवन मे ही आ सकता है। अत· जिस प्रकार परम मगल की पराकाष्ठा भौतिक अस्तित्व की समाप्ति मे होती है इसी प्रकार परम-मगल की शुद्ध साधना मुनि जीवन मे ही हो सकती है। सामाजिकता और शुद्ध धर्म का मेल सम्भव नही।

फिर भी व्यक्ति जब तक उस स्तर पर नही पहुँचता तब तक स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठकर धीरे-धीरे सामाजिकता का विकास उपादेय ही है। परार्थ, परमार्थ पर पहुँचने की साधना है। स्वार्थ के लिए सब कुछ करना, किन्तु परार्थ के समय हिसा अहिसा आदि की चर्चा करना दम्भ या मिथ्याचार है।

जैन धर्म मे व्यक्ति का लक्ष्य परमार्थ माना गया है किन्तु उसको साधना के लिए परार्थ या समाज-हित को भी उपादेय बताया गया है। इस भूमिका को श्रावक की भूमिका कहा गया है। जहाँ व्यक्ति पर-शोषण की वृत्ति को उत्तरोत्तर घटाता जाता है, और उसके लिए विधि तथा निषेध दोनो मार्गो को अपनाता है। विधि

के रूप मे वह पर-पोषण अर्थात् पर-हित या परोपकार के कार्यो को अपनाता है। और निपेध के रूप मे पर-शोषण के क्षेत्र को सकुचित करता जाता है।

आध्यात्मिक या कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यह बताया जा चुका है कि जैन धर्म मोहनाश पर बल देता है। इसके मुख्य चार भेद हैं--क्रोध, मान, माया और लोभ।

मनुष्य का आध्यात्मिक विकास इन्ही की उत्तरोत्तर न्यूनता पर अवलम्बित है। यह न्यूनता दो प्रकार से सम्पादित होती है, निरोध द्वारा तथा मगली-करण द्वारा। मन मे क्रोध उठने पर उसके बुरे परिणामो को सोचना, मैत्रीभावना द्वारा द्वेषवृत्ति को शान्त करना, चित्त को आत्मचिन्तन मे लगा देना आदि निरोध के मार्ग हैं किन्तु क्रोध को किसी उपयोगी प्रवृत्ति मे बदल देना उसका मगलीकरण है। क्रोध का उदय तब होता है जब व्यक्ति की स्वतन्त्र वृत्ति मे बाधा खडी हो जाती है। वह बोलना चाहता है किन्तु किसी कारण नही बोल पाता, करना चाहता है किन्तु नही कर पाता। इसी प्रकार खाने-पीने उठने-बैठने, देखने-सुनने आदि के विषय मे इच्छा का व्याघात होने पर मनुष्य क्रोध करने लगता है। वास्तव मे देखा जाय तो यह उत्साह का व्याघात है। इसकी सहारक प्रतिक्रिया क्रोध है और रचनात्मक प्रतिक्रिया शुभकार्य मे द्विगुणित उत्साह है। व्यक्ति जब दूसरे का हित करता है तो छिपे रूप मे अस्मिता का पोषण होता है, और उसे सात्विक आनन्द प्राप्त होता है, उत्साह की वृद्धि होती है और क्रोध वृत्ति अपने आप घट जाती है। यह क्रोध के मगलीकरण की प्रतिक्रिया है।

दूसरी कषाय 'मान' है। यह अहकार, अभिमान, दर्प आदि शब्दो द्वारा प्रकट किया जाता है। इसमे मनुष्य अपने को दूसरो की अपेक्षा बडा समझता है और दूसरो से आदर सत्कार की अपेक्षा रखता है। यह आकाक्षा वेश-विन्यास, आडम्बर, धन-वैभव का प्रदर्शन या अन्य बाह्य तत्त्वो के आधार पर पूरी की जाती है तो वह हेय है किन्तु यदि उसी आकाक्षा को दूसरो की सहायता, उदारता तथा आन्तरिक गुणो के विकास द्वारा पूरा किया जाए तो व्यक्ति समाजहित के साथ-साथ आत्म-शुद्धि की ओर अग्रसर होता है।

तीसरी कषाय 'माया' है। दूसरे की निन्दा, कपट, कुटिलता आदि इसी मे आते हैं। जब इसका प्रयोग किसी के प्रति ईर्ष्या या बुरी भावना से प्रेरित होकर किया

जाता है तो हेय है, परन्तु यदि इसका प्रयोग दूसरो के हित साधन या रचनात्मक कार्यो मे किया जाए तो उसीका नाम कार्य कुशलता हो जाता है जो समाज के लिए उपयोगी तत्त्व है।

चौथी कषाय 'लोभ' है। व्यक्ति जब धन सम्पत्ति या अन्य किसी बाह्य वस्तु मे इतना आसक्त हो जाता है कि भले बुरे का विवेक नही रहता, उस वस्तु की प्राप्ति के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाता है तो वह लोभ है, और वह हेय है किन्तु यदि मूर्छा अथवा आसक्ति को कम करते हुए लगन या निष्ठा को कायम रखा जाय तो वही वृत्ति उपयोगी तत्त्व बन जाती है।

राग, द्वेष आदि अन्य पाप वृत्तियो को भी इसी प्रकार परिष्कृत और मगलमय बनाया जा सकता है। श्रावक की चर्या मे इसी मगलीकरण की मुख्यता है। वह सामाजिकता के द्वारा चित्त का परिष्कार करता है और इस प्रकार आत्मशुद्धि की ओर बढता है।

जहाँ समाज सगठन का लक्ष्य 'स्व' वर्ग तक सीमित है और उसके सामने विश्व-कल्याण या आत्मशुद्धि सरीखा कोई पारमार्थिक लक्ष्य नही है। वहाँ सामाजिकता या राष्ट्रीयता घातक बन जाती है। हिटलर कालीन जर्मनी तथा दूसरो के उत्पीडन द्वारा अपने भौतिक विकास की इच्छा करने वाले अनेक सगठनो के उदाहरण हमारे सामने हैं। उन्हे स्वस्थ समाज नही कहा जा सकता। रचनात्मक कार्य की दृष्टि से सामाजिकता किसी क्षेत्र तक सीमित रह सकती है किन्तु उसका लक्ष्य सर्वोदय या आत्मकल्याण ही होना चाहिए, तभी उसे स्वस्थ सामाजिकता कहा जा सकता है। प्रत्येक श्रावक प्रतिदिन घोषणा करता है, कि 'मेरी सब प्राणियो से मित्रता है।' 'किसी से वैर नही है।' सैद्धान्तिक दृष्टि मे व्यापक होने पर भी मित्रता का विध्यात्मिक रूप असीम नही हो सकता, अत उसके साथ यह भी लगा हुआ है कि मेरा किसी से वैर नहीं है। अर्थात् क्षेत्र विशेष मे मित्रता का पोषण दूसरो के शोषण द्वारा नही होना चाहिए। यह आदर्श स्वस्थ समाज रचना के लिए अनिवार्य है।

द्वितीय खण्ड

उपासकदशांग-अन्तरंग परिचय

जैन साधना या विकास का मार्ग—

जैन धर्म के अनुसार साधना द्वारा किसी वाह्य वस्तु की प्राप्ति नही की जाती, किन्तु अपना ही स्वरूप जो वाह्य प्रभाव के कारण छिप गया है, प्रकट किया जाता है। जव आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो वही परमात्मा वन जाता है। परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन साधना का लक्ष्य है। इस पद की प्राप्ति के लिए जीव अपने विकारो को दूर करता हुआ क्रमश आगे वढता है। विकास की इन अवस्थाओ को गुण-श्रेणी कहा जाता है। इनका विभाजन आचार्यों ने कई प्रकार से किया है। पूज्यपाद ने अपने समाधि-तन्त्र मे नीचे लिखी तीन श्रेणिया वताई हैं—

१ वहिरात्मक—मिथ्यात्व से युक्त आत्मा, जो वाह्य प्रवृत्तियो मे फसा हुआ और आत्मोन्मुख नही हुआ।

२ अतरात्मा—सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् और पूर्ण विकास से पहले, साधक आत्मा।

३ परमात्मा—पूर्ण विकास कर लेने के पश्चात्।

गुणस्थानो की दृष्टि से उन्ही को चोदह श्रेणियो मे वाँटा गया है। कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा से उन्हे चार श्रेणियो मे वाटा गया है।

आत्मा मे जो चार अनन्त वताए गए हैं उनको दवाने वाले चार कर्म ह। ज्ञानावरणीय कर्म अनन्त ज्ञान को ढापता है, दर्शनावरणीय दर्शन को, अन्तराय वीर्य को और मोहनीय आध्यात्मिक सुख को। इनमे से पहले तीन कर्मो का नाश विकास की अन्तिम अवस्था मे होता है। वीच की अवस्था मे जो विकास होता है वह मोहनीय कर्म के क्रमिक हटने से सम्बन्ध रखता है। ज्यो ज्यो मोहनीय का प्रभाव कम होता जाता है त्यो-त्यो जीव ऊची श्रेणियो मे चढता जाता है। और अन्त मे उसका सर्व नाश करके कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। वौद्ध दर्शन मे जो स्थान तृष्णा का है, वही स्थान जैन दर्शन मे मोह का है। जिसे कर्म सिद्धान्त मे मोहनीय-

कर्म कहा जाता है। इसके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा। दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व या विपरीत श्रद्धा को उत्पन्न करता है। उसका प्रभाव हटने पर ही जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। इसलिए आध्यात्मिक विकास-क्रम मे पहला कदम सम्यक्त्व है।

चारित्रमोहनीय चारित्र का बाधक है। उसके कारण जीव क्रोध, मान, माया तथा लोभ मे फसा रहता है। उपरोक्त कषायो की तीव्रता एव मन्दता के आधार पर प्रत्येक के चार भेद किए गए हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी और सज्वलन। इनमे अनन्तानुबन्धी तीव्रतम है। उसके रहते जीव सम्यक्त्व को भी नही प्राप्त कर सकता। उसे तथा दर्शन मोहनीय को दूर करके ही जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। दूसरी शक्ति अप्रत्याख्यानावरणी को दूर करके वह श्रावक बनता है, तीसरी को दूर करके साधु और चौथी को दूर करके परमात्मा। इसी आधार पर विकास मार्ग का भी नीचे लिखी चार श्रेणियो मे विभाजन किया जाएगा—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, साधु और केवली।

सम्यग्दृष्टि—

आत्म शुद्धि के मार्ग पर चलने की पहली सीढी सम्यक्त्व है। इसी को सम्यग्-दर्शन या सम्यग्दृष्टि भी कहा जाता है। सम्यक्त्व का अर्थ है ठीक रास्ते को प्राप्त करना। जब जीव इधर-उधर भटकना छोडकर आत्म विकास के ठीक रास्ते को प्राप्त कर लेता है, तो उसे सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्व वाला कहा जाता है। ठीक मार्ग को प्राप्त करने का अर्थ है, मन मे पूरी श्रद्धा होना कि यही मार्ग कल्याण की ओर ले जाने वाला है। उस मार्ग पर चलने की रुचि जागृत होना और विपरीत मार्गों का परित्याग करना।

शास्त्रो मे सम्यक्त्व के दो रूप मिलते हैं—पहला बाह्य रूप है। इस का अर्थ है देव, गुरु और धर्म मे श्रद्धा। दूसरा आभ्यन्तररूप है, इसका अर्थ है आत्मा की वह निर्मलता जिससे सत्य को जानने की स्वाभाविक अभिरुचि जागृत हो जाए। नीचे इन दोनो रूपो का वर्णन किया जायगा।

सम्यक्त्व का बाह्य रूप—

जब कोई व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है, तो नीचे लिखी प्रतिज्ञा करता है—

अरिहंतो मह देवो, जाव जीवाए सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्त तत्त, इअ सम्मत्त मए गहिय ॥

अर्थात्—समस्त जीवन के लिए अरिहन्त मेरे देव हैं । साधु गुरु हैं और जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादन किया हुआ तत्त्व ही धर्म है । इस प्रकार मैं सम्यक्त्व को ग्रहण करता हूँ ।

देव—

सम्यक्त्व की व्यवस्था मे सबसे पहले देव-तत्त्व आता है । भारतीय परम्परा मे उसकी कल्पना के दो रूप हैं । पहला रूप वैदिक परम्परा मे मिलता है । उसमे देव की कल्पना वरदाता के रूप मे की गई है । इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओ की स्तुति करने से वे इच्छापूर्ति करते थे । उसके बाद जब अनेक देवताओ का स्थान एक देवता ने ले लिया तो वह भी भक्तो को सुख देने वाला बना रहा । जिन धर्मों का मुख्य ध्येय सासारिक सुखो की प्राप्ति है, उन्होने देवतत्त्व को प्राय इसी रूप मे माना है ।

जैन धर्म अपने देवता से किसी वरदान की आशा नही रखता । वह उसे आदर्श के रूप मे स्वीकार करता है । वास्तव मे देखा जाय तो आत्मशुद्धि के मार्ग मे वरदान का कोई स्थान नही है । इस मार्ग मे आगे बढने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वय परिश्रम करना होता है । कदम कदम बढा कर आगे चलना होता है । कोई किसी को उठा कर आगे नही रख सकता । यहाँ कोई दूसरा यदि उपयोगी हो सकता है तो इतना ही कि मार्ग बताने के लिए आदर्श उपस्थित कर दे । जिससे साधक उस लक्ष्य को सामने रख कर चलता रहे । जैन धर्म का देवतत्त्व उसी आदर्श का प्रतीक है । वह बताता है कि हमे कहाँ पहुँचना है । वह हमारी यात्रा का चरम लक्ष्य है ।

अरिहन्त और ईश्वर—

पातञ्जलयोगदर्शन मे भी ईश्वर की कल्पना आदर्श के रूप मे की गई है । उसमे बताया गया है कि जो पुरुष विशेष सासारिक क्लेश, कर्म विपाक तथा उनके फल से सदा अछूता रहा है, वही ईश्वर है । उसीका ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है । और साधक उत्तरोत्तर विशुद्धि तथा ऊँची समाधि को प्राप्त करता है । जैन धर्म मे भी अरिहन्त का ध्यान उसी उद्देश्य से किया जाता है । किन्तु अरिहन्त

और योगदर्शन के ईश्वर मे भी एक भेद है। योगदर्शन का ईश्वर कभी कर्मो मे लिप्त नही हुआ। वह सदा से अलिप्त है। इसके विपरीत अरिहन्त हमारे सरीखी साधारण अवस्था से उठ कर परम अवस्था को पहुंचे है। वे जीवात्मा मे परमात्मा बने हैं। योगदर्शन का ईश्वर सदा से मित्र है। जैन धर्म के अरिहन्त साधना द्वारा सिद्ध हुए हैं। योगदर्शन के ईश्वर आदर्श थे और आदर्श रहेगे। जीव उस अवस्था को कभी नही पहुँच सकता। अरिहन्त भी आदर्श हैं, किन्तु साधना करता हुआ प्रत्येक जीव उनके बराबर हो सकता है। योगदर्शन का ईश्वर समुद्र मे चलने वाले जहाजो के लिए ध्रुव के समान है। जिसे देख कर सभी चलते हैं किन्तु वहाँ पहुँचता कोई नही। अरिहन्त परले किनारे पर पहुँचे हुए जहाज के प्रकाश स्तम्भ के समान हैं जहाँ पहुँचने पर प्रत्येक जहाज स्वय प्रकाशस्तम्भ बन जाएगा।

अरिहन्त शब्द की व्याख्या—

अरिहन्त शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। पहली व्याख्या के अनुसार अरिहन्त शब्द का अर्थ है—शत्रुओ का नाश करने वाला। जिस साधक ने क्रोध, मान माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्म-शत्रुओ का नाश कर दिया है, वही अरिहन्त है। जैन साधक अपने आदर्श के रूप मे ऐसे व्यक्तित्व को रखता है जिसने आत्मा की सभी दुर्बलताओ का अन्त कर दिया है। 'अरिहन्त' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति "अर्हत्" के रूप मे की जाती है। इसका अर्थ है योग्य। जो जीव आत्म-विकास करते हुए पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, मुक्त होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, वह अर्हत् है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा मे अनन्तज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त सुख है और अनन्त वीर्य है। कर्मो के आवरण के कारण आत्मा की ये शक्तियाँ दबी हुई हैं। अर्हत् अवस्था मे वे पूर्णतया प्रकट हो जाती है। इस शब्द की तीसरी व्युत्पत्ति सस्कृत की 'अर्ह पूजाया धातु से की जाती है, अर्थात् जो व्यक्ति पूजा के योग्य है वह अर्हत् है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। जैन धर्म, देवतत्त्व के रूप मे किसी व्यक्ति विशेष को स्वीकार नही करता। जिस आत्मा ने पूर्ण विकास कर लिया वह चाहे कोई हो, अरिहन्त है और देव के रूप मे वन्दनीय है।

यद्यपि जैन परम्परा इतिहास के रूप मे चौबीस तीर्थकरो तथा दूसरे महापुरुषो को मानती है। उन्हे वन्दना भी करती है किन्तु इसलिए कि उन्होने आत्मा का

पूर्ण विकास कर लिया। उसमे गुणो का महत्व है, व्यक्ति का नही। प्रत्येक नए काल के साथ नए तीर्थकर उत्पन्न होते हैं, नए युगप्रवर्तक होते हैं, नए वन्दनीय होते हैं। पुराने मोक्ष चले जाते हैं, फिर वापिस नही लौटते। धीरे-धीरे उनकी स्मृति भी काल के गर्भ मे विलीन हो जाती है। नए युग की जनता नए तीर्थकरो की वदना करती है। पुरानो को भूल जाती हे। अरिहन्त न तो ईश्वर के अवतार हैं, न ईश्वर के भेजे हुए दूत ह, न ईश्वर के अश हैं। वे वह आत्माएँ हैं जिन्होने अपने आप मे सोए हुए ईश्वरत्व को प्रकट कर लिया है। जो अपनी तपस्या तथा परिश्रम के द्वारा जीवात्मा से परमात्मा बने हैं। जैन धर्म उन्ही को देव के रूप मे मानता है।

गुरु—

देवतत्त्व के बाद दूसरा नम्बर गुरुतत्त्व का आता है। प्रत्येक जैन यह प्रतीज्ञा करता है कि साधु मेरे गुरु हैं। साधु का अर्थ है पाँच महाव्रतो की साधना करने वाला। वे महाव्रत निम्नलिखित हैं—

(१) पाणाइवाआओ वेरमण—प्राणातिपात अर्थात् हिंसा का परित्याग।
(२) मुसावाआओ वेरमण—मृषावाद अर्थात् असत्य भाषण का परित्याग।
(३) अदिन्नादानाओ वेरमण—अदत्तादान अर्थात् चोरी का परित्याग।
(४) मेहुणाओ वेरमण—मैथुन का परित्याग।
(५) परिग्गहाओ वेरमण—परिग्रह का त्याग।

इन महाव्रतो की रक्षा के लिए साधु पाँच समितियाँ तथा तीन गुप्तियो का पालन करता हे। बाइस परीषहो को जीतता है। भिक्षाचरी, निवास, विहार, भोजन आदि प्रत्येक चर्या मे सावधान रहता है।

सयम के लिए आवश्यक उपकरणो को छोडकर अपने पास कोई परिग्रह नही रखता। रुपया, पैसा तथा धातु से बनी हुई वस्तुएँ रखना भी जैन साधु के लिए वर्जित है। वस्त्र-पात्र भी इतने ही रखते हैं जिन्हे स्वय उठा सके। विहार मे किसी सवारी को काम मे नही लाते। सदा पैदल चलते हैं। अपना सारा सामान अपने ही कंधो पर उठाते हैं, नौकर या कुली नही रखते। स्वावलम्बन उनकी चर्या का मुख्य अङ्ग है।

प्राकृत भाषा मे जैन साधुओ के लिए समण शब्द का प्रयोग होता है। उसके

संस्कृत मे तीन रूप होते है—श्रमण, शमन और समन। इन तीन रूपो मे जैन साधु की चर्या का निचोड आ जाता है। सबसे पहले जैन साधु श्रमण होता है। वह आध्यात्मिक तथा अधिभौतिक सभी बातो मे अपने ही श्रम पर निर्भर रहता है। आध्यात्मिक विकास के लिए तपस्या तथा सयम द्वारा स्वय श्रम करता है। भौतिक निर्वाह के लिए भी दूसरे पर निर्भर नही रहता। अपने सारे काम स्वय करता है। भिक्षा के लिए भी कई घरो मे थोडा-थोडा आहार लेकर अपना निर्वाह करता है। किसी पर बोझ नही बनता। जैन साधु शमन भी होता है। वह क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायो तथा इन्द्रिय-वृत्तियो का शमन करता है। अपनी आवश्यकताओ तथा इच्छाओ को सीमा मे रखता है। अन्तिम किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साधु समता का आराधक होता है। वह सभी प्राणियो पर सम-दृष्टि रखता है। न किसी को शत्रु समझता है, और न किसी को मित्र। सुख और दुःख मे समान रहता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता मे समान रहता है। निन्दा और स्तुति मे समान रहता है। स्व और पर के प्रति समान रहता है। इस प्रकार वह समस्त विश्व को समान दृष्टि से देखता है। इसी बात को लक्ष्य मे रख कर उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है, "समयाए समणो होइ।"

देवतत्त्व साधना के आदर्श को उपस्थित करता है तो गुरुतत्त्व साधना का मार्ग बताता है। साधक को इधर उधर विचलित होने से रोकता है। शिथिलता आने पर प्रोत्साहन देता है। गर्व आने पर शान्त करता है।

धर्म तत्त्व—

सम्यक्त्व मे तीसरी बात धर्म तत्त्व अर्थात् दार्शनिक सिद्धान्तो की है। इसके लिए जैन कहता है कि जिन ने जो कुछ कहा है वही मेरे लिए तत्त्व है। जैन शब्द भी इसी आधार पर बना है। जिनो के द्वारा बताए हुए रास्ते पर चलने वाला जैन है।

जिन का अर्थ है जिसने राग, द्वेष को जीत लिया है। शास्त्रो मे जिन की परिभाषा देते हुए दो बाते बताई जाती हैं। पहली—जिसने राग, द्वेष को जीत लिया है। दूसरी जिसने पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। कोई व्यक्ति जब गलत बात कहता है तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो कहने वाला उस बात को पूरी तरह जानता ही नही या जानते हुए भी किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर अन्यथा

कहता है। जिसमे ये दोनो दोष नही हैं। वे पूर्णज्ञानी भी है और स्वार्थो से ऊपर हैं। इसलिए उनके द्वारा कही हुई बात मिथ्या नही हो सकती।

यहाँ बुद्धि-वादियो की ओर से यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति प्रत्येक बात को अपनी बुद्धि से जाँच कर क्यो न स्वीकार करे। किन्तु यह शर्त ठीक नही है। मनुष्य की बुद्धि इतनी क्षुद्र है कि सभी बातो का परीक्षण वह स्वय नही कर सकती। विज्ञान के क्षेत्र मे भी हमे प्राचीन अन्वेषणो को मान कर चलना होता है। यदि नया युग पुराने अनुभवो से लाभ न उठाए और प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्वेषण नए सिरे से प्रारम्भ करे तो प्रगति असम्भव है। हम जहाँ थे, वहाँ रह जाएँगे। इसलिए पुराने अनुभवो पर विश्वास करते हुए आगे बढना होता है। कुछ दिनो बाद व्यक्ति स्वय उन अनुभवो को साक्षात्कार कर लेता है। उस समय दूसरे के अनुभव पर विश्वास के स्थान पर सारा अनुभव अपना ही बन जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे इसी को कैवल्य अवस्था कहते हैं। उस दशा को प्राप्त करने से पहले दूसरे के अनुभवो पर विश्वास करना आवश्यक है।

बुद्धि मे एक दोष और भी है। वह प्राय हमारे मन मे जमे हुए अनुराग के सस्कारो का समर्थन करती है। यदि हम किसी को अच्छा मानते हैं तो बुद्धि उसी का समर्थन करती हुई दो गुण बता देगी। यदि किसी को बुरा मानते हैं तो बुद्धि उसके दोष निकाल लेगी। बुद्धि के आधार पर सत्य को तभी जाना जा सकता है जब चित्त शुद्ध हो। यह अनुराग और घृणा से ऊँचा उठा हुआ हो। चित्त शुद्धि के लिए साधना आवश्यक और श्रद्धा उसका पहला पाया है। हाँ, श्रद्धेय मे जिन गुणो की आवश्यकता है उसे जिन शब्द द्वारा स्पष्ट बता दिया गया है। जो व्यक्ति राग, द्वेष से रहित तथा पूर्ण ज्ञान वाला है चाहे कोइ भी हो उसकी वाणी मे विश्वास करने से कोई हानि नही है।

इसी बात को ऐतिहासिक दृष्टि से लिया जाता है तो श्रुतज्ञान या जैन आगमो की चर्चा की जाती है। जो ज्ञान दूसरो के अनुभव सुनकर प्राप्त किया जाय उसे श्रुत-ज्ञान कहा जाता है। जैन परम्परा मे जो ज्ञानवान् महापुरुष हुए हैं उनका अनुभव आगमो मे मिलता है, इसीलिए आगमो मे श्रद्धा रखने का प्रतिपादन किया जाता है।

सम्यक्त्व का आभ्यन्तर रूप—

देव, गुरु और धर्म मे विश्वास के रूप मे सम्यक्त्व का जो स्वरूप बताया गया है, वह बाह्य कारणो की अपेक्षा रखता है, इसलिए बाह्य है। सम्यक्त्व का आभ्यन्तर रूप आत्मा की शुद्धि पर निर्भर है। वास्तव मे देखा जाय तो बाह्य रूप आभ्यन्तर रूप की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जब आत्मा मे विशेष प्रकार की शुद्धि आती है तो जीव मे सत्य को जानने की स्वाभाविक रुचि प्रकट होती है। उस शुद्धि से पहले जीव सासारिक सुखो मे फँसा रहता है।

जब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि जीव मे पहले-पहल उस प्रकार की शुद्धि कैसे आती है। इसके लिए सक्षेप मे आत्मा का स्वरूप और उसके ससार मे भटकने के कारणो को जानना आवश्यक है। जैन धर्म के अनुसार आत्मा अनादि तथा अनन्त है। न तो यह कभी उत्पन्न हुआ और न कभी नष्ट होगा। चार अनन्त इसके स्वभाव है–अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य। अर्थात् आत्मा अनन्त वस्तुओ को जान सकता है। वह अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति का भडार है।

आत्मा के ये गुण कर्मबन्ध के कारण दबे हुए है। कर्मो के कारण वह अल्पज्ञ, अल्पद्रष्टा, अल्पसुखी तथा अल्पशक्ति बना हुआ है। कर्मो का बन्धन दूर होते ही उसके स्वभाविक गुण प्रकट हो जाएँगे और वह अनन्तज्ञानी, अनन्तद्रष्टा, अनन्तसुखी तथा अनन्तशक्ति वाला बन जाएगा। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है कर्मबन्धन से छुटकारा पाने का प्रयत्न। कर्मो का आवरण जैसे-जैसे पतला और अल्प होता जाता है आत्मा के गुण अपने आप प्रकट होते जाते है।

कर्म दो प्रकार के है——द्रव्यकर्म और भावकर्म। पुद्गल द्रव्य के वे परमाणु जो आत्मा के साथ मिल कर उसकी विविध शक्तियो को कुण्ठित कर डालते है वे द्रव्यकर्म कहलाते है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वे सस्कार जो आत्मा को बहिर्मुखी बनाए रखते है, उसे अपने स्वरूप का भान नही होने देते वे भावकर्म है। इन कर्मो के कारण जीव अनादिकाल से ससार मे भटकता रहा है और तब तक भटकता रहेगा जबतक उनसे छुटकारा नही पा लेता।

सम्यक्त्व के पाँच चिन्ह—

सम्यग्दृष्टि के जीवन मे स्वाभाविक निर्मलता आ जाती है। उसका चित्त शान्त हो जाता है। दृष्टि दूसरे के गुणो पर जाती है, दोषो पर नही। दुखी को

देखकर उसके मन मे स्वाभाविक करुणा उत्पन्न होती है। विना किसी स्वार्थ के दूसरे की सेवा करके उसके मन मे प्रसन्नता होती है। शास्त्रो मे सम्यग्दृष्टि के पाँच चिन्ह वताए गए हैं—

१ शम—सम्यग्दृष्टि व्यर्थ के झगडे तथा कदाग्रहो से दूर रहता है, उसकी वृत्तिया शान्त होती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय मन्द होते हैं। राग और द्वेष मे उत्कटता नही होती। इसी का नाम शम है।

२ सवेग—सम्यग्दृष्टि का मन सासारिक सुखो की ओर आकृष्ट नही होता। गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी उसका मन त्याग की ओर झुका रहता है। शास्त्रो मे इसकी उपमा तप्त-लोह पदन्याम से दी है। जिस प्रकार किसी मनुष्य को तपे हुए लोहे पर चलने के लिए कहा जाय तो वह डरते-डरते पैर रखता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सासारिक प्रपचो मे डरते-डरते घुसता है।

३ निर्वेद—सासारिक भोगो के प्रति स्वाभाविक उदासीनता।

४ अनुकम्पा—ससार के सभी प्राणियो का दुःख दूर करने की इच्छा।

५ आस्तिक्य—आत्मा आदि तत्त्वो के अस्तित्व मे दृढ विश्वास।

सम्यक्त्व के भेद—

कारक, रोचक तथा दीपक—

यह वताया जा चुका है कि देव, गुरु और धर्म मे दृढ श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। विश्वास कई प्रकार का होता है। असली विश्वास वह है जो कार्य करने की प्रेरणा दे। हमे यदि विश्वास हो जाय कि जिस कमरे मे हम वैठे हैं उसमे साप है तो कभी निश्चिन्त होकर नही वैठ सकते। वार-वार चारो ओर दृष्टि दौडाते रहेगे और पूरी तरह सावधान रहेगे। कोशिश यह करेगे कि जल्दी से जल्दी उस कमरे से वाहर निकल जाये। इसी प्रकार जिस व्यक्ति मे यह विश्वास जम गया कि सासारिक काम-भोग दुर्गति मे ले जाने वाले हैं वह कभी निश्चिन्त होकर नही वैठ सकता। वह कभी धन, सम्पत्ति, सन्तान आदि के मोह मे नही फस सकता। कर्त्तव्य बुद्धि से जव तक गृहस्थ अवस्था मे रहेगा, निर्लेप होकर रहेगा। हमेशा यह भावना रखेगा कि इस प्रपच से छुटकारा कव मिले। इस प्रकर की चित्तवृत्ति को सम्यक्त्व कहा जाता है। वह मनुष्य को कुछ करने के लिए प्रेरित करता है। वहाँ सोचना और करना एक-साथ चलते हैं। यही सम्यक्त्व मनुष्य को आगे वढाता है।

रोचक सम्यक्त्व—

कुछ लोगो का विश्वास रुचि उत्पन्न करके रह जाता है। ऐसे विश्वास वाला व्यक्ति धर्म मे श्रद्धा करता है, धर्म की बाते उसे सुनना अच्छा लगता है। धार्मिक पुरुषो के दर्शन व धर्मचर्चा मे आनन्द आता है किन्तु वह कुछ करने के लिए तैयार नही होता। ऐसे सम्यक्त्व को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं।

दीपक सम्यक्त्व—

कुछ लोग श्रद्धावान् न होने पर भी दूसरो मे श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ऐसा सम्यक्त्व दीपक सम्यक्त्व कहलाता है। वास्तव मे देखा जाय तो यह मिथ्यात्व ही है। फिर भी दूसरो मे सम्यक्त्व का उत्पादक होने से सम्यक्त्व कहा जाता है।

सम्यक्त्व के पाच अतिचार—

ऊपर बताया जा चुका है कि अगीकृत मार्ग मे दृढ विश्वास साधना की प्रथम भूमिका है। डावाडोल मन वाला साधक आगे नही बढ सकता। उसे सदा सावधान रहना चाहिए कि मन मे किसी प्रकार की अस्थिरता या चचलता तो नही आ रही है। जैन शास्त्रो मे इसके निम्नलिखित पाँच दोष बताए गए हैं—

१ शका—शास्त्रो द्वारा प्रतिपादित तात्त्विक बातो मे सन्देह होना। जिस व्यक्ति की आत्मा उसके ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणो तथा उनको आच्छन्न करने वाले कर्मो को उनसे छुटकारा प्राप्त करने के लिए प्रतिपादित मार्ग मे विश्वास नही है वह आगे नही बढ सकता। अत सिद्धान्तो मे अविचल विश्वास होना आवश्यक है। उनमे शका या सन्देह होना सम्यक्त्व का पहला दोष है।

२ काक्षा—अपने मार्ग को छोड कर दूसरे मार्ग की ओर झुकाव। प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति जिन बातो से अधिक परिचित हो जाता है उनके प्रति आकर्षण कम हो जाता है और नई बाते अच्छी लगती हैं। अंगीकृत मार्ग मे भी ऐसी कठिनाइया आने लगती हैं, लेकिन यह हृदय की दुर्बलता है। साधना का मार्ग कठोर है और कठोर रहेगा। उससे बचने के लिए इधर-उधर भागना एक प्रकार का विघ्न है। आज-कल धार्मिक उदारता के नाम पर इस दोष को प्रश्रय दिया जा रहा है और एक निष्ठा को साम्प्रदायिकता या सकुचित मनोवृत्ति कह कर बदनाम किया जा रहा है। इन दोनो का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए, यदि धार्मिक कट्टरता दूसरो से द्वेष या घृणा के लिये प्रेरित करती है तो यह वास्तव मे बुरा है।

धर्म किसी से द्वेष करने के लिये नही कहता, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि सभी मार्गो को एक सरीखा कह कर किसी पर चलने का प्रयत्न न किया जाय। एक ही लक्ष्य पर अनेक मार्ग पहुँच सकते हैं किन्तु चलना एक ही पर होगा। जैन शास्त्रो मे सिद्धो के जो पन्द्रह भेद बताए गए हैं उनमे स्वलिंग सिद्ध के समान परलिंग सिद्ध को भी स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ है कि साधक साधु के वेश मे हो या अन्य किसी वेश मे, जैन परम्परा का अनुयायी हो या अन्य का, चारित्र शुद्धि द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। फिर भी किसी एक मार्ग को पकड कर उस पर दृढतापूर्वक चलना आवश्यक है। सर्व-धर्म समभाव का यह अर्थ नही है कि किसी पर न चला जाय। जो व्यक्ति आन्दोलन द्वारा लोक प्रिय बनना चाहता है वह कैसी ही बाते करे किन्तु किसी दूसरे मार्ग को बुरा न मानते हुए भी चलना किसी एक पर ही होगा, साधक का कल्याण इसी मे है। एक लक्ष्य और एक निष्ठा साधना के अनिवार्य तत्त्व हैं। प्रथम दोष लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है और द्वितीय निष्ठा से।

३ विचिकित्सा—फल के प्रति सन्देहशील होना। धार्मिक साधना का अंतिम फल मोक्ष या निर्वाण है। आवान्तर फल आत्म शुद्धि है जो निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास के पश्चात् प्राप्त होती है। तब तक साधक को धैर्य रखना चाहिये और अपने अनुष्ठानो मे लगे रहना चाहिए। लक्ष्य सिद्धि के प्रति सन्देहशील होना साधना का तीसरा दोष है।

४ पर-पाषड प्रशसा—इसका अर्थ है अन्य मतावलम्बी की प्रशसा करना। यहाँ 'पर' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। पहला अर्थ है स्वय जिस मत को स्वीकार किया है उससे भिन्न मत की प्रशसा। उदाहरण के रूप मे बताया गया है कि व्यक्ति पुरुषार्थ तथा पराक्रम द्वारा अपने भविष्य को बदल सकता है। उसे बनाना या बिगाडना उसके हाथ मे है। इसके अतिरिक्त गोशालक नियतिवाद को मानता है उसका कथन है कि पुरुषार्थ व्यर्थ है जो कुछ होना है अवश्य होगा। उसमे परिवर्तन लाना सम्भव नही है। तीसरी परम्परा ईश्वरवादियो की है जिनका कथन है कि हमारा भविष्य किसी अतीन्द्रिय शक्ति के हाथ मे है हमे अपने उद्धार के लिये उसी से प्रार्थना करनी चाहिए। इन मान्यताओ के सत्यासत्य की चर्चा मे न जाकर यहा इतना कहना ही पर्याप्त है कि साधक इनकी प्रशसा करता है या इन के प्रति

सहानुभूति रखता है तो उसकी निष्ठा मे शिथिलता आ जायेगी, अत इस से बचे रहने की आवश्यकता है। 'पर' शब्द का दूसरा अर्थ अन्य मतावलम्बी है। शिष्टाचार के नाते सभी को आदर देना साधक का कर्त्तव्य है। किन्तु प्रशसा का अर्थ है उसकी विशेषताओ का अभिनन्दन। यह तभी हो सकता है जब साधक या तो उन्हे अच्छा मानता है या हृदय मे बुरा मानता हुआ भी ऊपर से तारीफ करता है। पहली बात शिथिलता है जो कि साधना का विघ्न है, दूसरी बात कपटाचार की है जो चारित्र शुद्धि के विपरीत है।

५. पर-पापड सस्तव—इसका अर्थ है भिन्न मत या उसके अनुयायी के साथ परिचय या मेल-मिलाप रखना। यह भी एक-निष्ठा का बाधक है। पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन मे चित्त विक्षेप के रूप मे साधना के नौ विघ्न बतलाए हैं—व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। इनमे सशय उपरोक्त शका के समान है और भ्रातिदर्शन विचिकित्सा के समान। बौद्ध धर्म मे इन्ही के समान पाँच नीवरण बताए गए हैं।

श्रावक-धर्म

जैन साधक की दूसरी श्रेणी श्रावक-धर्म है। इसे सयमासयम, देशविरति, गृहस्थ-धर्म आदि नामो द्वारा प्रकट किया जाता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि श्रमण परम्परा में त्याग पर अधिक बल दिया गया है। वहाँ विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है और यदि बाह्य सुख सामग्री उसमे बाधक है तो उसे भी हेय बताया गया है। फिर भी जैन परम्परा ने आध्यात्मिक विकास की मध्यम श्रेणी के रूप मे एक ऐसी भूमिका को स्वीकार किया है जहाँ त्याग और भोग का सुन्दर समन्वय है। बौद्ध सघ मे केवल भिक्षु ही सम्मिलित किये जाते हैं, गृहस्थो के लिये स्थान नही है। किन्तु जैन सघ मे दोनो सम्मिलित हैं। जहाँ तक मुनि की चर्या का प्रश्न है जैन परम्परा ने उसे अत्यन्त कठोर तथा उच्चस्तर पर रखा है। बौद्ध भिक्षु अपनी चर्या मे रहता हुआ भी अनेक प्रवृत्तियो मे भाग ले सकता है किन्तु जैन मुनि ऐसा नही कर सकता। परिणामस्वरूप जहाँ तप और त्याग की आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्वलित रखना साधु सस्था का कार्य है, सघ के भरण-पोपण एव बाह्य सुविधाओ का ध्यान रखना श्रावक सस्था का कार्य है।

जैन साहित्य मे श्रावक शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। पहला, "श्रू" धातु से बना हैं, जिसका अर्थ है सुनना। जो सूत्रो का श्रवण करता है और तदनुसार चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है वह श्रावक है। श्रावक शब्द से साधारणतया यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। प्रतीत होता है जैन परम्परा मे श्रावको द्वारा स्वय शास्त्राध्ययन की परिपाटी नही रही। यत्र तत्र साधुओ के अध्ययन और उन्हे पढाने वाले वाचनाचार्य का वर्णन मिलता है। अध्ययन करने वाले साधुओ की योग्यता तथा आवश्यक तपोनुष्ठान का विधान भी किया गया है। इसका दूसरा अर्थ "श्रा-पाके" धातु के आधार पर किया जाता है। इस धातु से सस्कृत रूप "श्रापक" बनता है जिसका प्राकृत मे "सावय" हो सकता है किन्तु सस्कृत मे "श्रावक" शब्द के साथ इसकी सगति नही बैठती। इस शब्द का आशय है वह व्यक्ति, जो भोजन पकाता है।

श्रावक के लिए बारह व्रतो का विधान है। उनमे से प्रथम पाँच अणु-व्रत या शील-व्रत कहे जाते हैं। अणु-व्रत का अर्थ है छोटे व्रत। साधु हिंसा आदि का पूर्ण परित्याग करता है अतः उसके व्रत महाव्रत कहे जाते हैं। श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप मे करता है अत उसके अणुव्रत कहे जाते हैं। शील का अर्थ है आचार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच चारित्र या आचार की आधार शिला हैं। इसीलिए इनको शील कहा जाता है। बौद्ध साहित्य मे भी इनके लिए यही नाम मिलता है। योग-दर्शन मे इन्हे यम कहा गया है और अष्टाग योग की आधारशिला माना गया है। और कहा गया है कि ये ऐसे व्रत हैं जो सार्वभौम हैं। व्यक्ति, देश-काल तथा परिस्थिति की मर्यादा से परे हैं अर्थात् धर्माधर्म या कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निरूपण करते समय अन्य नियमो की जाँच अहिंसा आदि के आधार पर करनी चाहिए। किन्तु इन्हे किसी दूसरे के लिए गौण नही बनाया जा सकता। हिंसा प्रत्येक अवस्था मे पाप है उसके लिए कोई अपवाद नही है। कोई व्यक्ति हो या कैसी ही परिस्थिति हो हिंसा पाप है अहिंसा धर्म है, सत्य आदि के लिए भी यही बात है। किन्तु इनका पूर्णतया पालन वही हो सकता है जहाँ सब प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं। हमारी प्रत्येक हलचल मे सूक्ष्म या स्थूल हिंसा होती रहती है अत. साधक के लिए विधान है कि उस लक्ष्य पर दृष्टि रखकर यथाशक्ति आगे बढता चला जाय। साधु और श्रावक इसी प्रगति की दो कक्षाएँ हैं। श्रावक के शेष

सात व्रतो को शिक्षा-व्रत कहा गया है। वे जीवन मे अनुशासन लाते हैं। इनमे से प्रथम तीन वाह्य अनुशासन के लिए हैं और हमारी व्यावसायिक हल-चल, दैनन्दिन रहन-सहन एव शरीर सचालन पर नियत्रण करते हैं और शेप चार आतरिक शुद्धि के लिए हैं। इन दोनो श्रेणियो मे विभाजन करने के लिए प्रथम तीन को गुण व्रत और शेप चार को शिक्षा व्रत भी कहा जाता है।

इन वारह व्रतो के अतिरिक्त पूर्व भूमिका के रूप मे सम्यक्त्व-व्रत है। जहाँ साधक की दृष्टि अन्तर्मुखी वन जाती है और वह आन्तरिक विकास को अधिक महत्व देने लगता है इसका निरूपण पहले किया जा चुका है। वारह व्रतो का अनुष्ठान करता हुआ श्रावक आध्यात्मिक शक्ति का सचय करता जाता है। उत्साह वढने पर वह घर का भार पुत्र को सौंप कर धर्म-स्थान मे पहुँच जाता है और सारा समय तपस्या और आत्म-चिन्तन मे विताने लगता है। उस समय वह ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार करता है और उत्तरोत्तर वढता हुआ अपनी चर्या को मुनि के समान वना लेता है। जव वह यह देखता है कि मन मे उत्साह होने पर भी शरीर कृश हो गया है और वल क्षीण होता जा रहा है तो नही चाहता की शारीरिक दुर्वलता मन को प्रभावित करे और आत्मचिन्तन के स्थान पर शारीरिक चिन्ताएँ होने लगे। इस विचार के साथ वह शरीर का ममत्व छोड देता है। आहार का परित्याग करके निरन्तर आत्म-चिन्तन मे लीन रहता है। जहाँ वह जीवन की इच्छा का परित्याग कर देता है, वहाँ यह भी नही चाहता कि मृत्यु शीघ्र आ जाए। जीवन और मृत्यु, सुख और दु ख सव के प्रति समभाव रखता हुआ समय आने पर शान्त चित्त से स्थूल शरीर को छोड देता है। श्रावक की इस दिनचर्या का वर्णन उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथम आनन्द नामक अध्ययन मे है। अव हम सक्षेप मे इन व्रतो का निरूपण करेगे। प्रत्येक व्रत का प्रतिपादन दो भागो मे विभक्त है। पहला भाग विधान के रूप मे है। जहा साधक अपनी व्यवहार मर्यादा का निश्चय करता है उस मर्यादा को सकुचित करना उसकी अपनी इच्छा एव उत्साह पर निर्भर है किन्तु मर्यादा से आगे वढने पर व्रत टूट जाता है। दूसरे भाग मे उन दोषो का प्रतिपादन किया गया है जिनकी सम्भावना वनी रहती है और कहा गया है कि श्रावक को उन्हे जानना चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए। श्रावक के लिए दिनचर्या के रूप मे प्रतिक्रमण का विधान है। उसमे वह प्रतिदिन इन व्रतो एव

संभावित दोषो को दोहराता है किसी प्रकार का दोष ध्यान मे आने पर प्रायश्चित्त करता है और भविष्य मे उनके निर्दोष पालन की घोषणा करता है। इन सम्भावित दोषो को अतिचार कहा गया है।

जैन शास्त्रो मे व्रत के अतिक्रमण की चार कोटियाँ बताई गई हैं—

१ अतिक्रम—व्रत को उल्लघन करने का मन मे ज्ञात या अज्ञात रूप से विचार आना।

२ व्यतिक्रम—उल्लघन करने के लिए प्रवृत्ति।

३ अतिचार—व्रत का आशिक रूप मे उल्लघंन।

४ अनाचार—व्रत का पूर्णतया टूट जाना।

अतिचार की सीमा वहा तक है जब कोई दोष अनजान मे लग जाता है, जान-बूझ कर व्रत भग करने पर अनाचार हो जाता है।

अहिंसा व्रत—

अहिसा जैन परम्परा का मूल है। जैन धर्म और दर्शन का समस्त विकास इसी मूल तत्त्व को लेकर हुआ है। आचाराग सूत्र मे भगवान महावीर ने घोषणा की है कि जो अरिहन्त भूतकाल मे हो चुके है, जो वर्त्तमान मे हैं तथा जो भविष्य मे होगे उन सबका एक ही कथन है, एक ही उपदेश, एक ही प्रतिपादन है तथा एक ही उद्घोष या स्वर है कि विश्व मे जितने प्राणी, भूत, जीव या सत्व है किसी को नही मारना चाहिए। किसी को नही सताना चाहिए। किसी को कष्ट या पीडा नही देनी चाहिए। जीवन के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन समता के आधार पर करते हुए उन्होने कहा जब तुम किसी को मारना, सताना या पीडा देना चाहते हो तो उसके स्थान पर अपने को रख कर सोचो, जिस प्रकार यदि कोई तुम्हे मारे या कष्ट देवे तो अच्छा नही लगता। उसी प्रकार दूसरे को भी अच्छा नही लगता। उसी सूत्र मे भगवान् ने फिर कहा है—अरे मानव, अपने आपसे युद्ध कर, बाह्य युद्धो से कोई लाभ नही।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अहिसा के दो रूप उपस्थित किये। एक बाह्य रूप जिसका अर्थ है किसी प्राणी को कष्ट न देना। दूसरा आभ्यन्तर रूप है जिसका अर्थ है किसी के प्रति दुर्भावना न रखना, किसी का बुरा न सोचना।

दशवैकालिक सूत्र मे धर्म को उत्कृष्ट मगल वताया है। इसका अर्थ है जो आदि, मध्य तथा अन्त मे तीनो अवस्थाओ मे मगल रूप है वह धर्म है। साथ ही उसके तीन अग वताए गए हैं—१ अहिंसा, २ सयम, ३ तप। वास्तव मे देखा जाए तो सयम और तप अहिंसा के ही दो पहलू हैं। सयम का सम्बन्ध वाह्य प्रवृत्तियो के साथ है और तप का आन्तरिक मलिनताओ या कुसस्कारो के साथ। श्रावक के अणुव्रतो तथा शिक्षाव्रतो का विभाजन इन्ही दो रूपो को सामने रख कर किया गया है। सयम और तप की पूर्णता के रूप मे ही मुनियो के लिए एक ओर महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि उनकी सहायक क्रियाओ का विधान है और दूसरी ओर वाह्य आभ्यन्तर अनेक प्रकार की तपस्याओ का विधान है। पाँच महाव्रतो मे भी वस्तुत देखा जाए तो सत्य और अस्तेय, वाह्य अहिंसा अर्थात् व्यवहार के साथ सम्वन्ध रखते हैं, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आन्तरिक अहिंसा अर्थात् विचार के साथ सम्वन्ध रखते हैं।

व्यास ने पातञ्जल योग के भाष्य मे कहा है—"अहिंसा भूतानामनभिद्रोह।" द्रोह का अर्थ है ईर्ष्या या द्वेष वुद्धि उसमे मुख्यतया विचार पक्ष को सामने रखा गया है, जैन दर्शन विचार और व्यवहार दोनो पर वल देता।

जैन दर्शन का सर्वस्व स्याद्वाद है, वह विचारो की अहिंसा है इसका अर्थ है व्यक्ति अपने विचारो को जितना महत्व देता है दूसरो के विचारो को भी उतना दे। असत्य सिद्ध होने पर अपने विचारो को छोडने पर तैयार रहे और सत्य सिद्ध होने पर दूसरे के विचारो का भी स्वागत करे। जैन दर्शन का कथन है कि व्यक्ति अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणो को भी उपस्थित करते हैं। वे दृष्टिकोण मिथ्या नही होते किन्तु सापेक्ष होते हैं। परिस्थिति तथा समय के अनुसार उनमे से किसी एक का चुनाव किया जाता है। इस चुनाव को द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव शब्दो द्वारा प्रकट किया गया है।

उमास्वाति ने अपने "तत्त्वार्थसूत्र" मे हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है—"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा।" इस व्याख्या के दो भाग हैं, पहला भाग है—"प्रमत्तयोगात्।" योग का अर्थ है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति, प्रमत्त का अर्थ है—प्रमाद से युक्त। वे पाँच हैं—

१. मद्य—अर्थात् ऐसी वस्तुएँ जिनसे मनुष्य की विवेक शक्ति कुण्ठित हो जाती है।

२. विषय—रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियो के विषय, जिनके आकर्षण मे पड कर मनुष्य अपने हिताहित को भूल जाता है।

३. कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोवेग जो मनुष्य को पागल बना देते हैं।

४. निद्रा—आलस्य या अकर्मण्यता।

५. विकथा—स्त्रियो के सौन्दर्य, देश-विदेश की घटनाएँ, भोजन सम्बन्धी स्वाद तथा राजकीय उथल-पुथल आदि के सम्बन्ध मे व्यर्थ की चर्चाएँ करते रहना। प्रमाद की अवस्था मे मन, वचन और शरीर की ऐसी प्रवृत्ति करना जिससे दूसरे के प्राणो पर आघात पहुँचे यह हिंसा है। इसका अर्थ है यदि गृहस्थ हित बुद्धि से प्रेरित होकर कोई कार्य करता है और उससे दूसरे को कष्ट पहुँचता है तो वह हिंसा नही है।

उपरोक्त व्याख्या मे प्राणशब्द अत्यन्त व्यापक है। जैन शास्त्रो मे प्राण के दस भेद हैं। पाँच इन्द्रियो के पाँच प्राण हैं, मन, वचन, काया के तीन, श्वासोच्छ्वास और आयु। इनका व्यपरोपण दो प्रकार से होता है आघात द्वारा तथा प्रतिबन्ध द्वारा। दूसरे को ऐसी चोट पहुँचाना जिससे देखना, या सुनना बन्द हो जाए आघात है। उसकी स्वतन्त्र प्रवृत्तियो मे बाधा डालना प्रतिबन्ध है। दूसरे के स्वतन्त्र चिन्तन, भाषण अथवा यातायात मे रुकावट डालना भी प्रतिबन्ध के अन्तर्गत है और हिंसा है। दूसरे की खुली हवा को रोकना, उसे दूषित करना, श्वासोच्छ्वास पर प्रतिबन्ध है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जहाँ एक नागरिक अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्तियो के कारण दूसरे नागरिक के रहन सहन एव सुख-सुविधा मे बाधा डालता है, उसके वैयक्तिक जीवन मे हस्तक्षेप करता है चोरी, डकैती तथा अन्य अपराधो द्वारा शान्ति भग करता है क्या उस पर नियन्त्रण करना आवश्यक नही है? यही साधु और श्रावक की चर्या मे अन्तर हो जाता है। साधु किसी पर हिंसात्मक नियन्त्रण नही करता वह अपराधी को भी उसके कल्याण की बुद्धि से उपदेश द्वारा समझाता है, उसे किसी प्रकार का कष्ट नही देना चाहता। इसके विपरीत श्रावक को इस बात की

छूट रहती है वह अपराधी को दण्ड दे सकता है। नागरिक जीवन मे बाधा डालने वाले पर यथोचित नियन्त्रण रख सकता है।

साधु और श्रावक की अहिंसा मे एक बात का अन्तर और है। जैन धर्म के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो मे भी जीव हैं और उन्हे स्थावर कहा गया है। दूसरी ओर, चलने वाले जीवो को त्रस कहा गया है।

साधु अपने लिए, भोजन बनाना, पकाना, मकान बनाना, आदि कोई प्रवृत्ति नही करता, वह भिक्षा पर निर्वाह करता है, इसके विपरीत श्रावक अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए मर्यादित रूप मे प्रवृत्तियाँ करता है और उनमे पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि स्थावर जीवो की हिंसा होती ही रहती है। उस सूक्ष्म हिंसा का उसे त्याग नही होता वह केवल स्थूल अर्थात् त्रस जीवो की हिंसा का त्याग करता है। इस प्रकार श्रावक की चर्या मे दो छूटे हैं। पहली अपराधी को दण्ड देने की और दूसरी सूक्ष्म हिंसा की। इसी आधार पर श्रावक के व्रतो को सागारी अर्थात् छूट वाले कहा जाता है इसके विपरीत साधु को अनगार कहा जाता है।

अहिंसा का विध्यात्मक रूप—

अहिंसा को जीवन मे उतारने के लिये मैत्री भावना का विधान किया गया है श्रावक प्रतिदिन यह घोषणा करता है—मै सब जीवो को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करे मेरी सब से मित्रता है, किसी से वैर नही है। इस घोषणा मे श्रावक सर्वप्रथम स्वय क्षमा प्रदान करता है और कहता है कि मुझसे किसी को डरने की आवश्यकता नही है, मैं सबको अभय प्रदान करता हूँ। दूसरे वाक्य द्वारा वह अन्य प्राणियो से क्षमा-याचना करता है और स्वय निर्भय होना चाहता है। वह ऐसे जीवन की कामना करता है जहाँ वह शोषक न बने और न शोषित, न भयोत्पादक बने और न भयभीत और न त्रासक बने और न त्रस्त, न उत्पीडक बने न पीडित। तीसरे चरण मे वह सब से मित्रता की घोषणा करता है। अर्थात् सबको समता की दृष्टि से देखता है। मित्रता का मूल आधार है प्रति-दान की आशा न रखते हुए दूसरे को अधिक से अधिक प्रदान करने की भावना। एक मित्र को दूसरे मित्र की सुख-सुविधा, आवश्यकता का जितना ध्यान रहता है, उतना अपना नही रहता इसके विपरीत जब अपनी सुख-सुविधा के लिये दूसरे का हक छीनने की भावना आ जाती है तभी शत्रुता का मिश्रण होने लगता है। मित्रता

की घोषणा द्वारा श्रावक अन्य सब प्राणियो का हितैषी एव रक्षक बनने की प्रतिज्ञा करता है। चौथा चरण है, मेरा किसी से वैर नही है। वह कहता है—ईर्ष्या, द्वेष, मनोमालिन्य आदि शत्रुता के जितने कारण हैं, मैं उन सब को धो चुका हूँ और शुद्ध एव पवित्र हृदय ले कर विश्व के सामने उपस्थित होता हूँ। जो व्यक्ति कम से कम वर्ष मे एक बार इस प्रकार घोषणा नही करता, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार नही है। यदि प्रत्येक व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र इस घोषणा को अपना ले तो विश्व की अनेक समस्याएँ सुलझ जाएँ।

अहिंसा और कायरता—

अहिंसा पर प्राय यह आक्षेप किया जाता है कि यह कायरता है। शत्रु के सामने आने पर जो व्यक्ति सघर्ष की हिम्मत नही रखता, वही अहिंसा को अपनाता है, किन्तु यह धारना ठीक नही है। कायर वह होता है जो मन मे प्रतिकार की भावना होने पर भी डर कर प्रत्याक्रमण नही करता है, ऐसे व्यक्ति का आक्रमण न करना या शत्रु के सामने झुक जाना अहिंसा नही है, वह तो आक्रमण से भी बडी हिंसा है। महात्मा गाधी का कथन है कि आक्रमक या क्रूर व्यक्ति विचारो मे परिवर्तन होने पर अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर के लिए अहिसक बनना असम्भव है। अहिंसा की पहली शर्त शत्रु के प्रति मित्रता या प्रेम भावना है। छोटा बालक बहुत सी वस्तुएँ तोड-फोड डालता है, माता को उससे परेशानी होती है, किन्तु वह मुस्करा कर टाल देती है। बालक के भोलेपन पर उसका प्रेम और भी बढ जाता है। मित्रता या प्रेम की यह पहली शर्त है कि दूसरे द्वारा हानि पहुँचाने पर क्रोध नही आता प्रत्युत् उपस्थित किये गये कष्टो, झझटो तथा हानियो से सघर्ष करने मे अधिकाधिक आनन्द आता है। अहिंसक शत्रु से डर कर क्षमा नही करता। किन्तु उसकी भूल को दुर्बलता समझ कर क्षमा करता है।

अहिंसा की इस भूमि पर विरले ही पहुँचते हैं। जो व्यक्ति पूर्णतया अपरिग्रही है, अर्थात् जिन्हे धन-सम्पति, मान-अपमान तथा अपने शरीर से भी ममत्व नही है, जो समस्त स्वार्थो को त्याग चुके हैं वे ही ऐसा कर सकते हैं। दूसरो के लिए अहिसा ही दूसरी कोटि है कि निरपराध को दण्ड न दिया जाए किन्तु अपराधी का दमन करने के लिए हिसा का प्रयोग किया जा सकता है। उसमे भी अपराधी को

सुधारने या उसके कल्याण की भावना रहनी चाहिए उसे नष्ट करने की नही। द्वेष वुद्धि जितनी कम होगी व्यक्ति उतना ही अहिसा की ओर अग्रसर कहा जाएगा।

भारतीय इतिहास मे अनेक जैन राजा-मन्त्री, सेनापति तथा वडे-वडे व्यापारी हो चुके हैं। समस्त प्रवृत्तिया करते हुए भी वे जैन वने रहे। उनके उदाहरण इस वात को सिद्ध करते है कि प्रवृत्तिमय जीवन मे भी अहिसा का पालन किया जा सकता है।

श्रावक अपने प्रथम अणुव्रत मे यह निश्चय करता है कि मै निरपराध त्रस जीवो की हिसा नही करूँगा अर्थात् उन्हे जान-बूझ कर नही मारूँगा। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं जिनकी तत्कालीन श्रावक के जीवन मे सम्भावना वनी रहती थी। वह इस प्रकार हैं—

१ वन्ध—पशु तथा नौकर, चाकर आदि आश्रित जनो को कष्टदायी वन्धन मे रखना। यह वन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार का हो सकता है।

२ वध—उन्हे वुरी तरह पीटना।

३ छविच्छेद—उनके हाथ, पाँव आदि अगो को काटना।

४ अतिभार—उन पर अधिक वोझ लादना। नौकरो से अधिक काम लेना भी अतिभार है।

५ भक्तपानविच्छेद—उन्हे समय पर भोजन, पानी न देना। नौकर को समय पर वेतन न देना जिससे उसे तथा घर वालो को कष्ट पहुँचे।

इन पाँच अतिचारो से ज्ञात होता है कि श्रावक सस्था का विकास मुख्यता वैश्य वर्ग मे हुआ था। कृषि गोपालन तथा वाणिज्य उनका मुख्य धन्धा था। आनन्द के अध्ययन मे इन तीनो का विस्तृत वर्णन है। भगवान् महावीर के गृहस्थ अनुयायिओ मे राजा, सेनापति तथा अन्य आयुध-जीवी भी सम्मिलित थे। किन्तु महावीर का मुख्य लक्ष्य मध्यवर्ग था। उनके मतानुसार स्वस्थ समाज की रचना ऐसा वर्ग ही कर सकता है जो न स्वय दूसरे का शोषण करता है और न दूसरे के शोषण का लक्ष्य वनता है। तत्कालीन समाज मे व्राह्मण और क्षत्रिय शोषक थे एक वुद्धि द्वारा शोषण करता था एक शस्त्र द्वारा। दोनो परस्पर मिलकर समाज पर आधिपत्य जमाये हुए थे। दूसरी ओर शूद्रो का शोषितवर्ग था उन्हे सम्पत्ति

रखने का अधिकार नही था। दूसरो की सेवा करना और दूसरो द्वारा दिए गए बचे-खुचे भोजन तथा फटे-पुराने वस्त्रो पर निर्वाह करना ही एकमात्र धर्म था। ब्राह्मण-क्षत्रिय तथा शूद्र महावीर के श्रमण सघ मे सम्मिलित होकर एक सरीखे हो गए, उनका परस्पर भेद समाप्त हो गया और सर्व-साधारण के वन्दनीय वन गए। किन्तु जहाँ तक गृहस्थ जीवन का प्रश्न है महावीर ने वैश्य-समाज को सामने रक्खा और वह परम्परा अव तक चली आ रही है।

सत्य व्रत——

श्रावक का दूसरा व्रत मृपावाद-विरमण अर्थात् असत्य भाषण का परित्याग है। उमास्वाति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'असदभिधानमनृतम्' असद् के तीन अर्थ हैं—(१) असत् अर्थात् जो वात नही है उसका कहना। (२) वात जैसी है उसे वैसी न कहकर दूसरे रूप मे कहना, एक ही तथ्य को ऐसे रूप मे भी उपस्थित किया जा सकता है जिससे सामने वाले पर अच्छा प्रभाव पडे उसी को विगाड कर रक्खा जा सकता है जिससे सामने वाला नाराज हो जाए। सत्यवादी का कर्तव्य है कि दूसरे के सामने वस्तु को वास्तविक रूप मे रखे उसे वनाने या विगाडने का प्रयत्न न करे। (३) इसका अर्थ है असत्-वुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना। यह दुर्भावना दो प्रकार की है (१) स्वार्थ सिद्धि मूलक—अर्थात् अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरे को गलत वात वताना। (२) द्वेषमूलक—दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना।

इस व्रत का मुख्य सम्वन्ध भापण के साथ है। किन्तु दुर्भावना से प्रेरित, मानसिक चिन्तन तथा कायिक व्यापार भी इसमे आ जाते ह।

सत्य की श्रेष्ठता के विपय मे दो वाक्य मिलते हैं। पहला उपनिषदो मे है—— 'सत्यमेवजयते नानृत' अर्थात् सत्य की जीत होती है, झूठ की नही। दूसरा वाक्य जैन-शास्त्रो मे मिलता है 'सच्च लोगम्मि सारभूय' अर्थात् सत्य ही दुनिया मे सारभूत है। इन दोनो मे भेद वताते हुए काका कालेलकर ने लिखा है कि प्रथम वाक्य मे हिसा मिली हुई है जीत मे हारने वाले की हिसा छिपी हुई है, अहिसक मार्ग तो वह है जहाँ शत्रु और मित्र दोनो की जीत होती है। हार किसी की नही होती। दूसरा वाक्य यह वताता है कि सत्य ही विश्व का सार है उसी पर दुनिया टिकी हुई है। जिस प्रकार गन्ने का मूल्य उसके सार अर्थात् रस पर आश्रित है इसी प्रकार जीवन

का मूल्य सत्य पर आधारित है यहा जीत और हार का प्रश्न नही है।

उपनिषदो मे सत्य को ईश्वर का रूप बताया गया है और उसे लक्ष्य मे रख कर अभय अर्थात् अहिंसा का उपदेश दिया गया है। जैन धर्म आचार प्रधान है अत. अहिंसा को सामने रखकर उस पर सत्य की प्रतिष्ठा करता है।

श्रावक अपने सत्य व्रत मे स्थूल-मृषावाद का त्याग करता है। उन दिनो स्थूल-मृषावाद के जो रूप थे यहाँ उनकी गणना की गई है।

१ कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध के समय कन्या के विषय मे झूठी बाते कहना। उसकी आयु, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के विषय मे दूसरे को धोखा देना। इस असत्य के परिणाम स्वरूप वर तथा कन्यापक्ष मे ऐसी कटुता आ जाती है कि कन्या का जीवन दूभर हो जाता है।

२ गवालीक—गाय, भैस आदि पशुओ का लेन-देन करते समय झूठ बोलना। वर्तमान समय को लक्ष्य मे रखकर कहा जाए तो क्रय-विक्रय सम्बन्धी सारा झूठ इसमे आ जाता है।

३ भूम्यलीक—भूमि के सम्बन्ध मे झूठ बोलना।

४ स्थापनामृषा—किसी की धरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के लिए झूठ बोलना।

५ कूटसाक्षी—लोभ मे आकर झूठी साक्षी देना। उपरोक्त पाँचो बाते व्यवहार शुद्धि से सम्बन्ध रखती हैं और स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक हैं। इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

(१) सहसाभ्याख्यान—बिना विचारे किसी पर झूठा आरोप लगाना।

(२) रहस्याभ्याख्यान—राग मे आकर विनोद के लिए किसी पति-पत्नी अथवा अन्य स्नेहियो को अलग कर देना, किंवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना।

(३) स्वदार-मन्त्रभेद—आपस मे प्रीति टूट जाए, इस ख्याल से एक-दूसरे की चुगली खाना, या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना।

(४) मिथ्योपदेश—सच्चा-झूठा समझा कर किसी को उल्टे रास्ते डालना।

(५) कूट-लेखक्रिया—मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि।

तत्त्वार्थ सूत्र मे सहसाभ्याख्यान के स्थान पर न्यासापहार है इसका अर्थ है किसी की धरोहर रखकर इन्कार कर जाना ।

अचौर्य व्रत——

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य है वह स्थूल चोरी का त्याग करता है । इसके नीचे लिखे रूप हैं——

दूसरे के घर मे सेंध लगाना, ताला तोडना या अपनी चावी लगा कर खोलना, विना पूछे दूसरे की गाठ खोल कर चीज निकालना, यात्रियो को लूटना अथवा डाके मारना ।

इस व्रत के पॉच अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं——

१ स्तेनाहृत——चोर के द्वारा लाई गई चोरी की वस्तु खरीदना या घर मे रखना ।

२ तस्कर-प्रयोग——आदमी रख कर चोरी, डकैती, ठगी आदि कराना ।

३ विरुद्धराज्यतिक्रम——भिन्न-भिन्न राज्य वस्तुओ के आयात-निर्यात पर कुछ वन्धन लगा देते हैं अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं ऐसे राज्य के नियमो का उल्लघन करना विरुद्धराज्यातिक्रम है ।

४ कूटतुला-कूटमान——नाप तथा तोल मे वेईमानी ।

५ तत्प्रतिरूपक-व्यवहार——वस्तु मे मिलावट या अच्छी वस्तु दिखा कर बुरी वस्तु देना ।

सत्य तथा अचौर्य व्रत के अतिचारो का व्यापार तथा व्यवहार मे कितना महत्त्व-पूर्ण स्थान है यह वताने की आवश्यकता नही ।

स्वदार-सन्तोष व्रत—

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है । इसमे वह परायी स्त्री के साथ सहवास का परित्याग करता है और अपनी स्त्री के साथ उसकी मर्यादा स्थिर करता है । यह व्रत सामाजिक सदाचार का मूल है । और वैयक्तिक विकास के लिये भी अत्या-वश्यक है । इसके पाँच अतिचार निम्न हैं—

१. इत्वरिक परिगृहीतागमन—ऐसी स्त्री के साथ सहवास करना जो कुछ समय के लिये ग्रहण की गई हो । भारतीय संस्कृति मे विवाह-सम्वन्ध समस्त जीवन के लिए होता है ऐसी स्त्री भोग और त्याग दोनो मे सहयोग देती है जैसा कि

ग्रानन्दादि श्रावको की पत्नियो के जीवन से सिद्ध होता है। इसके विपरीत जो स्त्री कुछ समय के लिए अपनाई जाती है वह भोग के लिये होती है, जीवन के उत्थान मे सहायक नही हो सकती। श्रावक को ऐसी स्त्री के पास गमन नहीं करना चाहिए।

२ अपरिगृहीतागमन—वेश्या ग्रादि के साथ सहवास।

३ अनगक्रीडा—अप्राकृतिक मैथुन अर्थात् सहवास के प्राकृतिक अगो को छोड-कर अन्य अगो से सहवास करना।

४ परविवाहकरण—दूसरो का परस्पर सम्वन्ध कराना।

५ कामभोग-तिव्राभिलाष—विषय-भोग तथा काम-वासना मे तीव्र ग्रासक्ति।

परविवाहकरण अतिचार होने पर भी श्रावक के लिए उसकी मर्यादा निश्चित है, अपनी सन्तान तथा आश्रित-जनो का विवाह करना उसका उत्तरदायित्व है। इसी प्रकार पशु-धन रखने वाले को गाय, भैस ग्रादि पशुग्रो का सम्वन्ध भी कराना पडता है श्रावक को इसकी छूट है।

परिग्रह-परिमाण व्रत—

इसका अर्थ है श्रावक को धन-सम्पत्ति की मर्यादा निश्चित करनी चाहिए ग्रौर उससे अधिक सम्पत्ति न रखनी चाहिए। सम्पत्ति हमारे जीवन निर्वाह का एक साधन है। साधन वही तक उपादेय होता है जहाँ तक वह अपने साध्य की पूर्ति करता है, यदि सम्पत्ति सुख के स्थान पर दुखो का कारण वन जाती है ग्रौर ग्रात्म-विकास को रोकती है तो हेय हो जाती है। इसीलिए साधु सम्पत्ति का सर्वथा त्याग करता है ग्रौर भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है। वहाँ साधु वस्त्र-पात्र ग्रादि उपकरणो के साथ ही अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नही करता। श्रावक भी उसी लक्ष्य को ग्रादर्श मानता है किन्तु लौकिक ग्रावश्यकताग्रो की पूर्ति के लिये मर्यादित सम्पत्ति रखता है।

वर्तमान मानव भौतिक विकास को अपना लक्ष्य मान रहा है। वह "स्व" के लिये सम्पत्ति के स्थान पर सम्पत्ति के लिए "स्व" को मानने लगा है। भौतिक ग्राकाक्षाग्रो की पूर्ति के लिए समस्त ग्राध्यात्मिक गुणो को तिलाजलि दे रहा है। परिणाम-स्वरूप तथाकथित विकास विभीषिका वन गया है। परिग्रह परिमाण व्रत इस वात की ग्रोर सकेत करता है कि जीवन का लक्ष्य वाह्य सम्पत्ति नही है।

इस व्रत का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है। ससार मे सोना, चाँदी, भूमि,

अन्न, वस्त्रादि सम्पत्ति कितनी भी हो, पर वह अपरिमित नही है। यदि एक व्यक्ति उसका अधिक सचय करता है तो दूसरे के साथ सघर्ष होना अनिवार्य है। इसी आधार पर राजाओ और पूँजीपतियो मे परस्पर चिरकाल से सघर्ष चले आ रहे हैं, जिनका भयकर परिणाम साधारण जनता भोगती आ रही है। वर्तमान युग मे राजाओ और व्यापारियो ने अपने २ सगठन बना लिए हैं और उन सगठनो मे परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती हे यह सब अनर्गल लालसा और सम्पत्ति पर किसी प्रकार की मर्यादा न रखने का परिणाम है। इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया के रूप मे रूस ने राज्य-क्रान्ति की और सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया। दूसरी ओर भूपतियो की सत्ता लालसा और उसके परिणाम-स्वरूप होने वाले भयकर युद्धो को रोकने वाले लोकतन्त्री शासन-पद्धति प्रयोग मे लाई गई फिर भी समस्याएँ नही सुलझी। जब तक व्यक्ति नही सुधरता सगठनो से अपेक्षित लाभ नही मिल सकता। क्योकि सगठन व्यक्तियो के समूह का ही नाम है। परिग्रह परिमाण-व्रत वैयक्तिक जीवन पर अकुश रखने के लिए कहता है। इसमे नीचे लिखे नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा का विधान है।

१. क्षेत्र—(खेत) अर्थात् उपजाऊ भूमि की मर्यादा।
२ वस्तु—मकान आदि।
३ हिरण्य—चाँदी।
४ सुवर्ण—सोना।
५ द्विपद—दास, दासी।
६ चतुष्पद—गाय, भैस, घोडे आदि, पशु-धन।
७ धन—रुपये पैसे आदि सिक्के या नोट।
८ धान्य—अन्न, गेहूँ, चावल आदि खाद्य-सामग्री।
९ कुप्य या गोप्य—ताबा, पीतल आदि अन्य धातुएँ।

कही २ हिरण्य मे सुवर्ण के अतिरिक्त शेष सब धातुएँ ग्रहण की गई हैं और कुप्य या गोप्य धन का अर्थ किया है—हीरे, माणिक्य, मोती आदि रत्न।

इस व्रत के अतिचारो मे प्रथम आठ को दो दो की जोडी मे इकट्ठा कर दिया गया है और नवे को अलग लिया गया है, इस प्रकार नीचे लिखे पाँच अतिचार बताए गए हैं—

१ क्षेत्रवस्तु परिमाणातिक्रम २ हिरण्यसुवर्ण परिमाणातिक्रम ३ द्विपदचतुष्पद परिमाणातिक्रम ४ धन-धान्य परिमाणातिक्रम ५ कुप्य परिमाणातिक्रम ।

दिशा-परिमाण व्रत—

पाँचवे व्रत मे सम्पत्ति की मर्यादा स्थिर की गई है। छठे दिशा परिमाण व्रत मे प्रवृत्तियो का क्षेत्र सीमित किया जाता है। श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे एव चारो दिशाओ मे निश्चित सीमा से आगे बढ कर मै कोई स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नही करूँगा। साधु के लिये क्षेत्र की मर्यादा का विधान नही है, क्योकि उसकी प्रवृत्ति हिंसात्मक या स्वार्थमूलक नही होती। वह किसी को कष्ट नही पहुँचाता प्रत्युत् धर्म-प्रचारार्थ ही घूमता है। विहार अर्थात् धर्म-प्रचार के लिए घूमते रहना उसकी साधना के आवश्यक अंग है किन्तु श्रावक की प्रवृत्तियाँ हिंसात्मक भी होती है अत उनकी मर्यादा स्थिर करना आवश्यक है।

विभिन्न राज्यो मे होने वाले सघर्षो को सामने रखकर विचार किया जाए तो इस व्रत का महत्व ध्यान मे आ जाता है और यह प्रतीत होने लगता है कि वर्त्तमान युग मे भी इसका कितना महत्व है। यदि विभिन्न राज्य अपनी अपनी राजनीतिक एव आर्थिक सीमाएँ निश्चित्त करले तो वहुत से सघर्ष रुक जाएँ। श्री जवाहरलाल नेहरु ने राष्ट्रो मे परस्पर व्यवहार के लिये पचशील के रूप मे जो आचार-सहिता वनाई है उसमे इस सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया है कि कोई राज्य दूसरे के राज्य मे हस्तक्षेप नही करेगा।

इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ उर्ध्वदिशा मे मर्यादा का अतिक्रमण।

२. अधोदिशा मे मर्यादा का अतिक्रमण।

३ तिरछीदिशा अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण मे मर्यादा का अतिक्रमण।

४ क्षेत्रवृद्धि—अर्थात् असावधानी या भूल मे मर्यादा के क्षेत्र को बढा लेना।

५ स्मृति अन्तर्धान—मर्यादा का स्मरण न रखना।

उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत—

सातवे व्रत मे वैयक्तिक आवश्यकताओ पर नियत्रण किया गया है उपभोग का अर्थ है भोजन-पानी आदि वस्तुएँ जो एक वार ही काम मे आती हैं। परिभोग का

अर्थ है वस्त्र, पात्र शय्या आदि वस्तुएँ जो अनेक वार काम मे लाई जा सकती हैं। उपभोग और परिभोग शब्दो का उपरोक्त अर्थ भगवतीसूत्र शतक ७ उद्देशा २ मे तथा हरिभद्रीयावश्यक अध्ययन ६ सूत्र ७ मे किया गया है। उपासकदशागसूत्र की अभयदेवीय टीका मे उपरोक्त अर्थ के साथ विपरीत अर्थ भी दिया गया है अर्थात् एक वार काम मे आने वाली वस्तु को उपभोग वताया गया है।

इस व्रत मे दो दृष्टियाँ रखी गई हैं भोग और कर्म। भोग की दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर २६ वाते गिनाई गई हैं जिनकी मर्यादा स्थिर करना श्रावक के लिये आवश्यक है इनमे भोजन, स्नान, विलेपन, दन्तधावन, वस्त्र आदि समस्त वस्तुएँ आ गई है। इनसे ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन मे किस प्रकार का अनुशासन था किस प्रकार वह अपने कार्य मे जागरूक है। उनमे स्नान तथा दन्त-धावन आदि का स्पष्ट उल्लेख ह। अतः जेनियो के गन्दे रहने का जो आरोप लगाया जाता है वह मिथ्या है अपने आलस्य या अविवेक के कारण कोई भी गन्दा रह सकता है वह जैन हो या अजैन उसके लिए धर्म को दोप देना उचित नही है। दूसरी दृष्टि कर्म की अपेक्षा से है। श्रावक को ऐसे कर्म नही करने चाहिएँ जिनमे अधिक हिसा हो जैसे—कोयले वनाना, जंगल साफ करना, वैल आदि को नथना या खस्सी करना आदि। उसको ऐसे धन्दे भी नही करने चाहिएँ जिनसे अपराध या दुराचार की वृद्धि हो जैसे—दुराचारिणी स्त्रियो की नियुक्ति करके वेश्यावृत्ति कराना, चोर, डाकुओ को सहायता देना आदि। इसके लिए १५ कर्मादान गिनाए गए है। उपरोक्त २६ वातो तथा १५ कर्मादानो के लिये प्रथम आनन्द नाम का अध्ययन देखना चाहिए।

अनर्थदण्ड विरमण व्रत—

पाँचवे व्रत मे सम्पत्ति की मर्यादा की गई और छठे मे सम्पत्ति या स्वार्थमूलक प्रवृत्तियो की, सातवे मे प्रतिदिन व्यवहार मे आने वाली भोग्यसामग्री पर नियत्रण किया गया, आठवें मे हलचल या शारीरिक चेष्टाओ का अनुशासन है श्रावक के लिए व्यर्थ की वाते करना, शेखी मारना, निष्प्रयोजन हाथ-पैर हिलाना वर्जित है। इसी प्रकार उन्हे अपनी घरेलू वस्तुएँ व्यवस्थित रखनी चाहिएँ। ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिए जिससे लाभ कुछ भी न हो और दूसरे को कष्ट पहुँचे। अनर्थ-दण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन हिसा के चार रूप वताए गए हैं—

१ अपध्यानाचरित—चिंता या क्रूर विचारो के कारण होने वाली हिंसा। धन सम्पत्ति का नाश, पुत्र-स्त्री आदि प्रियजन का वियोग आदि कारणो से मनुष्य को चिन्ताएँ होती रहती हैं किन्तु उनसे लाभ कुछ भी नही होता किन्तु अपनी ही आत्मा निर्बल होती है इसी प्रकार क्रूर या द्वेषपूर्ण विचार रखने पर भी कोई लाभ नही होता ऐसे विचारो को अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहा गया है।

२ प्रमादाचरित—आलस्य या असावधानी के कारण होने वाली हिंसा। घी, तेल तथा पानी वाली खाद्य वस्तुओ को बिना ढके रखना तथा अन्य प्रकार की असावधानी इस श्रेणी मे आ जाती है। यदि कोई व्यक्ति सडक पर चलते समय, यात्रा करते समय या अन्य व्यवहार मे दूसरे का ध्यान नही रखता और ऐसी चेष्टाएँ करता है जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे ये सब प्रमादाचरित हैं।

३ हिंस्रप्रदान—दूसरे व्यक्ति को शिकार खेलने आदि के लिए शस्त्रास्त्र देना जिससे व्यर्थ ही हिंसा के प्रति निमित्त बनना पडे। हिंसात्मक कार्यो के लिए आर्थिक या अन्य प्रकार की सभी सहायता इसमे आ जाती है।

४ पापकर्मोपदेश—किसी मनुष्य या पशु को मारने, पीटने या तंग करने के के लिए दूसरो को उभारना। बहुधा देखा गया है कि बालक बिना किसी द्वेष बुद्धि के किसी भिखमगे, या घायल-पशु को तंग करने लगते है पास मे खडे दूसरे मनुष्य तमाशा देखने के लिए उन्हे उकसाते हैं यह सब पापकर्मोपदेश है। इसी प्रकार चोरी, डकैती, वेश्यावृत्ति आदि के लिए दूसरो को प्रेरित करना ऐसी सलाह देना इसी के अन्तर्गत है।

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ कदर्प—कामोत्तेजक चेष्टाएँ या बाते करना।

२ कौत्कुच्य—भाँडो के समान हाथ, पैर मटकाना नाक मुँह आँख आदि से विकृत चेष्टाएँ करना।

३ मौखरिता—मुखर अर्थात् वाचाल बनना। बढ-बढ कर बाते करना और अपनी शेखी मारना।

४ सयुक्ताधिकरण—हथियारो एव हिंसक साधनो को आवश्यकता के बिना ही जोड कर रखना।

५ उपभोगपरिभोगातिरेक—भोग्य सामग्री को आवश्यकता से अधिक बढाना।

वैभव प्रदर्शन के लिए मकान, कपडे, फर्नीचर आदि का आवश्यकता से अधिक सग्रह करना इस अतिचार के अन्तर्गत हे। इससे दूसरो मे ईर्ष्या-वृत्ति उत्पन्न होती है और अपना जीवन उन्ही की व्यवस्था मे उलझ जाता हे।

सामायिक व्रत--

छठे, सातवे और आठवे व्रत मे व्यक्ति का वाह्य चेष्टाओ पर नियन्त्रण बताया गया। नवे से लेकर बारहवे तक चार व्रत आन्तरिक अनुशासन या शुद्धि के लिए है। इनका अनुष्ठान साधना के रूप मे अल्प समय के लिए किया जाता है।

जिस प्रकार वैदिक परम्परा मे सध्या वन्दन तथा मुसलमानो मे नमाज दैनिक कृत्य के रूप मे विहित हे उसी प्रकार जैन परम्परा मे सामायिक और प्रतिक्रमण है। सामायिक का अर्थ है जीवन मे समता को उतारने का अभ्यास। साधु का सारा जीवन सामायिक रूप होता है अर्थात् उसका प्रत्येक कार्य-समता का अनुष्ठान है। श्रावक प्रतिदिन कुछ समय के लिए उसका अनुष्ठान करता है। समता का अर्थ है 'स्व' और 'पर' मे समानता। जैन धर्म का कथन है जिस प्रकार हम सुख चाहते ह और दु ख से घबराते ह उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी चाहता हे। हमे दूसरे के साथ व्यवहार करते समय उसके स्थान पर अपने को रख कर सोचना चाहिए, उसके कष्टो को अपना कष्ट उसके सुख को अपना सुख मानना चाहिए। समता के इस सिद्धान्त पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति किसी की हिसा नही करेगा। किसी को कठोर शब्द नही कहेगा और न किसी का बुरा सोचेगा। पहले बताया जा चुका है कि व्यवहार मे समता का अर्थ है अहिसा, जो कि जैन आचार शास्त्र का प्राण है। विचार मे समता का अर्थ है स्याद्वाद जो कि जैन दर्शन की आधार शिला है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है वापिस लौटना। साधक अपने पिछले कृत्यो की ओर लौटता है उनके भले बुरे पर विचार करता है, भूलो के लिए पश्चात्ताप करता है और भविष्य मे उनसे बचे रहने का निश्चय करता है। श्रावक और साधु दोनो के लिए प्रतिक्रमण का विधान है इसका दूसरा नाम आवश्यक है अर्थात् यह एक आवश्यक दैनिक कर्तव्य है।

श्रावक के व्रतो मे सामायिक का नवाँ स्थान है किन्तु आत्म शुद्धि के लिए विधान किए गए चार व्रतो मे इसका पहला स्थान है। इसके पाँच अतिचार निम्नलिखित हे--

१ मनोदुष्प्रणिधान—मन मे बुरे विचार लाना।
२ वचन दुष्प्रणिधान—वचन का दुरुपयोग, कठोर या असत्य भाषण।
३ काय दुष्प्रणिधान—शरीर की कुप्रवृत्ति।
४ स्मृत्यकरण—सामायिक को भूल जाना अर्थात् समय आने पर न करना।
५ अनवस्थितता—सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता मे करना।

देशावकाशिक व्रत—

इस व्रत मे श्रावक यथाशक्ति दिन-रात या अल्प समय के लिए साधु के समान चर्या का पालन करता है। सामायिक प्राय दो घडी के लिए की जाती है और उसमे सारा समय धार्मिक अनुष्ठान मे लगाया जाता है। खाना, पीना, नीद लेना आदि वर्जित हैं, इस व्रत मे भोजन आदि वर्जित नही है, किन्तु उसमे अहिसा का पालन आवश्यक है।

इस व्रत को देशावकाश कहा जाता है। अर्थात् इसमे साधक निश्चित काल के लिए देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है, उसके बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नही करता।

श्रावक के लिए चौदह नियमो का विधान है अर्थात् उसे प्रतिदिन अपने भोजन, पान तथा अन्य प्रवृत्तियो के विषय मे मर्यादा निश्चित करनी चाहिए इससे जीवन मे अनुशासन तथा दृढता आती है। इस व्रत के निम्नलिखित पॉच अतिचार हैं—

१ आनयनप्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मँगाने के लिए किसी को भेजना।
२ प्रेष्यप्रयोग—नौकर, चाकर आदि को भेजना।
३ शब्दानुपात—शाब्दिक सकेत द्वारा बाहर की वस्तु मँगाना।
४ रूपानुपात—हाथ आदि का इशारा करना।
५ पुद्गलप्रक्षेप—ककर, पत्थर आदि फेंक कर किसी को सबोधित करना।

पौषधोपवास व्रत—

"पौषध" शब्द सस्कृत के उपवसथ शब्द से बना है। इसका अर्थ है धर्माचार्य के समीप या धर्म स्थान मे रहना। आज कल इसी को उपाश्रय या पौषधशाला

कहा जाता है। उपवसथ अर्थात् धर्म स्थान मे निवास करते हुए उपवास करना पौषधोपवास व्रत है। यह दिन-रात अर्थात् आठ प्रहरो का होता है और अष्टमी, चर्तुदशी आदि पर्व तिथियो पर किया जाता है।

इस व्रत मे नीचे लिखा त्याग किया जाता है—

१ भोजन, पानी आदि चारो प्रकार के आहारो का त्याग।

२ अब्रह्मचर्य का त्याग।

३ आभूषणो का त्याग।

४ माला, तेल आदि सुगंधित द्रव्यो का त्याग।

५ समस्त सावद्य अर्थात् दोषपूर्ण प्रवृत्तियो का त्याग।

इसके पाँच अतिचार निवास-स्थान की देख रेख के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

अतिथि संविभाग व्रत—

सविभाग का अर्थ है अपनी सम्पत्ति या अपनी भोग्य वस्तुओ मे विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना। अतिथि के लिए किया जाने वाला विभाजन अतिथि सविभाग है। वैदिक परम्परा मे भी अतिथि सेवा गृहस्थ के प्रधान कर्त्तव्यो मे गिनी गई है किन्तु जैन परम्परा मे अतिथि शब्द का अर्थ कुछ भिन्न है। यहाँ निर्दोष जीवन व्यतीत करने वाले विशिष्ट व्यक्तियो को ही अतिथि माना गया है। उन्हे भोजन, पानी, वस्त्र आदि देना अतिथि सविभाग व्रत है। इसके नीचे लिखे पाँच अतिचार हैं—

१ सचित्त-निक्षेपण—साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोष आहार मे कोई सचित्त वस्तु मिला देना जिससे वह ग्रहण न कर सके।

२ सचित्तपिधान—देने योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु से ढक देना।

३ कालातिक्रम—भोजन का समय व्यतीत होने पर निमंत्रित करना।

४ परव्यपदेश—न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी बताना।

५ मात्सर्य—मन मे ईर्ष्या या दुर्भावना रख कर दान देना।

जैन धर्म मे अनुकम्पादान और सुपात्र दान का विशेष महत्व है। अनुकम्पा सम्यक्त्व का अग है इसका अर्थ प्रत्येक दुखी या अभावग्रस्त को देख कर उसके प्रति करुणा या सहानुभूति प्रगट करना और उसके दुख को दूर करने के लिए यथाशक्ति यथोचित सहायता देना अनुकम्पा मे सम्मिलित है। इससे आत्मा मे उदारता,

मैत्री आदि सद्गुणो की वृद्धि होती है। साधु-सघ के आहार पानी तथा शारीरिक आवश्यकताओ का ध्यान रखना श्रावक का धर्म है। अतिथि-सविभाग व्रत उसी को प्रकट करता है।

ग्यारह प्रतिमाएँ—

लम्बे समय तक व्रतो का पालन करता हुआ श्रावक पूर्ण त्याग की ओर अग्रसर होता है। उत्साह बढने पर एक दिन कुटुम्ब का उत्तरदायित्व सन्तान को सौप देता है और पौपधशाला मे जाकर सारा समय धर्मानुष्ठान मे बिताने लगता है। उस समय वह उत्तरोत्तर साधुता की ओर बढता है। कुछ दिनो तक अपने घर से भोजन मगाता है और फिर उसका भी त्याग करके भिक्षा पर निर्वाह करने लगता है। इन व्रतो को ग्यारह प्रतिमाओ के रूप मे प्रकट किया गया है। प्रतिमा शब्द का अर्थ है सादृश्य। जब श्रावक साधु के सदृश होने के लिए प्रयत्नशील होता है तो उसे प्रतिम कहा जाता है। इनकी विस्तृत चर्चा के लिए आनन्द नामक प्रथम अध्ययन देखना चाहिए।

सलेखना व्रत—

श्रमण परम्परा जीवन को अपने आप मे लक्ष्य नही मानती। उसका कथन है कि साधना का लक्ष्य आत्मा का विकास है और जीवन उसका साधन मात्र है। जिस दिन यह प्रतीत होने लगे कि शरीर शिथिल हो गया है वह सहायक होने के स्थान पर विघ्न बाधाएँ उपस्थित करने लगा है तो उस समय यह उचित है कि उसका परित्याग कर दे। इसी परित्याग को अतिम सलेखना व्रत कहा है। इसमे श्रावक या साधु आहार का परित्याग करके धर्म-चिन्तन मे लीन हो जाता है न जीवन की आकाक्षा करता है न मृत्यु की, न यश की, न ऐहिक या पारलौकिक सुख की। धन, सम्पत्ति, परिवार, शरीर आदि सबसे अनासक्त हो जाता है। इस प्रकार आयुष्य पूरा होने पर शान्ति तथा स्थिरता के साथ देह का परित्याग करता है।

इस व्रत को आत्म-हत्या कहना भूल है। व्यक्ति आत्म-हत्या तब करता है जब किसी कामना को पूरा नही कर पाता और वह इतनी बलवती हो जाती है कि उसकी पूर्ति के बिना जीवन बोझ जान पडता है और उस बोझ को उतारे बिना शान्ति असम्भव प्रतीत होती है। आत्म-हत्या का दूसरा कारण उत्कट वेदना या

मार्मिक आघात होता है। दोनो परिस्थितियाँ व्यक्ति की निर्बलता को प्रकट करती हैं। इसके विपरीत सलेखना त्याग की उत्कटता तथा हृदय की परम दृढता को प्रकट करती है। जहाँ व्यक्ति बिना किसी कामना के शान्तिपूर्वक अपने आप जीवन का उत्सर्ग करता है। आत्म-हत्या निराशा तथा विवशता की पराकाष्ठा है, सलेखना वीरता का वह उदात्त रूप है जहाँ एक सिपाही हसते-हसते प्राणो का उत्सर्ग कर देता है। सिपाही मे आवेश रहता है किन्तु सलेखना मे वह भी नही होता।

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकाक्षा करना।
२ स्वर्ग के सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी बात की आकाक्षा करना।
३ जीवन की आकाक्षा करना।
४ कष्टो से घबरा कर शीघ्र मरने की आकाक्षा करना।
५ अतृप्त कामनाओ की पूर्ति के रूप मे काम भोगो की आकाक्षा करना।

उपसहार—

सम्यक्त्व से लेकर सलेखना तक जिन व्रतो का प्रतिपादन किया गया है वे एक आदर्श गृहस्थ की चर्या को प्रकट करते हैं। उपासकदशाङ्ग-सूत्र के प्रथम अध्ययन मे इन सब का वर्णन है। इस अध्ययन का कथा-नायक आनन्द है, जो आदर्श जैन श्रावक माना जाता है। शेष श्रावको के लिये भी इन्ही व्रतो का विधान किया गया है।

जैन धर्म आश्रम व्यवस्था को नही मानता, उसकी दृष्टि मे यह आवश्यक नही है कि व्यक्ति वृद्ध होने पर ही त्याग की ओर प्रवृत्त हो। फिर भी श्रावको के जीवन से उस व्यवस्था की झाँकी मिलती है। बारह व्रत गृहस्थ आश्रम को प्रकट करते हैं, प्रतिमाएँ वानप्रस्थ आश्रम को और मुनि धर्म सन्यास को।

आचार्य श्री जी की श्रुत-साधना

मानव का जीवन एक सतत प्रवाह शील सरिता के समान है। यह विराट विश्व उस प्रवाह की आधार भूमि है। विश्व के इस आधार-तल मे ही जीवन की सरिता का प्रवाह प्रवहमान रहता है। जीवन और जगत दर्शन-शास्त्र के मुख्य विषय हैं। जीवन क्या है ? जगत क्या है ? और उन दोनो मे क्या सम्बन्ध है ? दर्शन-शास्त्र का यही प्रतिपाद्य विषय रहा है। जीवन, चिन्तन का पूर्वगामी धर्म है और जगत जीवन का आवश्यक आधार है। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के अनुसार दार्शनिक सम्पूर्ण जगत का द्रष्टा है। यदि जीवन के भौतिक धर्मो के परिपालन की विवशता को दार्शनिक जीवन की सीमा कहा जाए, तो उक्त धर्मो का पालन करते हुए भी विचार और चिन्तन द्वारा उनका सस्कार और उस सस्कार के द्वारा मानवी संस्कृति का विकास करने का प्रयास दार्शनिक की विशेषता है।

आचार्य श्रद्धेय आत्मारामजी महाराज अपने युग के एक गम्भीर दार्शनिक विद्वान थे। वे समाज और राष्ट्र के केवल द्रष्टा ही नही रहे, वल्कि प्रेरक भी रहे हैं। जीवन और जगत की समस्याओ का गम्भीर अध्ययन कर के उन्होने उनमे सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न भी किया था। जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक पक्षो मे समन्वय साधने का प्रयास उन्होने किया था। अपने युग के प्रसुप्त मानव को झकझोर कर उन्होने जागृत किया था और कहा था—Stand up, be hold and be strong उठो, वीर वनो और सुदृढ हो कर जीवन के समर मे खडे हो जाओ। इस ससार मे विजेता वही बनता है, जो अपने व्यतीत अतीत पर आँसू नहीं वहाता। हम वहुत विलाप कर चुके हैं। अव रोना वन्द करो और अपने पैरो पर खडे हो कर सच्चा इन्सान वनने का प्रयत्न करो—We have wept long enough, no more weeping, but stand on your feet and be men

आचार्य श्री जी अपने युग के एक महान् विद्वान और आगमो के व्याख्याकार थे। आगमो पर सुन्दर सरल और सरस भाषा मे व्याख्या करके उन्होने जनता का महान् उपकार किया है। स्वाध्यान प्रेमी जनो के लिए उन्होने आगम के रहस्य को समझने के लिए एक सरल मार्ग वना दिया है। जो कुछ भी और जितना भी

ज्ञान उन्होने अपने गुरु से प्राप्त किया था, उसे अपने स्वय के श्रम से पल्लवित करके जन-जन के जीवन की भूमि मे उन्होने उसे मुक्त हस्त बिखेर दिया था। कोई भी ज्ञान पिपासु उनके द्वार पर आ कर प्यासा नही लौटता था। अतः आचार्य श्री जी अपने युग के एक प्रकाश स्तम्भ थे। उन का जीवन एक ज्योतिर्मय जीवन था, जिससे हजारो हजार लोगो ने प्रेरणा एव स्फूर्ति प्राप्त की थी—In him was a life and the life was the light of men

आचार्य श्री जी क्या थे ? ज्ञान के सागर और शान्ति के अग्रदूत। समाज के एक वर्ग विशेष को उनकी शान्ति नीति पसन्द नही थी। अत वे लोग उनकी तीव्र आलोचना भी करते थे। परन्तु अपनी आलोचना से व्याकुल हो कर उन्होने कभी भी अपने शान्ति-पथ का परित्याग नही किया। वे अपने शान्ति के पथ पर आगे ही बढते रहे। उनकी इस मधुरता का और मृदुता का बहुत से लोगो ने मजाक भी उडाया। आचार्य श्री जी फिर भी अपने पथ से विचलित नही हुए। सघ-हित मे वे सदा अभय हो कर अग्रसर होते रहे। सघ को वे व्यक्ति से अधिक पूज्य एव श्रेष्ठ मानते थे। यही कारण है कि सघ सेवा मे उन्होने कभी प्रमाद नही किया। अपने आलोचको से उन्होने ईसा की भाषा मे यही कहा—Father, forgive them, for they know not what they are doing वास्तव मे आलोचक वैर-भाव मे अपने दिल और दिमाग की शान्ति को खो बैठे थे। फिर भी आचार्य श्री जी ने उन पर प्रसन्नता की ही वर्षा की। यही उनकी सब से बडी महानता थी।

आचार्य श्री जी का जीवन बाल्य काल से ही ज्ञान-साधना मे सलग्न रहा। उन्होने अपनी सहज एव तीव्र बुद्धि से अल्प काल मे ही सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश जैसी कठिन प्राचीन भाषाओ को सहज ही सीख लिया। प्राकृत भाषा पर तो आपका असाधारण अधिकार था। प्राकृत भाषा मे आप निबन्ध भी लिखते रहते थे। स्थानकवासी समाज मे प्राकृत सस्कृत के अध्ययन की ओर सब से पहले आपने ही ध्यान खीचा था। आगमो का गम्भीर और सर्वांगीण अध्ययन कर आपने अनेक ग्रन्थो की रचना की थी। स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना के अतिरिक्त आपने अनेक आगमो की हिन्दी भाषा मे व्याख्या कर स्वाध्याय प्रेमियो के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। आज भी उनके अनेक व्याख्या ग्रन्थ समाज मे बडे आदर के साथ पढे

जाते है। दशवैकालि, उत्तराध्ययन आदि आगम ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो चुके हैं। आपकी व्याख्या शैली अत्यन्त सुन्दर, सरल और सरस होती है, जिसमे साधारण पाठक भी लाभ उठा सकता है।

अब उपासकदशाङ्ग-सूत्र का प्रकाशन हो रहा है। प्रस्तुत आगम मे भगवान महावीर के दश प्रमुख श्रावको के जीवन का सुन्दर वर्णन किया है। आनन्द श्रावक के जीवन मे श्रावक के द्वादश व्रतो का बडे विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। आशा है, कि अन्य आगमो की भाँति इसका प्रकाशन भी बहुत सुन्दर होगा। आचार्य श्री जी के अन्य आगम भी यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित होने चाहिए। क्या ही अच्छा हो! यदि आचार्य श्री जी के समस्त ग्रन्थो का नवीन शैली मे सुन्दर प्रकाशन हो सके। इससे पाठको का बडा हित होगा।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने केवल श्रुत-सेवा ही नही की, बल्कि समाज सेवा भी की है। पजाब सम्प्रदाय के पहले वे उपाध्याय थे, फिर पजाब सघ के आचार्य बने। सादडी सम्मेलन मे सब ने मिलकर उन्होने आचार्य पद पर आसीन किया था। श्रमण सघ के आचार्य पद पर रहकर आपने जो सघ सेवा की, वह सर्व विदित है सघ को आपने एक सूत्र मे बाँध रखने का पूरा प्रयत्न किया। कुछ लोगो ने आपकी निन्दा और अवहेलना भी की। फिर भी आपने अपने मार्ग का परित्याग नही किया। आप की सघ सेवा भी आपकी श्रुत-सेवा के समान सदा अजर-अमर रहेगी।

मेरे स्नेही स्वामी श्री रत्न मुनि जी आचार्य श्री जी के ग्रन्थो का प्रकाशन कर रहे हैं। उन की यह श्रुत-भक्ति आचार्य श्री जी की सच्ची सेवा होगी। श्री रत्न मुनि जी ने अपने तन से और अपने मन से आचार्य श्री जी की जो सेवा, भक्ति और उपासना की है, वह उनके जीवन की एक महान् विशेषता है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य मे भी वे अपने इस सेवा पथ पर अग्रसर होते रहेगे और आचार्य श्री जी के अमूल्य ग्रन्थो का प्रकाशन करा कर समाज मे से ज्ञान की अमर ज्योति को बुझाने न देगे।

जैन भवन,
लोहा मडी, आगरा।

विजय मुनि

❀ णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ❀

उपासकदशांग-सूत्रम्

(उवासगदसाओ)

प्रथम अध्ययन

मूलम्—तेणं कालेणं तेण समएणं चंपा नाम णयरी होत्था। वण्णओ। पुण्णभद्दे चेइए। वण्णओ ॥ १ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगरी आसीत्। वर्णकम्। पूर्णभद्रचैत्यम्। वर्णकम् ॥

शब्दार्थ—तेण कालेणं—उस काल। तेणं समएणं—उस समय अर्थात् अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे के अन्तिम समय मे। चम्पा नाम णयरी—चपा नाम की नगरी थी। वण्णओ—नगरी का वर्णन अन्यत्र वर्णित नगरी के समान समझ लेना चाहिए। पुण्णभद्दे चेइए—नगरी के वाहर पूर्णभद्र यक्ष का चैत्य था। वण्णओ—यक्ष चैत्य का वर्णन भी अन्य चैत्यो के समान ही है।

भावार्थ—उस समय अर्थात् प्रस्तुत अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे के अन्त मे चम्पा नाम की प्रसिद्ध नगरी थी उसका वर्णन अन्य नगरियो के समान समझ लेना चाहिए। नगरी के वाहर पूर्णभद्र यक्ष का चैत्य था।

टीका—इस सूत्र मे धर्मकथानुयोग का वर्णन है। अर्थ के रूप मे आगम का प्रतिपादन तीर्थङ्कर करते हैं। उसका सूत्र के रूप में गुम्फन गणधर करते हैं। समस्त आगम साहित्य चार अनुयोगो मे विभक्त है। (१) चरणकरणानुयोग (२) धर्मकथानुयोग (३) गणितानुयोग तथा (४) द्रव्यानुयोग। प्रथम अनुयोग मे ५ महाव्रत, १० श्रमणधर्म, १७ प्रकार के सयम, १० वैयावृत्य, ६ ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ, ज्ञानादि तीन रत्न, १२ प्रकार का तप तथा चार कषायो के निग्रह

आदि का वर्णन है। ४ पिण्डविशुद्धियाँ, ५ समितियाँ, १२ भावनाएँ, १२ प्रतिमाएँ, ५ इन्द्रियो का निग्रह, २५ प्रकार की प्रतिलेखना, ३ गुप्तिया, ४ प्रकार के अभिग्रह भी चरणकरणानुयोग मे आते हैं। आचाराङ्ग, आदि सूत्र इसी अनुयोग का प्रतिपादन करते है। धर्मकथानुयोग मे ज्ञाता धर्मकथाङ्ग (नायाधम्म कहाओ), उपासकदशाङ्ग (उवासगदसाओ), अन्तकृद्दशाग (अन्तगडदसाओ), अनुत्तरौपपातिक (अणुत्तरोववाई), विपाक (विवाग), औपपातिक (उववाई), राजप्रश्नीय (रायप्प-सेणीय), पाच निरयावलिकादि (निरयावलिआओ) तथा उत्तराध्ययनादि आते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बूद्दीवपण्णत्ति), चन्द्रप्रज्ञप्ति (चदपण्णत्ति) तथा सूर्य-प्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ति), गणितानुयोग विषयक है। सूत्रकृताङ्ग (सूयगडाङ्ग), स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग), (समवायाङ्ग), भगवती (विवाहपण्णत्ति), (जीवाभिगम), प्रज्ञापना (पण्णवणा), नन्दी तथा अनुयोगद्वार द्रव्यानुयोग का प्रतिपादन करते हैं। प्रस्तुत सूत्र मे धर्म-कथानुयोग का वर्णन है। अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरक के अन्तिम भाग में चम्पा नाम की नगरी थी। उसके बाहर ईशान कोण मे पूर्णभद्र नाम का चैत्य था। इन दोनो का वर्णन औपपातिक सूत्र के समान समझ लेना चाहिए। काल वह द्रव्य है जिसके कारण दिन, पक्ष, मास, वर्ष, आदि का व्यवहार होता है अथवा समयो के समूह का नाम काल है और समय काल के अविभाज्य अश को कहते हैं। पूर्णभद्र यक्ष के आयतन के कारण उक्त उद्यान का नाम पूर्णभद्र प्रसिद्ध हो गया।

जम्बू स्वामी का प्रश्न और प्रस्तुत सूत्र का निर्देश—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्ज सुहम्मे समोसरिए, जाव जम्बू पज्जुवासमाणे एवं वयासी—"जइ ण भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सपत्तेण छट्ठस्स अगस्स नायाधम्मकहाणं अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तमस्स णं भते! अंगस्स उवासगदसाणं समणेण जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?"

एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासग-दसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा—आणंदे१, कामदेवे य२, गाहावइचुलणीपिया३, सुरादेवे४, चुल्लसयए५, गाहावइकुंडकोलिए६, सद्दालपुत्ते७, महासयए८, नंदिणीपिया९, सालिहीपिया१० ॥

जइ णं, भंते ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स णं भंते ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? ॥ २ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये आर्यसुधर्मा समवसृत.। यावत् जम्बूः पर्युपासीनः एवमवादीत्—यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन षष्ठस्य अंगस्य ज्ञाताधर्मकथानाम् अयमर्थः प्रज्ञप्तः सप्तमस्य खलु भदन्त ! अंगस्य उपासकदशानां श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः? एवं खलु जम्बू ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अंगस्य उपासकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा—आनन्द., कामदेवश्च गाथापतिश्चुलिनीपिता सुरादेव चुल्लशतक॰, गाथापति कुण्डकौलिकः, सद्दालपुत्र॰, महाशतक , नन्दिनीपिता, शालिहीपिता च।

यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अंगस्य उपासकदशाना दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, प्रथमस्य खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्त. ?

शब्दार्थ—**तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल और उस समय, **अज्ज सुहम्मे**—आर्य सुधर्मा स्वामी, **समोसरिए**—चम्पा नगरी मे आये, **जाव**—यावत्, **जम्बू पज्जुवासमाणे**—जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए **एवं वयासी**—यह कहा—**जइणं भन्ते !**—हे भदन्त ! यदि **समणेण भगवया महावीरेण जाव सम्पत्तेण**—श्रमण भगवान् महावीर ने यावत् जिन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। **छट्ठस्स अंगस्स नायाधम्मकहाण**—ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अङ्ग का, **अयमट्ठे पण्णत्ते**—यह अर्थ कहा है तो, **सत्तमस्स णं भन्ते ! अंगस्स उवासगदसाणं**—हे भगवन् ! उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग का, **के अट्ठे पण्णत्ते**—क्या अर्थ बताया है ?, **एव खलु जम्बू !** हे जम्बू ! इस प्रकार, **समणेण जाव सम्पत्तेणं**—मोक्षस्थित श्रमण भगवान् महावीर ने, **सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाण**—उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग के, **दस अज्झयणा पण्णत्ता**—दश अध्ययन कहे हे, **त जहा**—वे इस प्रकार ह—**आणदे**—आनन्द, **कामदेवे य**—और कामदेव, **गाहावइचुलिणीपिया**—चुलिनीपिता, **सुरादेवे**—सुरादेव, **चुल्लसयए**—चुल्लशतक, **गाहावइकुण्डकोलिए**—गाथापति कुण्डकौलिक,

सद्दालपुत्ते—सद्दालपुत्र, महासयए—महाशतक, नन्दिनीपिया—नन्दिनीपिता, सालिहीपिया—और सालिहीपिता।

जइण भंते !—जम्बू स्वामी ने पूछा—हे भगवन् ! यदि, समणेणं जाव सम्पत्तेणं—मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने, सत्तमस्स अगस्स उवासगदसाण—सप्तम अग उपासकदशा के, दस अज्झयणा पण्णत्ता—दस अध्ययन प्रतिपादन किये हैं। पढमस्स ण भंते !—तो हे भगवन् ! प्रथम अध्ययन का, समणेणं जाव सम्पत्तेण—मोक्ष स्थित श्रमण भगवान् महावीर ने, के अट्ठे पण्णत्ते—क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?

भावार्थ—उस काल तथा उस समय आर्य सुधर्मा स्वामी चम्पा नगरी मे आये। जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए पूछा—हे भगवन् ! मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने छटे अङ्ग ज्ञाताधर्मकथा का जो भाव वताया है उसे मैं सुन चुका हूँ। हे भगवन् ! मोक्ष स्थित श्रमण भगवान् महावीर ने सातवे अङ्ग उपासकदशा का क्या भाव वताया है ? आर्य सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! मुक्ति प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सातवे अङ्ग उपासकदशा के दस अध्ययन प्रतिपादित किये हैं। वे इस प्रकार हैं—१ आनन्द २ कामदेव ३ गाथापति चुलनिपिता ४ सुरादेव ५ चुल्लशतक ६ गाथापति कुण्डकौलिक ७ सद्दालपुत्र ८ महाशतक ९ नन्दिनी पिता और १० सालिहीपिया।

जम्वू स्वामी ने फिर पूछा—हे भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने सप्तम अङ्ग उपासकदशा के दस अध्ययन निरूपित किये हैं तो प्रथम अध्ययन का क्या भाव वताया है ?

टीका—उन दिनो आर्य सुधर्मा स्वामी पूर्णभद्र नामक उद्यान मे आये, उनके सुशिष्य आर्य जम्वू स्वामी ने उपासना करते हुए पूछा हे भगवन् ! श्रमण भगवान् ने ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र का जो वर्णन किया है वह मैंने सुन लिया, अव मुझे वताइये कि भगवान् ने सातवे अङ्ग उपासकदशाङ्ग का क्या अर्थ वताया है ? इस प्रश्न के उत्तर मे सुधर्मा स्वामी ने कहा—हे जम्वू ! भगवान् ने उपासकदशाङ्ग सूत्र मे १० अध्ययनो का वर्णन किया है। आनन्द, कामदेव, गाथापति चूलिनीपिता, सुरादेव,

चुल्लशतक, गाथापति कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता तथा शालिहीपिया।

सुधर्मा के साथ अज्ज (आर्य अथवा अर्य) विशेषण है उसका भाव निम्नलिखित है—"'अज्ज' इति अर्यते-प्राप्यते यथाभिलषित तत्त्वजिज्ञासुभिरित्यर्यः, आर्यो वा स्वामीत्यर्थ., समस्तेभ्यो हेयधर्मेभ्य आरात्-पृथक् यायते-प्राप्यते अर्थाद् गुणैरिति, अथवा विषयकाष्ठ कर्तकत्वेनारा सादृश्यादारा—रत्नत्रयम्, तद् याति—प्राप्नोति इति निरुक्तवृत्त्याऽऽकारलोपे कृते—आर्य., सर्वथा सकलकल्मषराशिकलुषितवृत्ति-रहित इत्यर्थः", तथा चोक्तम्—

अज्जइ भविहिं आरा जाइज्जइ हेय धम्मओ जो वा।
रयणत्तयरूव वा, आर जाइत्ति अज्ज इय वुत्तो॥*

'अज्ज' शब्द की सस्कृत छाया अर्य और आर्य दोनो प्रकार की होती है। तत्त्व के जिज्ञासुओ द्वारा जो प्राप्त किया जाता है उसे आर्य कहते हैं और अर्य का अर्थ स्वामी है। अथवा जो त्यागने योग्य समस्त धर्मो से भिन्न गुणो के कारण प्राप्तव्य हो उसे आर्य कहते हैं। अथवा रत्नत्रय १ सम्यग् दर्शन २ सम्यग् ज्ञान और ३ सम्यक् चरित्र—आरा के समान हैं, क्योकि वे पाँच इन्द्रियो के विषय रूपी काष्ठ को काटते हैं, उस रत्नत्रय की जिन्हे प्राप्ति हो गई है, उन्हे आर्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन की वृत्ति पूर्ण रूप से निर्दोष है, वे आर्य हैं।

'सत्तमस्स अंगस्स' जैन परम्परा मे श्रुतज्ञान को पुरुष का रूप दिया गया है और आचाराङ्गादि आगमो को अङ्ग बताया है। इस क्रम मे उपासकदशाङ्ग नामक आगम का सातवा स्थान है अत इसे सप्तम अङ्ग कहा गया है, श्रुत पुरुष के १२ अङ्ग हैं, वह रूपक इस प्रकार है—

"यथा पुरुषस्य द्वौ चरणौ, द्वे जघे, द्वावूरू, द्वौ गात्रार्द्धौ, द्वौ बाहू, ग्रीवा शिरश्चेत्येतैर्द्वादशभिरगैरभिव्यक्ति दीप्तिरुपलब्धिश्च भवति, तथात्र श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्य मन्त्याचारादीनि द्वादशागानि।"

---

* अर्यते भविभि, आरात् यायते, हेयधर्मतो यो वा।
रत्नत्रयरूप वाऽऽर यातीति आर्य इत्युक्त॥

तत्र १ दक्षिणचरणस्थानीयमाचाराङ्गम्, २ वामचरणस्थानीय सूत्रकृताङ्गम्, ३ दक्षिणजङ्घास्थानीय स्थानाङ्गम्, ४ वामजङ्घा स्थानीय समवायाङ्गम्, ५ दक्षिणोरुस्थानीय भगवतीसूत्रम्, ६ वामोरुस्थानीय ज्ञाताधर्मकथाङ्गम्, ७ दक्षिण-पार्श्वस्थानीय उपासकदशाङ्गम्, ८ वामपार्श्वस्थानीयमन्तकृद्दशाङ्गम्, ९ दक्षिणबाहु-स्थानीयमनुत्तरौपपातिकम्, १० वामबाहुस्थानीय विपाकसूत्रम्, ११ प्रश्नव्याकरणम् ग्रीवास्थानीयम्, १२ मस्तक स्थानीय दृष्टिवाद नामाङ्गम् ।"

जैसे पुरुष के दो पैर, दो पिण्डलियाँ, दो जघन दो पसवाडे (गात्रार्ध) दो भुजाये एक ग्रीवा (गर्दन) और एक सिर होता है, इन बारह अगो द्वारा उसकी अभिव्यक्ति प्रकटीकरण (दीप्ति प्रकाश) और उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, इसी प्रकार श्रुत रूपी महापुरुष के आचारादि १२ अग हैं—पहला आचाराङ्ग दाँये पैर के समान, दूसरा सूत्रकृताङ्ग बाये पैर के समान, तीसरा स्थानाङ्ग दक्षिण जघा के समान, चौथा सम-वायाङ्ग वाम जङ्घा के समान, पाँचवा भगवती दक्षिण जघन के समान, छटा ज्ञाता-धर्म कथाङ्ग वाम जघन के समान, सातवाँ उपासकदशाङ्ग दक्षिण पार्श्व के समान, आठवाँ अन्तकृद्दशाङ्ग वाम पार्श्व के समान, नौवाँ औपपातिक दक्षिण भुजा के समान दसवाँ प्रश्नव्याकरण वाम भुजा के समान, ग्यारहवाँ विपाकसूत्र ग्रीवा के समान और बाहरवाँ दृष्टिवाद सिर के समान है ।

'एवं खलु जम्बू' इस पद से यह प्रकट होता है कि वर्त्तमान अङ्गसाहित्य सुधर्मा स्वामी की वाचना है । जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से जो जो प्रश्न किये, सुधर्मा स्वामी ने उनका स्पष्टीकरण किया है । भगवान् महावीर स्वामी के ११ गणधर थे और ९ वाचनाएँ मानी जाती हैं । प्रस्तुत वाचना सुधर्मा स्वामी की है ।

वाणिज्य ग्राम और आनन्द—

मूलम्—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएण वाणियगामे नामं नयरे होत्था । वण्णओ । तस्स णं वाणियगामस्स नयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसी-भाए दूइपलासए नाम चेइए होत्था । तत्थ णं वाणियगामे नयरे जियसत्तू नाम राया होत्था । वण्णओ । तत्थ णं वाणियगामे आणंदे नामं गहावई परिवसइ अड्ढे जाव अपरिभूए ।।३।।

छाया—एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाणिज्यग्रामो नाम नगरमासीत्। वर्णकम्। तस्माद् वाणिज्यग्रामाद् नगराद् बहिरुत्तर पौरस्त्ये दिग्विभागे दूतीपलाशो नाम चैत्यम् आसीत्। तत्र खलु वाणिज्यग्रामे नगरे जितशत्रु राजा आसीत्, वर्णकम्। तत्र खलु वाणिज्यग्रामे आनन्दो नाम गाथापतिः परिवसति। आढ्यो यावत् अपरिभूतः।

शब्दार्थ—जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे आर्य सुधर्मा स्वामी ने कहा—**एवं खलु जम्बू !**—इस प्रकार हे जम्बू ! **तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल उस समय जबकि भगवान् महावीर विद्यमान थे, **वाणियगामे नयरे होत्था**—वाणिज्यग्राम नाम का नगर था, **तस्स वाणियगामस्स नयरस्स बहिया**—उस वाणिज्य ग्राम नगर के बाहर **उत्तर पुरत्थिमे दिसि भाए**—उत्तरपूर्व दिशा—ईशानकोण मे **दुइपलासए नामं चेइए**—दूतीपलाश नामक चैत्य था। **तत्थ णं**—वहा, **वाणियगामे नयरे**—वाणिज्यग्राम नगर मे, **जियसत्तू नामं राया होत्था**—जितशत्रु राजा था। **वण्णओ**—राजा का वर्णन कूणिक की तरह है, **तत्थ ण**—वहाँ, **वाणियगामे नयरे**—वाणिज्यग्राम नामक नगर मे, **आणंदे नामं गाहावई परिवसइ**—आनन्द नामक गाथापति रहता था। **अड्ढे जाव अपरिभूए**—वह धनाढ्य यावत् अपरिभूत था।

भावार्थ—सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! उस काल और उस समय वाणिज्यग्राम नामक नगर था, अन्य नगरो के समान उसका वर्णन जान लेना चाहिए। उस वाणिज्यग्राम नगर के बाहर उत्तरपूर्व अर्थात् ईशान कोण मे दूतीपलाश नामक चैत्य था। वाणिज्यग्राम नगर मे जितशत्रु राजा राज्य करता था। वह भी वर्णनीय था। उस नगर मे आनन्द नामक गाथापति रहता था। वह धनाढ्य यावत् अपरिभूत था।

टीका—इस सूत्र मे वाणिज्यग्राम नगर का वर्णन किया गया है। सुधर्मा स्वामी कहते हैं। हे जम्बू ! उस काल उस समय वाणिज्यग्राम नाम का एक नगर था और उसके बाहर ईशान कोण मे दूतीपलाश नाम का चैत्य था। वहा जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगर मे आनन्द नामक गाथापति रहता था वह धनी और सब प्रकार मे समर्थ था।

इस सूत्र मे 'वण्णओ' शब्द दो बार आया है। पहली बार वाणिज्य ग्राम के लिए और दूसरी बार जितशत्रु राजा के लिए। इसका यह आशय है कि नगर और राजा का वर्णन औपपातिक सूत्र के समान समझ लेना चाहिए। नगर का नाम वाणिज्य ग्राम है। प्रतीत होता है कि वह वाणिज्य अर्थात् व्यपार का केन्द्र रहा होगा।

जिस प्रकार चम्पा नगरी का सविस्तर वर्णन औपपातिक सूत्र मे किया गया है, उसी प्रकार इस नगर का वर्णन भी जान लेना चाहिए। उसके ईशान कोण मे दूतीपलाश नाम का चैत्य था। उसका वर्णन पूर्णभद्र चैत्य के समान जानना चाहिए। जिस प्रकार औपपातिक सूत्र मे कौणिक राजा का वर्णन किया गया है, उसी के समान जितशत्रु राजा का भी वर्णन जान लेना चाहिए। उसी नगर मे आनन्द नामक गाथापति रहता था।

गाथापति का अर्थ है—**"गीयते-स्तूयते लोकैर्धनधान्यादि समृद्धि युक्ततयेति यद्वा गाथ्यते धनधान्य-पशुवश समुन्नत्यादिना। अहो ! धन्यमिदं सकलसमृद्धिसम्पन्न गृहमित्येव प्रशसितत्वात् प्रतिष्ठिता भवतीति गाथा प्रशस्ततमं गृह तस्याः पति.- अध्यक्ष स तथा क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-पशु-दास-पौरुष समलङ्कृतः सद्गृहस्थ इत्यर्थः, परिवसति। नित्य सर्वतोभावेन वा वसति स्मेति शेष.।"**

धन, धान्य और समृद्धि के कारण होने वाली प्रशसा को गाथा कहते हैं और उसके स्वामी को गाथापति कहा जाता है। अथवा गाथा शब्द का अर्थ है वह सम्पन्न घर जिसकी धन-धान्य पशुवश आदि के रूप मे होने वाली सर्वतोमुखी समृद्धि को देखकर सर्वत्र प्रशसा होती है।

'यावत्' शब्द से अनेक अन्य बाते प्रकट की गई हैं। इसका अर्थ है कि आनन्द गाथापति के पास भवन, शयन, रथ, शकट तथा अन्य वाहनो की विशाल सख्या थी। सोना, चाँदी बहुमूल्य धातुओ का पर्याप्त सग्रह और पशु-धन भी विपुल परिमाण मे था। दास-दासियो की विशाल सख्या थी। प्रतिदिन भोजनोपरान्त पर्याप्त खाद्य सामग्री बच जाती थी और उससे अनेक अनाथो एव भिक्षुओ का पोषण होता था। ऐसे घर के स्वामी को गाथापति कहा जाता है।

आनन्द की धन-सम्पत्ति का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर पउत्ताओ, चत्तारि वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था ॥ ४ ॥

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथापतेश्चतस्रो हिरण्यकोटयः निधानप्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोटयो वृद्धि प्रयुक्ता., चतस्रो हिरण्यकोटय. प्रविस्तर प्रयुक्ता., चत्वारो व्रजा., दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन अभवन् ।

शब्दार्थ—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स—उस आनन्द गाथापति के, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड सुवर्ण, निहाणपउत्ताओ—कोप मे थी, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ—चार करोड वृद्धि के लिए व्यापार मे लगे हुए थे। चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड सुवर्ण पवित्थर पउत्ताओ—प्रविस्तर गृह तथा तत्सम्बन्धी सामान मे लगे हुए थे। चत्तारि वया-दस गोसाहस्सिएण—प्रत्येक मे दस हजार गायो वाले चार व्रज थे।

भावार्थ—आनन्द गाथापति के चार करोड सुवर्ण निधान अर्थात् कोप मे सञ्चित थे। चार करोड व्यापार मे लगे हुए थे और चार करोड घर तथा तत्सम्बन्धी सामान मे लगे हुए थे। इस प्रकार उसके पास १२ करोड सुवर्ण (दीनार) थे। इसके अतिरिक्त उसके पास चार व्रज थे। प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाये थी।

टीका—प्रस्तुत पाठ मे धन का परिमाण हिरण्य-कोटि के रूप मे बताया गया है। साधारणतया इसका अर्थ सुवर्ण किया जाता है। प्रतीत होता है, उस समय हिरण्य नाम की मुद्रा प्रचलित होगी। यह शुद्ध सोने की हुआ करती थी, इसका तोल ३२ रत्ती होता था। उत्तरवर्ती काल मे शको के आने पर इसी को दीनार के रूप मे प्रचलित किया गया।

आनन्द के पास चार व्रज थे और प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाये थी। यहाँ गाय शब्द समस्त पशुधन का बोधक है।

संस्कृत टीका मे आनन्द को प्रदीप्त कहा गया है अर्थात् वह दीपक के समान प्रकाशमान था। जिस प्रकार दीपक मे तेल वत्ती और शिखा होते हैं तथा वायु-रहित स्थान मे वह स्थिर होकर प्रकाश देता है उसी प्रकार आनन्द भी स्थिर होकर सबको प्रकाश दे रहा था। उसकी सम्पत्ति एव वैभव की तुलना तेल तथा वत्ती से की गई है। उदारता, तेजस्विता आदि गुणो की शिखा से और सयमी जीवन एव मर्यादा पालन की वायु रहित स्थान से। मूल सूत्र मे उसके जीवन को दो शब्दो द्वारा प्रकट किया गया है अर्थात् वह आढ्य था और अपरिभूत था। आढ्य शब्द भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति को प्रकट करता है, और अपरिभूत शब्द उसके प्रभाव को। इसका अर्थ है, आनन्द को कही भी अपमानित या निराश नही होना पडता था। वह कही भी असफल नही होता था। ये दोनो गुण शक्तिशाली व्यक्तित्व के आवश्यक अङ्ग हैं।

आनन्द का समाज में स्थान—

मूलम्—से णं आणंदे गाहावई बहूणं राईसर जाव सत्थवाहाणं बहूसु कज्जेसु य कारणे सु य मंतेसु य कुडुम्बेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सवि य णं कुडुम्बस्स मेढी, पमाणं, आहारे, आलंबणं, चक्खू, मेढीभूए जाव सव्व कज्जवड्ढावए यावि होत्था ॥ ५ ॥

छाया—स खलु आनन्दो गाथापतिः बहूनां राजेश्वराणां यावत् सार्थवाहानां बहुषु कार्येषु च कारणेषु च मन्त्रेषु च कुटुम्बेषु च गुह्येषु च रहस्येषु च निश्चयेषु च व्यवहारेषु च आप्रच्छनीयः परिप्रच्छनीयः स्वकस्यापि च खलु कुटुम्बस्य मेधिः, प्रमाणम्, आधारः, आलम्बनम्, चक्षुर्मेधिभूतो यावत् सर्वकार्यवर्धकश्चापि आसीत्।

शब्दार्थ—**से णं आणंदे गाहावई**—वह आनन्द गाथापति, **बहूणं राईसर जाव सत्थवाहाणं**—बहुत से राजा-ईश्वर यावत् सार्थवाहो का, **बहूसु**—अनेक, **कज्जेसु य**—कार्यो मे, **कारणेसु य**—कारणो मे, **मंतेसु य**—विचार विमर्शो मे, **कुडुम्बेसु**—कौटुम्बिक समस्याओ मे, **गुज्झेसु**—गुह्य बातो मे, **रहस्सेसु य**—रहस्यो मे, **निच्छएसु**—निश्चयो मे, **ववहारेसु य**—और व्यवहारो मे, **आपुच्छणिज्जे**—परामर्श का, **पडिपुच्छणिज्जे**—और

वार २ पूछने का विषय था। **सयस्सवि य णं कुडुम्बस्स**—तथा वह अपने परिवार का भी, **मेढी**—मेढी अर्थात् काष्ठदण्ड के समान, **पमाण**—प्रमाण, **आहारे**—आधार, **आलबणं**—आलम्बन, **चक्खू**—चक्षु स्वरूप, **मेढी भूए**—केन्द्र भूत काष्ठ दण्ड था, **जाव**—यावत्, **सव्व कज्ज वड्ढावए यावि होत्था**—सब कार्यो मे प्रेरक था।

भावार्थ—नगर के राजा, सेनापति, सार्थवाह आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति आनन्द से प्रत्येक वात मे परामर्श लिया करते थे। विविध कार्यो, योजनाओ, मन्त्रणाओ, कौटुम्बिक प्रश्नो, कलङ्क या दोप आदि गोपनीय वातो, अनेक प्रकार के रहस्यो, निश्चयो, निर्णयो तथा लेन-देन आदि से सम्वन्ध रखने वाले व्यवहारो मे, उससे पूछते रहते थे और उसकी सम्मति को महत्त्वपूर्ण मानते थे। वह अपने कुटुम्व का भी स्तम्भ के समान आधार भूत था, उसका आलम्बन अर्थात् सहारा था और चक्षु अर्थात् पथ-प्रदर्शक 'मेढी' अर्थात् केन्द्र स्तम्भ था। इतना ही नही, वह समस्त अनुष्ठानो का प्रेरक था।

टीका—इस सूत्र मे यह वतलाया गया है कि आनन्द का समाज मे क्या स्थान था। नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रत्येक वात मे उससे परामर्श करते थे। उसकी सम्मति को वहुमूल्य मानते थे। स्वजन-सम्वन्धियो का तो वह एकमात्र आधार, सहारा और पथप्रदर्शक था।

मेढी उस काष्ठदण्ड को कहते हैं जो खलियान के वीच गाड दिया जाता है और गेहूँ आदि धान्य निकालने के लिए वैल जिसके चारो ओर घूमते हैं। आनन्द को भी मेढी वताया गया है अर्थात् वह समस्त कार्यो के लिए केन्द्रभूत था, उसी को मध्य मे रखकर अनेक प्रकार के लौकिक अनुष्ठान किये जाते थे। **मेधि-व्रीहि-यव-गोधूमादिमर्दनाथ खले स्थापितो दार्वादिमयः पशुवन्धनस्तम्भ। यत्र पवितशो वद्धा वलीवर्दादयो व्रीह्यादिमर्दनाय परितो भ्राम्यन्ति तत्सादृश्यादयमपि मेधि'।** गाथापति आनन्द अपने कुटुम्व के मेधि के समान थे अर्थात् कुटुम्व उन्ही के सहारे था, वे ही उसके व्यवस्थापक थे।

मूल पाठ मे 'वि' अपि—शब्द है उसका तात्पर्य यह है कि वे केवल कुटुम्व के ही आश्रय न थे वरन् समस्त लोगो के भी आश्रय थे, जैसा कि ऊपर वताया जा

चुका है। आगे भी जहाँ-जहाँ 'वि' अपि—आया है वहाँ सर्वत्र यही तात्पर्य समझना चाहिए।

सूत्र मे आनन्द को चक्षु वताया है। इसका यह भाव है—जिस प्रकार चक्षु पदार्थों का प्रकाशक है, उसी प्रकार आनन्द भी सकल पदार्थों का प्रदर्शक था। मेधि, प्रमाण, आधार, आलम्वन और चक्षु इन शब्दो के साथ भूत शब्द लगाने से वे सब उपमावाची बन जाते हैं।

आनन्द को 'सव्वकज्ज वड्ढावए' अर्थात् सब कार्यो का प्रेरक या बढाने वाला वताया गया है। जो व्यक्ति अन्य लोगो के काम आता है वह माननीय हो जाता है।

आनन्द की पत्नी शिवानन्दा का वर्णन—

मूलम्—**तस्स णं आणंदस्स गहावइस्स सिवनंदा (सिवानन्दा) नामं भारिया होत्था, अहीण जाव सुरूवा। आणंदस्स गाहावइस्स इट्ठा, आणंदेणं गाहावइणा सद्धि अणुरत्ता, अविरत्ता, इट्ठे सद्द० जाव पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरइ ॥ ६ ॥**

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथपतेः शिवानन्दा नाम भार्या आसीत्, अहीना यावत् सुरूपा। आनन्दस्य गाथापतेरिष्टा। आनन्देन गाथापतिना सार्द्धमनुरक्ता, अविरक्ता, इष्टान् शब्दान् यावत् पञ्चविधान् मानुष्यान् कामभोगान् प्रत्यनुभवन्ती विहरति।

शब्दार्थ—**तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स**—उस आनन्द गाथापति की, **सिवनंदा नाम भारिया होत्था**—शिवानन्दा नामक भार्या थी। **अहीण जाव सुरूवा**—अहीन अर्थात् पूर्ण अङ्गोपाङ्ग वाली तथा रूपवती थी। **आणंदस्स गाहावइस्स**—आनन्द गाथापति को **इट्ठा**—प्रिय थी, **आणंदेणं गाहावइणा सद्धि अणुरत्ता**—आनन्द गाथापति के प्रति अनुरक्त थी, **अविरत्ता**—अविरक्त थी, **इट्ठे**—मनोनुकूल, **सद्द जाव पञ्चविहे**—शब्दादि पाँच प्रकार के, **माणुस्सए**—मानवीय, **कामभोए**—कामभोगो का, **पच्चणुभवमाणी विहरइ**—आनन्द लेती हुई जीवन यापन कर रही थी।

भावार्थ—आनन्द गाथापति की शिवानन्दा नामक पत्नी थी। वह सर्वाङ्ग परिपूर्ण एव सुन्दरी थी। आनन्द को अत्यन्त प्रिय थी। उसके प्रति अनुरक्त एव अविरक्त थी। और उसके साथ इच्छानुकूल शब्द, रूप आदि पाँच प्रकार के मनुष्य-जन्म सम्बन्धी कामभोगो का उपभोग करती हुई जीवन यापन कर रही थी।

टीका—इस सूत्र मे आनन्द गाथापति की भार्या का वर्णन है। वह सर्वांग सुन्दर तथा स्वस्थ थी। रूप-लावण्य तथा सुलक्षणो से सम्पन्न थी। वह आनन्द गाथापति को प्रिय थी और आनन्द उसे प्रिय था। दोनो शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सम्बन्धी इन्द्रिय सुखो का आनन्द लेते हुए जीवन यापन कर रहे थे। सूत्रकार ने स्त्री की योग्यता के विषय मे दो पद दिये हैं—अनुरक्ता और अविरक्ता। अनुरक्ता की व्याख्या निम्नलिखित है—

"घर कम्म वावडा जा, सव्वसिणेहप्पवड्ढणी दक्खा।
छाया विव भत्तणुगा, अणुरत्ता, सा समक्खाया॥"[1]

जो स्त्री घर के काम-काज मे लगी रहती है, सबका स्नेह बढाने वाली तथा चतुर होती है एव परछाई की तरह पति की अनुगामिनी होती है, उसे शास्त्रो मे अनुरक्ता कहा गया है। अविरक्ता की व्याख्या इस प्रकार है—

पडिऊले वि य भत्तरि किंचिवि रुट्ठा ण जा हवइ।
जाउ मिउ भासिणी य णिच्चं सा अविरत्तत्ति णिद्दिट्ठा॥[2]

पति के प्रतिकूल होने पर भी जो स्त्री तनिक रोष नही करती, सदा मधुर वाणी बोलती है, वह अविरक्ता कही जाती है। इस कथन द्वारा सूत्रकर्त्ता ने पतिव्रता स्त्री के दो पदो मे समस्त लक्षण बता दिये हैं। शिवानन्दा भार्या इन्द्रिय और मन को प्रसन्न करने वाले मनुष्य सम्बन्धी पॉच प्रकार के कामभोगो का उपभोग कर रही थी।

---

[1] गृहकर्म व्यापृता या सर्वस्नेहप्रवर्द्धनी दक्षा।
छायेव भर्त्रनुगा अनुरक्ता, सा समाख्याता॥

[2] प्रतिकूलेऽपि च भर्त्तरि, किञ्चदपि रुष्टा न या भवति।
या तु मृदुभाषिणी च नित्य सा अविरक्तेति निर्दिष्टा॥

कामभोग—शब्द रूप आदि जिन विषयो का आनन्द एक साथ अनेक व्यक्ति ले सकते हैं, वे काम कहे जाते हैं तथा भोजन, पान, शय्या आदि को भोग कहते हैं, जहाँ भोग्य वस्तु भिन्न २ रहती है।

कोल्लाक सन्निवेश का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं वाणियगामस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ ण कोल्लाए नाम सन्निवेसे होत्था। रिद्ध-त्थिमिय जाव पासादीए; दरसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे ॥ ७ ॥

छाया—तस्मात् खलु वाणिज्य ग्रामाद् बहिरुत्तर पौरस्त्ये दिग्विभागेऽत्र खलु कोल्लाको नाम सन्निवेश आसीत् ऋद्ध· स्तिमितो यावत् प्रासादीय., दर्शनीय., अभिरूप, प्रतिरूपः।

शब्दार्थ—तस्स णं—उस, वाणियगामस्स—वाणिज्यग्राम के, बहिया—बाहर, उत्तरपुरत्थिमे—उत्तर पूर्व, दिसी भाए—दिशा मे, एत्थणं—यहाँ, कोल्लाए नामं सन्निवेसे—कोल्लाक नामक सन्निवेश, होत्था—था। वह रिद्ध-त्थिमिय-जाव पासादीए—ऋद्ध अर्थात् सम्पन्न, स्तिमित अर्थात् सुरक्षित यावत्, पासादीय—प्रासादो से सुशोभित, दरिसणिज्जे—दर्शनीय था। अभिरूवे—अभिरूप अर्थात् सुन्दर और पडिरूवे—प्रतिरूप अर्थात् जैसा होना चाहिए वैसा था।

भावार्थ—वाणिज्यग्राम के बाहर ईशान कोण मे कोल्लाक नामक सन्निवेश अर्थात् उपनगर था। वह ऋद्ध—धन-धान्य आदि से सम्पन्न, स्तिमित—तस्कर आदि के उपद्रवो से रहित, प्रासादीय—मनोहर, दर्शनीय—देखने योग्य, अभिरूप—शोभापूर्ण तथा प्रतिरूप—अलौकिक छवि वाला था।

टीका—सूत्रकार ने 'रिद्ध, त्थिमिय, समिद्ध' ये तीन पद दिये हैं, इनके द्वारा नगर का समस्त वर्णन कर दिया है। विशाल भवनो से नगर की शोभा बढती है। किन्तु वही नगर वृद्धिशाली हो सकता है, जो निर्भय हो अर्थात् जहाँ राजा, तस्कर आदि किसी प्रकार का भय न हो। शास्त्रो मे भय के अनेक प्रकार बताये हैं—राजभय, तस्करभय, जलभय, अग्निभय, वनचरभय तथा जनता के असन्तोष का

भय। जब नगर निर्भय होता है, तभी उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। परिणाम स्वरूप धन-धान्य आदि की वृद्धि होती है और वह व्यापार का केन्द्र बन जाता है, कोल्लाक नामक सन्निवेश उक्त गुणो से युक्त था। सन्निवेश उसे कहते हैं—"सन्निविशन्ति जना यस्मिन् स ग्रामविशेष." अर्थात् जिसमे जन निवेश करते हैं, उसी का नाम सन्निवेश (पडाव) है। कोल्लाक सन्निवेश वाणिज्यग्राम के समीप एक पडाव या बस्ती थी, जो व्यक्त तथा सुधर्मा गणधरो का जन्म स्थान मानी जाती है। भगवान् महावीर स्वामी को यहाँ रहने वाले बहुल ब्राह्मण के घर से प्रथम भिक्षा प्राप्त हुई थी।

आनन्द के स्वजन सम्बन्धियो का वर्णन—

मूलम्—तत्थ णं कोल्लाए सन्निवेसे आणंदस्स गाहावइस्स बहुए मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परिजणे परिवसइ, अड्ढे जाव अपरिभूए॥ ८॥

छाया—तत्र खलु कोल्लाक सन्निवेशे आनन्दस्य गाथापतेर्बहुको मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-सम्बन्धि-परिजनः परिवसति, आढ्यो यावदपरिभूतः।

शब्दार्थ—**तत्थ णं**—उस, **कोल्लाए सन्निवेसे**—कोल्लाक सन्निवेश मे, **आणदस्स गाहावइस्स** आनन्द गाथापति के, **बहुए**—बहुत से, **मित्तणाइणियगसयण सबधि परिजणे**—मित्र, ज्ञाति, आत्मीय, स्वजन-सम्बन्धी और परिजन रहा करते थे। **अड्ढे जाव अपरिभूए**—वे भी आढ्य यावत् अपरिभूत थे।

भावार्थ—उस कोल्लाक सन्निवेश मे आनन्द गाथापति के बहुत से मित्र, जाति-बन्धु, आत्मीय, स्वजन, सम्बन्धी तथा परिजन निवास करते थे। वे भी सम्पन्न तथा अपरिभूत थे।

टीका—इस सूत्र मे आनन्द गाथापति के स्वजनो का वर्णन किया गया है। मित्रादि के लक्षण निम्नलिखित दो गाथाओ मे वर्णित हैं—

"मित्त सयेगरूव, हियमुवदिसइ, पिय च वितणोइ।
तुल्लायार वियारी, सज्जाइ वग्गो य सम्मया णाई॥"[1]

---

[1] मित्र सदैकरूप हितमुपदिशति प्रिय च वितनोति।
तुल्याचारविचारी, स्वजाति वर्गश्च सम्मता ज्ञाति॥

"माया पिउ पुत्ताई, णियगो, सयणो, पिउव्व भायाई ।
सबंधी ससुराई, दासाई परिजणो णेओ ॥"[१]

मित्र वह है जो सदा हित की बात बताता है और सदा हित ही करता है। समान आचार विचार वाले स्वजाति वर्ग को ज्ञाति। माता-पिता पुत्र आदि को निजक। भाई आदि को स्वजन। श्वसुर आदि को सम्बन्धी और दास आदि को परिजन कहते हैं।

भगवान् महावीर का समवसरण—

मूलम्—**तेण कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसरिए। परिसा निग्गया। कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू निगच्छइ। निग्गच्छित्ता जाव पज्जुवासइ ॥ ६ ॥**

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरो यावत् समवसृतः। परिषन्निर्गता। कूणिको राजा यथा, तथा जितशत्रुर्निगच्छति। निर्गत्य यावत् पर्युपास्ते।

शब्दार्थ—**तेणं कालेण तेण समएणं**—उस काल उस समय, **समणे भगवं महावीरे जाव समोसरिए**—श्रमण भगवान् महावीर यावत् वाणिज्यग्राम मे आये, **कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू निगच्छइ**—कूणिक राजा के समान जितशत्रु राजा भी निकला, **निग्गच्छित्ता**—निकलकर **जाव**—यावत् **पज्जुवासइ**—भगवान् के पास आया और उसने भगवान् महावीर की वन्दना तथा चरणसेवा की।

भावार्थ—उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए वाणिज्यग्राम नगर के बाहर दूतिपलाश चैत्य मे पधारे। परिषद् वन्दन करने को निकली। कूणिक के समान जितशत्रु राजा भी वैभव के साथ निकला और भगवान् महावीर की सेवा मे उपस्थित हुआ।

---

[१] माता-पितृ-पुत्रादिर्निजकः, स्वजनः पितृव्यभ्रात्रादिः।
सम्बन्धी श्वशुरादिर्दासादिः परिजनो ज्ञेयः ॥

टीका—सूत्र मे परिषद् (परिसा) शब्द दिया हुआ है उसका यह भाव है—परि-सर्वतोभावेन सीदन्ति—उपविशन्ति-गच्छन्ति वा जना यस्यां सा परिषत्—सभा। अर्थात् जिस स्थान पर लोग विचार-विनिमय करने के लिए बैठते हैं, उसका नाम परिषत् है। यह तीन प्रकार की होती है—

१ ज्ञा परिषद्—निपुण, बुद्धि सपन्न, विचारशील, गुण दोष को जानने वाली दीर्घदर्शी एव औचित्यानुचित्य का विवेक करने वाली 'ज्ञा' परिषद् होती है।

२ अज्ञा परिषद्—अज्ञानी किन्तु विनयशील तथा शिक्षा मानने मे तत्पर जिज्ञासुओ की सभा, 'अज्ञा' परिषद् होती है।

३. दुर्विदग्धा परिषद्—मिथ्या अहङ्कार से युक्त, तत्त्व बोध से रहित एव दुराग्रही व्यक्तियो की सभा 'दुर्विदग्धा' परिषद् कही जाती है।

आनन्द का भगवान के दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए ण से आणदे गहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे "एवं खलु समणे जाव विहरइ, तं महप्फलं, जाव गच्छामि णं। जाव पज्जुवासामि" एवं संपेहेइ, सपेहित्ता ण्हाए, सुद्धप्पा मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिए, अप्पमहग्घाभरणालंकिय सरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता सकोरेण्ट मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते पायविहारचारेणं वाणियग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणामेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्त वंदइ नमंसइ जाव पज्जुवासइ॥ १०॥

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिरस्या कथाया लब्धार्थ सन्, "एव खलु श्रमणो यावद् विहरति, तन्महत् फलम्, गच्छामि खलु यावत् पर्युपासे" एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य स्नात., शुद्धप्रवेश्यानि माङ्गल्याणि वस्त्राणि प्रवरपरिहितः, अल्पमहर्घाभरणालंकृतशरीर' स्वकात् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य सकुरण्टमाल्यदाम्ना छत्रेण ध्रियमाणेन मनुष्यवागुरा परिक्षिप्तः पादविहारचारेण वाणिज्यग्रामं नगरं मध्यं मध्येन

निर्गच्छति, निर्गत्य यत्रैव दूतिपलाशचैत्यम्, यत्रैव श्रमणो भगवान् महावीरस्त-त्रैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिकृत्वः आदक्षिणं प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वदन्ते नमस्यति, यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **से**—वह **आणदे गाहावई**—आनन्द गाथापति, **इमी-से कहाए**—इस कथा मे **लद्धट्ठे समाणे**—लब्दार्थ हुआ—अर्थात् आनन्द को भी यह ज्ञात हुआ कि **एव खलु समणे जाव विहरइ**—चम्पा के वाहर दूतीपलाश उद्यान मे श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं, **तं महप्फल**—महान् फल होगा यदि मैं **जाव गच्छामिणं**—यावत् भगवान् के दर्शन करने जाऊँ **जाव**—यावत् **पज्जुवासामि**—और उपासना करूँ, **एवं सपेहेइ**—आनन्द ने इस भाँति विचार किया, **सपेहित्ता**—विचार करके **ण्हाए**—स्नान किया, **सुद्धप्पा-वेसाइ मगलाइं वत्थाइं**—और शुद्ध तथा सभा मे प्रवेश करने योग्य माङ्गलिक वस्त्र **पवर परिहिए**—भली भाँति पहने, **अप्पमहग्घाभरणालंकिय-सरीरे**—और अल्प किन्तु वहुमूल्य आभूषणो से शरीर को आलकृत किया। **सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ**—इस प्रकार सज्जित होकर वह अपने घर से निकला। **पडिनिक्खमित्ता**—निकल कर, **सकोरेंटमल्लदामेण छत्तेण धरिज्जमाणेणं**—कुरण्ट पुष्पो की माला से युक्त छत्र धारण किये, **मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते**—मनुष्य समूह से घिरा हुआ, **पायविहारचारेणं**—पैदल ही चलता हुआ, **वाणिय गाम नयर मज्झं मज्झेण निग्गच्छइ**—वाणिज्य ग्राम नगर के वीच होता हुआ निकला, **निग्गच्छित्ता**—निकल कर **जेणामेव दुइपलासे चेइए**—जहाँ दुतिपलाश चैत्य था, **जेणेव समणे भगवं महावीरे**—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजते थे। **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आया, **उवागच्छित्ता**—आकर, **तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिण करेइ**—तीन वार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, **करेत्ता**—प्रदक्षिणा करके **वंदइ नमंसइ**—वन्दना की और नमस्कार किया। **जाव**—यावत्, **पज्जुवासइ**—पर्युपासना की।

भावार्थ—राजा आदि नगर के प्रमुख जनो को भगवान् की वन्दना के लिए जाते देखकर आनन्द को ज्ञात हुआ कि महावीर स्वामी नगर के वाहर उद्यान मे ठहरे हुए हैं। उसके मन मे विचार आया कि मुझे भी भगवान् के दर्शनार्थ जाना चाहिए और विधि पूर्वक उपासना करनी चाहिए, इससे महान् फल की प्राप्ति होगी। यह विचार कर उसने स्नान किया, शुद्ध एव सभा मे प्रवेश करने योग्य

मङ्गल वस्त्र पहने, अल्प परन्तु बहुमूल्य आभूषणो द्वारा शरीर को विभूषित किया। इस भाँति सुसज्जित होकर वह अपने घर से निकला। कोरट पुष्पो की माला से अलकृत छत्र धारण किया और जन समुदाय से घिरा हुआ, पैदल ही वाणिज्यग्राम नगर के वीचो-वीच होता हुआ, दुतिपलाश चैत्य मे जहाँ भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहा पहुँचा। वहाँ जाकर भगवान् महावीर की तीन बार प्रदक्षिणा की, वन्दना तथा नमस्कार किया, यथाविधि पर्युपासना की।

टीका—सूत्र मे 'यावत्' शव्द से निम्नलिखित पाठ की ओर सकेत किया गया है—"**समणं भगवं महावीरं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगल देवय चेइयं विणएणं ··।**"

भगवान् की वन्दना करते समय उनकी इस प्रकार स्तुति की जाती है—आप कल्याण करने से कल्याण रूप हैं, दु खो और विघ्नो को उपशमन करने से मङ्गल रूप हैं, तीन लोक के नाथ होने से आप आराध्य देव स्वरूप हैं, विशिष्ट ज्ञानवान् हैं अथवा चित्तशुद्धि के हेतु होने से आप चैत्य-ज्ञान स्वरूप हैं। उक्त चार पदो की व्याख्या राजप्रश्नीय सूत्रान्तर्गत सूर्याभदेव के वर्णन मे आचार्य मलयगिरि ने निम्न प्रकार की है—"**कल्लाणं मंगल देवयं चेइयं पज्जुवासामि, कल्याणं—कल्याणकारित्वात्, मंगलं—दुरितोपशमकारित्वात्, देवतां—देव त्रैलोक्याधिपतित्वात्, चैत्यं—सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात् पर्युपासितुम्—सेवितुम्।**"

भगवान की धर्मकथा का वर्णन—

मूलम्—**तए णं समणे भगव महावीरे आणंदस्स गाहावइस्स, तीसे य महइ-महालियाए परिसाए जाव धम्म कहा। परिसा पडिगया, राया य गओ ॥ ११ ॥**

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरः आनन्दाय गाथापतये तस्यां च **महातिमहत्यांपरिषदि यावद् धर्मकथा। परिषत् प्रतिगता, राजा च गतः।**

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर, **समणे भगव महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने, **आणंदस्स गाहावइस्स**—आनन्द गाथापति को, **तीसे य महइ महालियाए परिसाए**—उस

महनीय परिषद् मे, धम्म कहा—धर्मकथा कही, परिसा पडिगया—उपदेशानन्तर परिषद् चली गई, राया य गओ—राजा भी चला गया।

भावार्थ—तदन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द गाथापति तथा उस महती परिषद् को धर्म उपदेश दिया। धर्म प्रवचन के पश्चात् परिषद् चली गई और जितशत्रु राजा भी चला गया।

टीका—इस सूत्र मे भगवान की धर्मकथा का उल्लेख किया गया है। भगवान् महावीर ने आनन्द गाथापति और जितशत्रु राजा आदि प्रधान पुरुषो की महासभा मे धर्मकथा की। उसका विस्तृत वर्णन औपपातिक सूत्र मे किया गया है। भगवान् ने सर्व प्रथम आस्तिकवाद का निरूपण किया। जैन दर्शन के अनुसार लोक, अलोक, जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष रूप पदार्थो का वास्तविक अस्तित्व है। जैन शास्त्रो मे इनका नय और प्रमाणो द्वारा निरूपण किया गया है। प्रत्येक पदार्थ स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अस्ति अर्थात् विद्यमान है और पर द्रव्य आदि की अपेक्षा से नास्ति अर्थात् अविद्यमान है। इसका विस्तृत वर्णन सप्तभङ्गी न्याय द्वारा किया गया है। भगवान् ने सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप का मोक्ष मार्ग के रूप मे निरूपण किया है। साथ ही चार गतियो, चार कषायो, चार सज्ञाओ, षड् जीवनीकायो तथा चार विकथाओ अर्थात् स्त्रीविकथा, भक्तविकथा, देशविकथा तथा राजविकथा का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त चार प्रकार की धर्म कथाओ का स्वरूप बताया गया है, वे इस प्रकार हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेगनी और निर्वेदनी। उक्त चार धर्म कथाओ का श्रीठाणाङ्ग सूत्र मे विस्तार से प्रति-पादन किया गया है।

धर्मोपदेश श्रवण के अनन्तर आनन्द की प्रतिक्रिया—

मूलम्—तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव एवं वयासी—सद्दहामि णं, भंते ! णिग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं, भंते ! णिग्गंथं पावयणं, रोएमि णं, भते ! निग्गंथ पावयणं, एवमेयं, भंते ! तहमेयं, भते ! अवितहमेयं, भंते !

इच्छियमेयं, भंते ! पडिच्छियमेयं, भंते ! इच्छिय-पडिच्छियमेयं, भंते ! से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु, जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुम्बिय-सेट्ठि-सेणावई सत्थवाहप्पभिइओ मुण्डा भवित्ता आगराओ अणगारियं पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए। अहं णं देवाणप्पियाण अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि धम्मं पडिवज्जिसामि। अहासुहं, देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह ॥ १२ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके धर्म श्रुत्वा निशम्य हृष्टस्तुष्टः यावदेवमवादीत्—श्रद्दधामि खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं, प्रत्येमि खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं, रोचते मे खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनम्। एवमेतद् भदन्त ! तथ्यमेतद् भदन्त ! अवितथमेतद् भदन्त ! इष्टमेतद् भदन्त ! प्रतीष्टमेतद् भदन्त ! इष्टप्रतीष्टमेतद् भदन्त ! तद् यथैतद् यूयं वदथेति कृत्वा, यथा खलु देवानुप्रियाणामन्तिके बहवो राजेश्वर-तलवर-माडम्बिक-कौटुम्बिक-श्रेष्ठि-सेनापति-सार्थवाह प्रभृतयो मुण्डीभूय आगाराद् अनगारतां प्रव्रजिताः, नो खलु अह तथा शक्नोमि मुण्डो यावत् प्रव्रजितुम्। अहं खलु देवानुप्रियाणामन्तिके पञ्चाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध गृहिधर्म प्रतिपत्स्ये। यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धं कुरु।

शब्दार्थ—तए ण से—तत्पश्चात् आणदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स—आनन्द गाथापति श्रमण भगवान् महावीर के अंतिए—पास धम्मं—धर्म को सोच्चा—सुनकर निसम्म—हृदय में धारण करके हट्ठ तुट्ठ जाव एव वयासी—हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रसन्न होकर इस प्रकार बोला, सद्दहामिणं, भते! निग्गंथ पावयण—हे भगवन्! मैं निर्गन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, पत्तियामिण भते! निग्गंथं पावयण—हे भगवन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मैं विश्वास करता हूँ। रोयमिणं भंते! निग्गथ पावयण—हे भगवन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे अच्छा लगता है। एवमेयं भते!—हे भगवन् (सत्य का स्वरूप) ऐसा ही है, तहमेयं भते!—भगवन्! यही तथ्य है, अवितहमेय भते!—हे भगवन्! यह यथार्थ है। इच्छियमेय भते!—हे भगवन्!

यह अभिलपणीय है, **पडिच्छियमेयं भंते !**—हे भगवन् ! यह अभीप्सनीय है, **इच्छिय-पडिच्छियमेय भंते !**—हे भगवन् यह अभिलपणीय तथा अभीप्सनीय है। **से जहेय तुब्भे वयह**—यह प्रवचन ठीक वैसा ही है जैसा आप ने कहा है। **त्ति कट्टु**—अत **जहाण देवाणुप्पियाण अंतिए**—जिस प्रकार देवानुप्रिय के पास, **वहवे राईसर-तलवर-माडबिए-कोडुंबिए-सेट्ठि-सेणावई-सत्थवाह पभिइया**— वहुत से राजा-ईश्वर-तल्वर-माडम्बिक-कौटुम्बिक-श्रेष्ठी-सेनापति-सार्थवाह आदि, **मुण्डा भविता**—मुण्डित होकर, **अगाराओ अणगारिय पव्वइत्ता**— घर छोडकर मुनि वने, **नो खलु अह तहा सचाएमि मुण्डे जाव पवइत्तए**—मै उस प्रकार मुण्डित यावत् प्रव्रजित होने मे समर्थ नही हूँ। **अह ण देवाणुप्पियाण अंतिए पचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइय**—मैं तो देवानुप्रिय के पास पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत, इस प्रकार, **दुवालसविहं गिह धम्मं**—द्वादशविध गृहस्थ धर्म को, **पडिवज्जिसामि**—स्वीकार करूगा। **अहासुह देवानुप्पिया**—भगवान ने कहा है देवानुप्रिय ! जैसे तुमको सुख हो वैसे करो, **मा पडिवन्धं करेह**—विलम्ब मत करो।

भावार्थ—तत्पश्चात् आनन्द गाथापति श्री भगवान महावीर स्वामी के पास धर्मोपदेश सुन कर हृष्ट-तुष्ट एव प्रसन्न होकर इस प्रकार कहने लगा—भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, विश्वास करता हूँ, वह मुझे अच्छा लगता है। भगवन् ! यह ऐसा ही है जैसा आपने कहा। निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, यथार्थ है, तथ्य है, मुझे अभीप्सित है, तथा अभीप्रेत है। हे दवानुप्रिय ! आपके पास जिस प्रकार राजा-ईश्वर-तल्वर-माडम्बिक-कौटुम्बिक-श्रेष्ठी-सेनापति-सार्थवाह मुण्डित होकर—घर छोड कर मुनि वने हैं। किन्तु मैं उस प्रकार मुण्डित एव प्रव्रजित होने मे समर्थ नही हूँ। अत देवानुप्रिय ! मै आपके पास पॉच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत स्वरूप द्वादशविध गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार करना चाहता हूँ। आनन्द गाथापति के इस प्रकार कहने पर भगवान महावीर ने उत्तर दिया—देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो उस प्रकार करो, विलम्ब मत करो।

टीका—धर्म के दो रूप हैं, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म, श्रुतधर्म का अर्थ है—धर्म के स्वरूप का ज्ञान और उसमे श्रद्धा। चारित्रधर्म का अर्थ है—सयम और तप। सयम द्वारा आत्मा को पाप अथवा अशुभ प्रवृत्तियो से वचाया जाता है और तप द्वारा

पूर्व सचित कर्मो अथवा अशुद्धि को दूर किया जाता है। मुनि पूर्ण सयम का पालन करता है और गृहस्थ आशिक रूप मे, आनन्द ने भगवान का प्रवचन सुनकर उसे अच्छी तरह समझा और दृढ विश्वास जमाया। तदनन्तर अगले कदम के रूप मे श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये। उसने अपने विश्वास को जिन शब्दो द्वारा प्रकट किया है वह उसकी दृढ श्रद्धा को प्रकट करते हैं। इसी को जैन दर्शन मे सम्यग्-दर्शन कहा गया है जो कि मोक्ष मार्ग की आधार शिला है।

भगवान् ने आनन्द को सम्बोधित करते हुए देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार आनन्द ने भी भगवान् के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है, वह व्यक्ति जो देवताओ को भी प्रिय लगता है अर्थात् जिसके जीवन के लिए देवता भी स्पृहा करते हैं।

राजा, ईश्वर आदि शब्द तत्कालीन सामाजिक एव राजकीय प्रतिष्ठा के द्योतक हैं। इनका अर्थ परिशिष्ट मे देखे।

आनन्द का व्रतग्रहण—

प्रथम अहिंसा व्रत

मूलम्—तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥१३॥

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापति श्रमणस्य भगवतो महवीरस्य अन्तिके तत्प्रथमतया स्थूलं प्राणातिपात प्रत्याख्याति, यावज्जीव द्विविध त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से**—उस **आणदे गाहावई**—आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के **अंतिए**—पास मे **तप्पढमयाए**—सर्वप्रधान, **थूलगं पाणाइवायं**—स्थूलप्राणातिपात का, **पच्चक्खाइ**—प्रत्याख्यान किया। **जावज्जीवाए**—समस्त जीवन के लिए, **दुविहं तिविहेणं**—दो करण तीन योग से अर्थात् **न करेमि**—न करूगा **न कारवेमि**—न कराऊँगा **मणसा**—मन से **वयसा**—वचन से **कायसा**—और काय से।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के पास अखिल व्रतो मे श्रेष्ठ प्रथम व्रत के रूप मे स्थूल प्राणातिपात अर्थात् स्थूल हिसा का दो कारण तीन योग से परित्याग किया। उसने निश्चय किया कि यावज्जीवन मन, वचन और शरीर से स्थूल प्राणातिपात न स्वय करूगा और न दूसरो से कराऊँगा।

टीका—दुविह तिविहेण—किसी कार्य या वस्तु का परित्याग कई प्रकार से किया जाता है। किसी कार्य को हम स्वय नही करते, किन्तु दूसरे से कराने या अन्य व्यक्ति द्वारा स्वय करने पर उसके अनुमोदन का त्याग नही करते। इस दृष्टि से जैन धर्म मे ४९ भग अर्थात् प्रकार बताये गये हैं। करना, कराना तथा अनुमोदन करना, ये तीन कारण हैं और मन, वचन तथा काय के रूप मे तीन योग हैं। सर्वोत्कृष्ट त्याग तीन करण, तीन योग से होता है, इसका अर्थ है किसी कार्य को मन, वचन तथा काय से न स्वय करना न दूसरे से कराना और न करने वाले का अनुमोदन करना। इस प्रकार का त्याग समस्त सासारिक प्रवृत्तियो से निवृत्त मुनि के लिए सम्भव है। त्याग की निम्नतम श्रेणी एक करण, एक योग है अर्थात् अपने हाथ से स्वय न करना। अन्य कोटियाँ इन दोनो के मध्यवर्ती हैं। श्रावक अपने व्रतो को साधारणतया दो करण, तीन योग से स्वीकार करता है अर्थात् वह निश्चय करता है, कि स्थूल हिसा आदि पाप कार्यो को मन, वचन और काय के द्वारा मैं न स्वय करूगा और न दूसरे से कराऊँगा। जहाँ तक अनुमोदन का प्रश्न है, उसे छूट रहती है। उपरोक्त ४९ भग अथवा प्रकारो मे प्रस्तुत भग का ४० वाँ स्थान है, जो २३ अर्थात् दो और तीन के अङ्क द्वारा प्रकट किया जाता है।

थूलग पाणाइवाय—जैन धर्म मे जीवो का विभाजन दो श्रेणियो मे किया गया है। साधारण कीडे-मकोडो से लेकर मनुष्य पर्यन्त जो जीव स्वेच्छानुसार चल-फिर या हिल सकते हैं, उन्हे त्रस कहा गया है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति के जीव, स्थावर कहे गये हैं। स्थूल हिसा से तात्पर्य है—त्रस जीवो की हिसा। आनन्द श्रावक ने भगवान से यह व्रत ग्रहण किया कि निरपराधी चलने फिरने वाले प्राणियो की मैं हिसा नही करूगा, इसलिए उसने दो करण और तीन योग से मोटी हिसा का परित्याग किया। श्रावक को स्थावर जीवो की हिसा का पूर्ण रूपेण परित्याग नही होता। मुनि को स्थावर तथा त्रस दोनो की हिसा का पूर्णतया परित्याग होता है।

द्वितीय सत्य व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥१४॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलक मृषावादं प्रत्याचष्टे, यावज्जीवं द्विविध त्रिविधेन न करोमि, न कारयामि, मनसा, वचसा कायेन ।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च ण**—और उसके अनन्तर, **थूलगं मुसावायं**—स्थूल मृषावाद का, **पच्चक्खाइ**—प्रत्याख्यान किया, **जावज्जीवाए**—यावज्जीवन, **दुविहं तिविहेणं**—दो करण तीन योग से, **न करेमि**—न करूँगा, **न कारवेमि**—न कराऊँगा, **मणसा**—मन से, **वयसा**—वचन से, **कायसा**—शरीर से ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द ने स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान किया कि यावज्जीवन दो करण तीन योग से अर्थात् मन वचन और काय से स्थूल मृषावाद का प्रयोग न स्वय करूँगा और न दूसरो से कराऊँगा ।

तृतीय अस्तेय व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं थूलगं अदिण्णादाणं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा ॥१५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकं अदत्तादान प्रत्याख्याति यावज्जीव द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि, मनसा वचसा कायेन ।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च ण**—तदनन्तर, **थूलगं अदिण्णादाणं**—स्थूल अदत्तदान का, **पच्चक्खाइ**—प्रत्याख्यान किया कि, **जावज्जीवाए**—यावज्जीवन, **दुविह तिविहेण**—दो करण तीन योग से अर्थात्, **मणसा**—मन से, **वयसा**—वचन से, **कायसा**—और शरीर से, **न करेमि**—स्थूल चोरी न करूँगा, **न कारवेमि**—न कराऊँगा ।

भावार्थ—इसके बाद आनन्द ने स्थूल अदत्तादान अर्थात् चौर्य का प्रत्याख्यान किया कि यावज्जीवन दो करण तीन योग से अर्थात् मन से वचन से और काय से स्थूल चोरी न करूँगा और न कराऊँगा ।

चतुर्थ स्वदारसंतोष व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सदारसंतोसीए परिमाणं करेइ, नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि ॥१६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्वदारसन्तोषिके परिमाणं करोति, नान्यत्र एकस्याः शिवानन्दाया भार्यायाः अवशेषं सर्वं मैथुनविधिं प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, सदारसंतोसीए—स्वदार सन्तोष सम्बन्धी व्रत के सम्बन्ध मे, पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया । नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए—एक शिवानन्दा भार्या के अतिरिक्त, अवसेसं—अवशिष्ट, सव्व मेहुण-विहिं—सब प्रकार के मैथुन सेवन का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—तत्पश्चात् आनन्द ने स्वदार सन्तोष सम्बन्धी व्रत को स्वीकार किया और यह मर्यादा स्वीकार की कि शिवानन्दा नामक विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

टीका—प्रस्तुत व्रत मे योग और करण का उल्लेख नहीं किया गया । आवश्यक सूत्र मे केवल एक करण एक योग का उल्लेख है । इसका अर्थ है श्रावक मर्यादित क्षेत्र से बाहर केवल काया से स्वय मैथुन सेवन का परित्याग करता है । गृहस्थ जीवन मे सन्तान आदि का विवाह करना आवश्यक हो जाता है । इसी प्रकार पशुपालन करने वाले के लिए उनका परस्पर सम्बन्ध कराना भी अनिवार्य हो जाता है । अत इसमे दो करण और तीन योग न कहकर श्रावक की अपनी परिस्थिति एव सामर्थ्य पर छोड दिया है । जो श्रावक घर के बाहर उत्तरदायित्व से निवृत्त हो चुका है, वह यथाशक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ सकता है ।

पञ्चम इच्छा परिमाण व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं इच्छाविहिपरिमाणं करेमाणे हिरण्णसुवण्ण-विहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं निहाण पउत्ताहिं, चउहिं वुड्ढि पउत्ताहिं, चउहिं पवित्थर पउत्ताहिं, अवसेसं सव्वं हिरण्ण सुवण्णविहिं पच्चक्खामि ॥१७॥

तयाणंतरं च णं चउप्पय विहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वएहिं दसगोसाहस्सिएणं वएणं, अवसेसं सव्वं चउप्पयविहिं पच्चक्खामि ॥१८॥

तयाणंतरं च णं खेत्त-वत्थु विहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ पंचहिं हलसएहिं नियत्तण-सइएणं हलेणं अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थु विहिं पच्चक्खामि ॥१९॥

तयाणंतरं च णं सगडविहि परिमाण करेइ, नन्नत्थ पंचहिं सगडसएहिं दिसायत्तिएहि, पञ्चहिं सगडसएहिं संवाहणिएहिं, अवसेसं सव्वं सगडविहि पच्चक्खामि ॥२०॥

तयाणंतर च णं वाहणविहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वाहणेहिं दिसायत्तिएहिं, चउहि वाहणेहि संवाहणिएहि, अवसेसं सव्वं वाहणविहिं पच्चक्खामि ॥२१॥

छाया—तदनन्तरं च खलु इच्छाविधि परिमाणं कुर्वन् हिरण्यसुवर्णविधि परिमाण करोति। नान्यत्र चतसृभ्यो हिरण्यकोटिभ्यो निधानप्रयुक्ताभ्यः, चतसृभ्यो वृद्धि-प्रयुक्ताभ्य., चतसृभ्यः प्रविस्तरप्रयुक्ताभ्य', अवशेषं सर्व हिरण्यसुवर्णविधिं प्रत्याचक्षे।

तदनन्तरं च खलु चतुष्पदविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र चतुर्भ्यो व्रजेभ्यो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन, अवशेषं सर्वम् चतुष्पदविधि प्रत्याचक्षे।

तदनन्तरं च खलु क्षेत्रवास्तुविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र पञ्चभ्यो हल-शतेभ्यो निवर्तनशतिकेन हलेन, अवशेषं सर्व क्षेत्रवस्तुविधि प्रत्याचक्षे।

तदनन्तर च खलु शकटविधिपरिमाण करोति। नान्यत्र पञ्चभ्यः शकटशतेभ्यो-दिग्यात्रिकेभ्य', पञ्चभ्यः शकटशतेभ्य' सांवाहनिकेभ्यः, अवशेप सर्व शकटविधिं प्रत्याचक्षे।

तदनन्तरं च खलु वाहनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र चतुर्भ्यो वाहनेभ्यो दिग्यात्रिकेभ्यः, चतुर्भ्यो, वाहनेभ्यः सवाहनिकेभ्यः, अवशेषं सर्व वाहनविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणंतर च ण**—इसके पश्चात् आनन्द ने, **इच्छाविहिपरिमाणं करेमाणे**—इच्छा विधि का परिमाण करते हुए, **हिरण्णसुवण्णविहिपरिमाणं**—हिरण्य-सुवर्ण विधि का परिमाण, **करेइ**—किया कि, **चउहि हिरण्ण कोडीहिं निहाणपउत्ताहिं**—कोष मे सञ्चित चार कोटि हिरण्य-सुवर्ण, **चउहि वुड्ढि पउत्ताहि**—वृद्धि अर्थात् व्यापार मे लगे चार कोटि हिरण्य, **चउहि पवित्थरे पउत्ताहि**—प्रविस्तर अर्थात् गृह एव गृहोपकरण सम्बन्धी चार हिरण्य कोटि के, **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—समस्त, **हिरण्ण सुवण्णविहिं**—हिरण्य-सुवर्ण संग्रह का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, **चउप्पयविहि परिमाण**—चतुष्पद विधि का परिमाण, **करेइ**—किया कि, **दसगोसाहस्सिएणं वएणं चउहि वएहिं**—प्रत्येक मे दस हजार गौओ वाले चार व्रजो के, **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं सव्वं**—अन्य सव, **चउप्पयविहिं पच्चक्खामि**—चतुष्पद अर्थात् पशु सग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, **खेत्तवत्थु विहि परिमाणं**—क्षेत्र-वास्तु विधि का परिमाण, **करेइ**—किया, **नियत्तण-सइएणं हलेणं**—सौ बीघा भूमि का एक हल ऐसे **पंचहिं हलसएहिं**—पाँच सौ हलो के, **नन्नत्थ**—सिवा, **अवसेसं**—अन्य, **सव्वं**—सव, **खेत्तवत्थुविहिं**—क्षेत्र-वास्तुविधि का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, **सगडविहिपरिमाणं करेइ**—शकट विधि का परिमाण किया कि, **पंचहि सगड सएहिं दिसायत्तिएहि**—पाँच सौ शकट विदेश यात्रा करने वाले और, **पंचहि सगड सएहि संवाहणिएहि**—पाँच सौ हलो के, **नन्नत्थ**—सिवा, **अवसेसं**—अन्य, **सव्वं**—सव, **खेत्तवत्थु विहिं**—क्षेत्र-वास्तुविधि का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतर च णं—तदनन्तर, **वाहणविहिपरिमाणं**—वाहन विधि का परिमाण, **करेइ**—किया, **चउहि वाहणेहि दिसायत्तिएहिं**—चार वाहन यात्रा के, **चउहि वाहणेहिं संवाहणिएहि**—चार वाहन माल ढोने के, **नन्नत्थ**—सिवा, **अवसेसं सव्वं**—अन्य सब **वाहणविहिं**—वाहन विधि का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर इच्छाविधि का परिमाण करते हुए आनन्द ने हिरण्य सुवर्ण (सोने की मुद्रा) की मर्यादा की और निश्चय किया कि कोष मे निहित चार हिरण्य

कोटि, व्यापार मे प्रयुक्त चार हिरण्यकोटि और गृह तथा गृहोपकरण सम्बन्धी चार हिरण्यकोटि के, इस प्रकार बारह कोटि के अतिरिक्त हिरण्य सुवर्ण सग्रह करने का परित्याग करता हूँ।

इसके पश्चात् चतुष्पद अर्थात् पशु सम्बन्धी मर्यादा की—प्रत्येक मे दस हजार गौओ वाले ऐसे चार गोकुलो के सिवाय अन्य पशु सग्रह का प्रत्याख्यान किया।

तदनन्तर क्षेत्रवास्तु का परिमाण किया और सौ बीघा भूमि का एक हल, इस प्रकार के पाँच सौ हलो के सिवाय शेप क्षेत्र वास्तु का प्रत्याख्यान किया।

उसके पश्चात् बैल गाड़ियो का परिमाण किया और पाँच सौ शकट यात्रा के लिए और पाँच सौ शकट माल ढोने के रखे। इसके अतिरिक्त अन्य शकट रखने का परित्याग किया।

तदनन्तर वाहनो नौकाओ अर्थात् जलयानो का परिमाण किया। चार माल ढोने की तथा चार यात्रा की नौकाओ के सिवाय अन्य नौकाओ के रखने का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम इच्छाविधि परिमाण दिया गया है। इसका अर्थ है, कि सम्पत्ति सम्बन्धी इच्छा को मर्यादित करना। समाज, शान्ति व्यवस्था और परस्पर शोपण को रोकने के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि इच्छाओ की अनर्गल वृद्धि से ही राष्ट्रो मे सङ्घर्ष उत्पन्न होते हैं। इस व्रत को परिग्रह परिमाण व्रत भी कहा जाता है। इसका अर्थ है—सम्पत्ति की मर्यादा। यह नाम सग्राह्य वस्तु की दृष्टि से है और इच्छाविधि के रूप उपर्युक्त नाम सग्राहक के मनोभावो की दृष्टि से है। जहाँ तक चारित्र का प्रश्न है इच्छा परिमाण अधिक उपयुक्त है। इसका अर्थ है, सम्पत्ति रखना अपने आप मे बुरा नही है। एक व्यक्ति किसी सस्था का सचालक होने के नाते करोडो की सम्पत्ति रख सकता है। बुरा है उस सम्पत्ति के प्रति इच्छा या ममत्व का होना।

प्रस्तुत सूत्र मे गो पद केवल गाय का वाचक नही है। घोडे-बैल आदि अन्य पशु भी इसके अन्तर्गत हैं। गाय की मुख्यता होने के कारण पशुधन का परिमाण उसी के द्वारा किया जाता है।

आनन्द के पास दस-दस हजार गौओ वाले चार व्रज थे। इससे ज्ञात होता है, कि तत्कालीन भारत मे पशुधन सम्पत्ति का प्रमुख अङ्ग था। गाय दूध, दही और घी आदि के रूप मे सात्विक एव पौष्टिक भोजन प्रदान करती थी और वैल यात्रा एव परिवहन एव कृषि के काम आते थे और व्यापार का मुख्य अङ्ग थे। इन दोनो के द्वारा तत्कालीन समाज स्वास्थ्य तथा समृद्धि प्राप्त करता था।

खेत्तवत्थु—क्षेत्र का अर्थ है, खेत अर्थात् खेती करने की भूमि। 'वत्थु' शब्द का सस्कृत रूपान्तर वस्तु एव वास्तु दोनो प्रकार से किया जाता है। वस्तु का अर्थ है वस्त्र, पात्र, शय्या आदि प्रतिदिन काम मे आने वाले उपकरण, और वास्तु का अर्थ है मकान अथवा निवास। 'वास्तुसार' आदि स्थापत्य एवं शिल्प सम्बन्धी ग्रन्थो मे वास्तु शब्द का अर्थ भवन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र मे भी यही अर्थ विवक्षित है। अभयदेव सूरि ने क्षेत्र को ही वस्तु वताया है उनके शब्द निम्न-लिखित हैं—**'खेत्तवत्थु त्ति' इह क्षेत्रमेव वस्तु-क्षेत्रवस्तु ग्रन्थान्तरे तु क्षेत्रं च वास्तु च गृहं क्षेत्रवास्तु इति व्याख्यायते।'** अर्थात् यहाँ क्षेत्र ही वस्तु है। किन्तु अन्य ग्रन्थो मे इसकी व्याख्या क्षेत्र और वास्तु के रूप मे की गई है।

नियत्तण सइएणं आनन्द ने पाँच सौ हल भूमि का परिमाण किया। प्रत्येक हल सौ निवर्तनो[1] का वताया गया है। निवर्तन का अर्थ है हल चलाते हुए वैलो का मुडना। इसी को घुमाव (पञ्जावी घुमाओ) या खूड भी कहते हैं अभयदेव-सूरि ने इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार वताया है—**नियत्तणसइएणं, त्ति निवर्तनम्-भूमिपरिमाण विशेषो देश विशेष प्रसिद्धः ततो निवर्तनशतं कर्षणीयत्वेन यस्यास्ति तन्निवर्तनशतिकं तेन।**

दिसायत्तिएहि—प्रस्तुत सूत्र मे दो प्रकार की नौकाओ का वर्णन है। पहला प्रकार उन नौकाओ का है जो देश, विदेश मे यात्रा के लिए काम में आती थी। दूसरी वे हैं, जो सामान ढोने के काम मे आती थी। आनन्द जल एव स्थल दोनो मार्गो से व्यापार करता था। जल मार्ग के लिए उसके पास आठ जहाज थे—चार यात्रा के लिए और चार माल ढोने के लिए। स्थल मार्ग के लिए उसके पास एक हजार वैलगाडियाँ थी—पाँच सौ यात्रा के लिए और पाँच सौ माल ढोने के लिए।

---

1 निर्वतन—कराणा दशकेन वश। निवर्तन विंशतिवश सख्यं क्षेत्र चतुर्भिश्च भुजैर्निवद्धम लीलावत्याम्॥ ६॥

श्रावक के १२ व्रतो मे पाचवा परिग्रह परिमाण व्रत है और छठा दिशा परिमाण। परिग्रह परिमाण में धनधान्य, पशु, खेत एव अन्य वस्तुओ के स्वामित्व की मर्यादा की जाती है। छठे दिशा परिमाण व्रत मे खेती व्यापार आदि के लिए क्षेत्र की मर्यादा की जाती है। वहाँ श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे तथा चारो दिशाओ मे वह खेती उद्योग वाणिज्य एव अन्य व्यवसाय के लिए निश्चित क्षेत्र मर्यादा का अतिक्रमण नही करेगा। प्रस्तुत सूत्र मे छठा व्रत पाचवे के ही अन्तर्गत कर लिया गया है।

सप्तम उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत—

(१) उद्द्रवणिका विधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च ण उवभोगपरिभोग विहिं पच्चक्खाएमाणे, उल्लणिया विहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए गंध-कासाईए, अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि ॥२२॥**

छाया—**तदनन्तरं च खलु उपभोगपरिभोगविधिं प्रत्याचक्षाणः उद्द्रवणिका विधि परिमाणं करोति। नान्यत्र एकस्या गन्धकाषायिकाय्याः, अवशेषं सर्वमुद्द्रवणिकाविधिं प्रत्याचक्षे।**

शब्दार्थ—**तयाणंतर च णं**—इसके अनन्तर आनन्द ने, **उपभोगपरिभोगविहि**—उपभोग परिभोग विधि का, **पच्चक्खाएमाणे**—प्रत्याख्यान करते हुए, **उल्लणिया विहिपरिमाण करेइ**—भीगे हुए शरीर को पोछने के काम आने वाले अगोछे आदि की मर्यादा निश्चित की, **एगाए**—एक, **गधकासाईए**—सुगन्धित एव लाल अगोछे के **नन्नत्थ**—सिवा, **अवसेसं सव्वं**—अन्य सब, **उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि**—उद्द्रवणिका विधि-अगोछे रखने का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद आनन्द ने उपभोग परिभोग विधि का प्रत्याख्यान करते हुए उद्द्रवणिका-विधि का अर्थात् स्नान के पश्चात् भीगे शरीर को पोछने के काम मे आने वाले अगोछे का परिमाण किया और गन्धकषाय नामक वस्त्र के अतिरिक्त अन्य सब का प्रत्याख्यान किया।

टीका—उवभोग परिभोग विहिं—भोजन, पान, विलेपन आदि से सम्बन्ध रखने वाली जो वस्तुएँ केवल एक बार काम मे आती हैं, उन्हे उपभोग कहा जाता है और वस्त्र, पात्र, शय्या आदि जो वस्तुएँ बार २ काम आती हैं उन्हे परिभोग कहा जाता है। इसके विपरीत कही २ एक बार काम मे आने वाली वस्तुओ को परिभोग और अनेक बार काम मे आने वाली वस्तुओ को उपभोग कहा गया है। प्रस्तुत व्रत मे इन्ही की मर्यादा विहित है। इसके लिए २६ वस्तुएँ गिनाई गई हैं। अभयदेव सूरि ने उपभोग परिभोग की निम्न लिखित व्याख्या की है—**उवभोग परिभोग त्ति—उपभुज्यते पौन· पुन्येन सेव्यत इत्युपभोगो भवनवसनवनितादि.। परिभुज्यत इति परिभोगः आहारकुसुमविलेपनादिः। व्यत्ययो वा व्याख्येय इति।**

उल्लणियाविहि—यह शब्द 'द्रु' या 'लु' धातु से बना है। 'द्रु' का अर्थ है—गीला करना, उसके साथ 'उत्' उपसर्ग लगाने से गीलेपन को हटाना अर्थ हो जाता है। 'लु' धातु का अर्थ है हटाना या छीनना। इसी से लूषण, लूपक आदि शब्द बनते हैं। इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—**"उल्लणियत्ति-स्नान जलार्द्रशरीरस्य जल-लूषणवस्त्रम्।"** अर्थात् स्नान के पश्चात् गीले शरीर को पौछने वाला तौलिया।

(२) दन्तधावन विधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं दंतवण विहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अल्ललट्ठी महुएणं, अवसेसं दंतवणविहिं पच्चक्खामि ॥२३॥**

छाया—**तदनन्तरं च खलु दन्तधावन विधि परिमाण करोति। नान्यत्रैकस्मादा-र्द्रमधुयष्ट्या., अवशेषं दन्तधावनविधिं प्रत्याचक्षे।**

शब्दार्थ—**तयाणतरं च णं**—इसके अनन्तर **दतवणविहिपरिमाण**—दन्तधावनविधि का परिमाण—**करेइ**—किया, **एगेण**—एक **अल्ल लट्ठीमहुएण**—आर्द्र अर्थात् हरी मधुयष्टि—मुलहटी के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त **अवसेसं सव्वं**—अन्य सब **दंतवणविहि पच्चक्खामि**—दन्तधावनो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द ने दन्त धावन विधि का परिमाण किया और एक हरी मधुयष्टि अर्थात् मुलहटी के अतिरिक्त अन्य दतुअन* का प्रत्याख्यान किया।

* दातून—गृहस्थो को दातून करने का निषेध नही, इसकी मर्यादा ही है, मर्यादा के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रयोग न करे।

(३) फलविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं फलविहि परिमाण करेइ। नन्नत्थ एगेणं खीरामलएणं, अवसेसं फलविहिं पच्चक्खामि ॥२४॥

छाया—तदनन्तर च खलु फलविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् क्षीरामलकाद्, अवशेष फलविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतर च णं—इसके अनन्तर फलविहिपरिमाण करेइ—फलविधि का परिमाण किया, एगेणं—एक खीरामलएण—क्षीरामलक अर्थात् दूधिया मीठे अमलक के नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेसं—अन्य सब फलविहि पच्चक्खामि—फलो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् फलविधि का परिमाण किया और क्षीरामलक—दूधिया आँवले के अतिरिक्त अन्य सब फलो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—क्षीरामलक शब्द का अर्थ है दूधिया आँवला, जिसमे गुठली नही पडी है। प्राचीन समय मे इसका प्रयोग सिर एव आँखे आदि धोने के लिए किया जाता था।

(४) अभ्यङ्गनविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं अब्भंगणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अवसेसं अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि ॥२५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु अभ्यङ्गनविधि परिमाण करोति। नान्यत्र शतपाकसहस्रपाकाभ्यां तैलाभ्यामवशेषमभ्यंगनविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतर च णं—इसके अनन्तर, अब्भंगणविहिपरिमाण करेइ—अभ्यङ्गन अर्थात् मालिश करने के तेल आदि वस्तुओ का परिमाण निश्चित किया, सयपाग सहस्सपागेहि तेल्लेहि—शतपाक और सहस्रपाक तेलो के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि—मालिश के तेलो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ--तत्पश्चात् अभ्यङ्गनविधि अर्थात् मालिश के काम मे आने वाले तेलो का परिमाण किया और शतपाक तथा सहस्रपाक नामक तेलो को छोडकर अन्य सब मालिश के तेलो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

टीका--सयपाग सहस्सपागेहिं--इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं--द्रव्यशतस्य सतक क्वाथशतेन सह यत्पच्यते कार्षापणशतेन वा तच्छतपाकम्, एवं सहस्रपाकमपि। अर्थात् जिस तेल को सौ वस्तुओ के साथ सौ वार पकाया जाता है अथवा जिसका मूल्य सौ कार्षापण है, उसे शतपाक कहते हैं, इसी प्रकार सहस्रपाक भी समझ लेना चाहिए।

(५) उद्वर्तनविधि--

मूलम्--**तयाणंतरं च णं उव्वट्टणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं सुरहिणा गंधट्टएणं, अवसेसं उव्वट्टणविहिं पच्चक्खामि ॥२६॥**

छाया--तदनन्तर च खलु उद्वर्तनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात्सुरभेर्गन्धाट्टकाद्, अवशेषमुद्वर्तनविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ--इसके अनन्तर **उव्वट्टणविहिपरिमाण**--उद्वर्तनविधि अर्थात् उवटन का परिमाण **करेइ**--किया। **एगेणं**--एक, **सुरहिणा गंधट्टएणं**--सुगन्धित गन्धाटक, (पीठी) के, **नन्नत्थ**--अतिरिक्त, **अवसेसं**--अन्य सब **उव्वट्टणविहिं**--उद्वर्तन विधि अर्थात् उवटनो का **पच्चक्खामि**--प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ--तदनन्तर उवटनो का परिमाण किया और एक गेहूँ आदि के आटे से बने हुए सुगन्धित उवटन के अतिरिक्त अन्य सब उवटनो का प्रत्याख्यान किया।

टीका--**गधट्टएणं** इस पर निम्नलिखित वृत्ति है--'**गंधट्टएण त्ति गन्ध द्रव्याणामुत्पलकुष्टादिनां अट्टओ त्ति चूर्ण गोधूम चूर्ण वा गन्धयुक्तं तस्माद्।**' अर्थात् नीलकमल, कुष्ट आदि औषधियो के चूर्ण अथवा गेहूँ के आटे से बने हुए गन्धयुक्त उवटन के अतिरिक्त अन्य सर्व प्रकार के उवटनो का त्याग किया।

(६) स्नानविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं मज्जणविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं उदगस्स घड़ेहिं, अवसेसं मज्जणविहिं पच्चक्खामि ॥२७॥**

छाया—तदनन्तर च खलु मज्जनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्राष्टभ्य औष्ट्रिकेभ्य उदकस्य घटेभ्यः, अवसेसं मज्जनविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणंतर च णं**—इसके अनन्तर, **मज्जनविहिपरिमाण**—मज्जनविधि अर्थात् स्नान के लिए पानी का परिमाण **करेइ**—किया **उदकस्स**—जल के **अट्ठहि उट्टिएहि**—आठ औष्ट्रिक घडो के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेस**—अन्य सब **मज्जणविहिं**—स्नान के लिए पानी का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके अनन्तर स्नान जल का परिमाण किया और पानी से भरे हुए आठ औष्ट्रिक घडो के अतिरिक्त शेष जलो के उपयोग का प्रत्याख्यान किया।

टीका—औष्ट्रिक का अर्थ है ऊँट के आकार का पात्र अर्थात् जिसका मुँह सकरा, गर्दन लम्बी और पेट वडा हो। प्रतीत होता है, उस समय वडे लोटे (गङ्गासागर) के रूप मे इस प्रकार का वर्तन काम मे लाया जाता था। आनन्द ने स्नान के लिए इस प्रकार के आठ कलश पानी की मर्यादा की, अर्थात् इससे अधिक पानी के कलश नहाने के लिए उपयोग नही करूँगा।

(७) वस्त्रविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं वत्थविहिं परिमाण करेइ। नन्नत्थ एगेणं खोमजुयलेणं, अवसेसं वत्थविहि पच्चक्खामि ॥२८॥**

छाया—तदनन्तर च खलु वस्त्रविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् क्षौम-युगलाद्, अवशेष वस्त्रविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च ण**—इसके अनन्तर, **वत्थविहिपरिमाण**—वस्त्र विधि का परिमाण **करेइ**—किया **एगेणं**—एक **खोमजुयलेणं**—क्षोमयुगल अर्थात् अलसी या

कपास के बने हुए दो वस्त्रो के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य, वत्थविहिं—वस्त्र विधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके अनन्तर वस्त्रविधि अर्थात् पहनने के वस्त्रो का परिमाण किया, और अलसी अथवा कपास के बने हुए वस्त्र युगल के अतिरिक्त अन्य वस्त्रो के पहनने का परित्याग किया।

टीका—खोमजुयलेण त्ति इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—'कार्पासिक वस्त्र युगलादन्यत्र' अर्थात् कपास के बने हुए एक जोडे के अतिरिक्त। क्षौम शब्द का अर्थ कपास या अतसी (अलसी) आदि से बना हुआ वस्त्र है। यहाँ कपास अर्थात् सूती वस्त्र को भी लिया गया है। युगल शब्द का अर्थ है दो। उन दिनो धोती के रूप मे अधोवस्त्र तथा चद्दर-दुपट्टे आदि के रूप मे उत्तरीय वस्त्र पहनने का रिवाज था। सिर पर मुकुट धारण किया जाता था परन्तु वह वस्त्रो मे नही गिना जाता था, अत वस्त्र विधि मे दो वस्त्रो का ही उल्लेख है।

(८) विलेपनविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं विलेवणविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरु-कुंकुमचंदणमादिएहिं, अवसेसं विलेवणविहिं पच्चक्खामि ॥२६॥

छाया—तदनन्तर च खलु विलेपनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र अगुरु-कुंकुम-चन्दनादिभ्य, अवशेष विलेपनविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतर च णं—तत्पश्चात् विलेवणविहि परिमाणं—विलेपण विधि का परिमाण करेइ—किया। अगरुकुंकुमचदणमादिएहि—अगरु-कु कुम-चन्दन आदि के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब विलेवणविहिं पच्चक्खामि—विलेपन-विधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके अनन्तर विलेपन विधि अर्थात् लेप करने की वस्तुओ का परिमाण किया और अगुरु, कुकुम, चन्दन आदि के अतिरिक्त अन्य सब विलेपनो का प्रत्याख्यान किया।

(९) पुष्पविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं पुप्फविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं सुद्धपउमेणं, मालइ कुसुमदामेणं वा, अवसेसं पुप्फविहिं पच्चक्खामि ॥३३॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु पुष्पविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् शुद्ध-पद्मात्, मालती कुसुमदाम्नो वा, अवशेषं पुष्पविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च ण**—इसके अनन्तर, **पुप्फविहि परिमाणं**—पुष्पविधि का परिमाण **करेइ**—किया और **एगेण**—एक **सुद्धपउमेण**—श्वेत कमल, **मालइ कुसुम-दामेणं वा**—तथा मालती के पुष्पो की माला के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सब **पुप्फविहि**—पुष्पो का **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हू ँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् पुष्पविधि का परिमाण किया और श्वेत कमल तथा मालती के फूलो की माला के अतिरिक्त अन्य पुष्पो के धारण अथवा सेवन का प्रत्याख्यान किया।

टीका—**'सुद्धपउमेणं' ····'दामेग वा'** प्रतीत होता है, उन दिनो मालती या चमेली के फूलो की माला पहनने और हाथ मे श्वेत कमल को रखने का रिवाज था। मुगलकालीन चित्रो मे भी हाथ मे फूल मिलता है।

(१०) आभरणविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं आभरणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ मट्ठ-कण्णेज्जएहिं नाम मुद्दाए य, अवसेसं आभरण विहिं पच्चक्खामि ॥३४॥**

छाया—तदनन्तर च खलु आभरणविहिपरिमाण करोति। नान्यत्र मृष्टकार्णेय-काभ्यां नाममुद्रायाश्च अवशेषमाभरणविधि प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—**तयाणतर च ण**—इसके अनन्तर **आभरणविहि परिमाण**—आभरण-विधि का परिमाण **करेइ**—किया **मट्ठकण्णेज्जएहि नाम मुद्दाए य**—उज्ज्वल कुण्डलो तथा नाम मुद्रिका के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सव **आभरणविहिं**—आभरणो का **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर आभरणविधि का प्रत्याख्यान किया और स्वर्ण कुण्डल तथा अपने नाम वाली मुद्रा (अगूठी) के अतिरिक्त अन्य सब आभूपणो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—मट्ठकण्णेज्जएहिं—मृष्ट का अर्थ है–शुद्ध सोने के बने हुए विना चित्र के। वृत्तिकार के शब्द निम्न लिखित हैं–**मृष्टाभ्यामचित्रवद्भ्यां कर्णाभरणविशेषाभ्याम्।**

(११) धूपविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं धूवणविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरु तुरुक्क धूवमादिएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥**

छाया—**तदनन्तरं च खलु धूपनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रागुरुतुरुष्क-धूपादिकेभ्य, अवशेषं धूपनविधि प्रत्याख्यामि।**

शब्दार्थ—**तयाणतरं च ण**—इसके अनन्तर, **धूवणविहि परिमाणं करेइ**—धूप-विधि का परिमाण किया और **नन्नत्थ अगुरु तुरुक्क धूवमाइएहिं**—अगुरु, लोवान एव धूप आदि के सिवा **अवसेसं**—अन्य सब **धूवणविहिं**—धूपनीय वस्तुओ का **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् धूपन विधि का परिमाण किया और अगुरु, लोवान, धूप आदि के अतिरिक्त अन्य धूप के काम आने वाली वस्तुओ का परित्याग किया।

(१२) भोजन विधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं भोयणविहि परिमाणं करेमाणे, पेज्जविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्च-क्खामि ॥३६॥**

छाया—**तदन्तर च खलु भोजन विधि परिमाणं कुर्वन् पेयविधिपरिमाण करोति। नान्यत्रैकस्या काष्ठपेयाया अवशेषं पेयविधि प्रत्याचक्षे।**

शब्दार्थ—**तयाणतर च ण**—इसके अनन्तर, **भोयणविहिपरिमाणं**—भोजनविधि का परिमाण **करेमाणे**—करते हुए **पेज्जविहिपरिमाणं**—पेय वस्तुओ का परिमाण

करेइ—किया। **एगाए**—एक **कट्ठपेज्जाए**—मूँग तथा घी मे भुने हुए चावल आदि से वने पेय-विशेप के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेस**—अन्य सव **पेज्जविहि**—पेय पदार्थो का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् भोजनविधि का परिमाण करते हुए सर्व प्रथम पेय वस्तुओ का परिमाण किया और मूँग अथवा चावलो से बने हुए तत्कालीन एक पेयविशेप के अतिरिक्त अन्य पेय पदार्थो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—कट्ठपेज्जाए इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—**मुद्गादियूषो घृत तलिततण्डुल पेया वा'** अर्थात् मूँग आदि का पानी अथवा घी मे तले हुए चावलो द्वारा वनाया गया सूप, कही कहीं काष्ठपेय का अर्थ कॉजी किया गया है। आयुर्वेद मे त्रिफला आदि के काढे को भी काष्ठपेय कहते हैं।

(१३) भक्ष्यविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं भक्खविहि परिमाण करेइ। नन्नत्थ एगेहिं घय पुण्णेहिं खण्डखज्जएहि वा, अवसेसं भक्खविहिं पच्चक्खामि ॥३०॥**

छाया—**तदनन्तरं च खलु भक्ष्यविधिपरिमाण करोति। नान्यत्रैकेभ्यः घृतपूर्णेभ्यः खण्डखाद्येभ्यो वा, अवशेपं भक्ष्यविधि प्रत्याचक्षे।**

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर, **भक्खविहिपरिमाणं**—भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण **करेइ**—किया, **एगेहि**—एक **घयपुण्णेहि खंड खज्जएहि**—घेवर तथा खाजे के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सब **भक्ख-विहिं पच्चक्खामि**—भक्ष्यविधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके वाद भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण किया और घेवर तथा खाजे के अतिरिक्त अन्य पक्वानो का प्रत्याख्यान किया।

(१४) ओदन विधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं ओयणविहिपरिमाणं करेइ नन्नत्थ कलमसालि ओयणेणं, अवसेसं ओयणविहि पच्चक्खामि ॥३१॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु ओदनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र कलमशाल्योदनात्, अवसेषमोदनविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतरं च णं—इसके पश्चात्, ओयणविहिपरिमाणं करेइ—ओदनविधि का परिमाण किया, कलमसालि ओयणेण—कलम जातीय चावलो के, नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेसं—अन्य सव ओयणविहि—ओदनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके वाद ओदनविधि का परिमाण किया और कलम जातीय चावलो के अतिरिक्त अन्य सव प्रकार के चावलो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—कलमसालि—कलम उत्तम जाति वासमती के चावलो का नाम है। प्रतीत होता है, उन दिनो भी विहार प्रान्त का मुख्य भोजन ओदन अर्थात् चावल था, गेहूँ नही। आजकल भी वहाँ मुख्य रूप से चावल ही खाया जाता है।

(१५) सूपविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सूवविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ कलायसूवेण वा, मुग्गमाससूवेण वा, अवसेसं सूवविहिं पच्चक्खामि ॥३२॥

छाया—तदनन्तरं च खलु सूपविधि परिमाण करोति। नान्यत्र कलायसूपाद्वा, मुद्गमाषसूपाद् वा, अवशेष सूपविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर सूवविहि परिमाणं—सूपविधि का परिमाण करेइ—किया नन्नत्थ कलायसूवेण वा मुग्गमाससूवेण वा—मटर तथा मूँग और उडद की दाल के अतिरिक्त अवसेसं—अन्य सव सूवविहिं—दालो का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर सूपविधि अर्थात् दालो का परिमाण किया और मटर, मूँग तथा उडद की दाल के अतिरिक्त अन्य सव प्रकार की दालो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—कलायसूवेण इस पर वृत्तिकार ने लिखा है—कलाया चणकाकारा-धान्यविशेषा. अर्थात् कलाय—चने के आकार वाले धान्यविशेष को कलाय (मटर) कहते हैं।

(१६) घृतविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सारइएणं गोघयमण्डएणं, अवसेसं घयविहि पच्चक्खामि ॥३३॥**

छाया—तदनन्तर च खलु घृतविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र शारदिकाद् गोघृतण्डात्, अवशेषं घृतविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर **घयविहिपरिमाण**—घृतविधि का परिमाण **करेइ**—किया, **नन्नत्थ सारइएण गोघयमंडएण**—शरत्कालीन गोघृत के अतिरिक्त **अवसेस**—अन्य सब **घयविहिं**—घृतविधि का **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर घृतविधि का परिमाण किया और शरत्कालीन दानेदार गोघृतमड के अतिरिक्त अन्य घृतो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—**सारइएण गोघयमंडेण**—इस पर टीका मे निम्न लिखित शब्द हैं—**'सारइएणगोघयमण्डेण' त्ति शारदिकेन शरत्कालोत्पन्नेन गोघृतमण्डेन गोघृतसारेण,** अर्थात् शरत्काल मे उत्पन्न उत्तम गोघृत का सार। यहाँ मण्डशब्द का अर्थ है—सारभूत अर्थात् शुद्ध और ताजा घी के ऊपर जो पपडी जम जाती है, उसके अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के घृतो का प्रत्याख्यान किया।

(१७) शाकविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं सागविहि परिमाणं करेइ नन्नत्थ वत्थु-साएण वा, चूच्चुसाएण वा, तुंबसाएण वा, सुत्थियसाएण वा, मुण्डुक्किकयसाएण वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि ॥३४॥**

छाया—तदनतर च खलु शाकविधि परिमाण करोति, नान्यत्र वास्तुशाकाद् वा, चूच्चुशाकाद् वा, तुम्बशाकाद् वा, सौवस्तिक शाकाद् वा, मण्डूकिका शाकाद् वा, अवशेषं शाकविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतरं च णं—इसके अनन्तर सागविहिपरिमाणं—शाकविधि का परिमाण करेइ—किया। वत्थुसाएण वा—बथुआ चूच्चुसाएण वा—चूच्चु, तुम्बसाएण वा—घीया या लौकी सुत्थियसाएण वा—सौवस्तिक मुण्डुक्कियसाएण वा—और मण्डूकिक-भिंडी के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब सागविहिं—शाकों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद शाकविधि का परिमाण किया और बथुआ, चूच्चु, घीया, सौवस्तिक और मण्डूकिक के अतिरिक्त अन्य शाकों का प्रत्याख्यान किया।

(१८) माधुरकविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं माहुरयविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं पालंगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु माधुरकविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् पालंगमाधुरकात्, अवशेषं माधुरकविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतरं च ण—इसके अनन्तर माहुरयविहि—माधुरकविधि का परिमाणं करेइ—परिमाण किया। एगेणं—एक पालंगामाहुरएणं—पालगा माधुर अर्थात् शल्लकी नामक वनस्पति के गोंद से बने हुए मधु रपेय विशेष के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब माहुरयविहिं मीठे का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर माधुरकविधि* का परिमाण किया और पालगा माधुर के अतिरिक्त अन्य मीठे का प्रत्याख्यान किया।

(१९) जेमनविधि—

मूलम्—तयाणतर च णं जेमणविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ सेहंब दालियंबेहि, अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि ॥३६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु जेमनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र सेधाम्लदालिकाम्लाभ्याम्, अवशेष जेमनविधिं प्रत्याचक्षे।

---

* माधुरिक शब्द का अर्थ है—गुड, चीनी, मिश्री आदि वे वस्तुएँ जिनके द्वारा अन्य वस्तुओं को मीठी बनाया जाता है।

शब्दार्थ—**तयाणतर च ण**—इसके अनन्तर **जेमणविहिपरिमाण**—जेमनविधि का परिमाण **करेइ**—किया। **सेहंवदालियंवेहि**—सेधाम्ल-कॉजी वडे और दालिकाम्ल पकोडे के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सब **जेमणविहिं**—जेमनविधि का **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके वाद जेमन अर्थात् व्यजनविधि का परिमाण किया और सेधाम्ल तथा दालिकाम्ल के अतिरिक्त अन्य सब जेमन अर्थात् व्यजनो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे 'जेमण' शब्द से उन पदार्थो को लिया गया है जिन्हे प्राय जिह्वास्वाद के लिए खाया जाता है। बोल-चाल मे इसे चाट कहते हैं। सेधाम्ल का अर्थ है—पकौडे या वडे, जिन्हे पकने के वाद खटाई मे डाल दिया जाता है। साधारणतया इन्हे काजी वडे कहा जा सकता है। इनका सेवन आवले की चटनी तथा अन्य खटाइयो के साथ भी किया जाता है। दालिकाम्ल वे पकौडे हैं, जिन्हे तेल मे तलकर खाया जाता है। ख़टाई इनके अन्दर ही रहती है। मारवाड मे इन्हे दालिया कहा जाता है। इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—**"से हंवदालियवेहिं त्ति सेधे-सिद्धेसति यानि अम्लेन तीमनादिना संस्क्रियन्ते तानि सेधाम्लानि। यानि दाल्या मुद्गादिमय्या निष्पादितानि अम्लानि च तानि दालिकाम्लानीति सम्भाव्यन्ते।"** अर्थात् जिन्हे पक जाने पर इमली आदि की खटाई मे डाला जाता है उन्हे सेधाम्ल कहते हैं। तथा जो खटाई डालकर मूँग आदि की दाल के वनाए जाते हैं उन्हे दालिकाम्ल कहते है।

(२०) पानीयविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं पाणिय-विहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं, अवसेसं पाणियविहि पच्चक्खामि ॥३७॥**

छाया—**तयाणतरं च खलु पानीयविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मादन्तरिक्षोदकात्, अवशेषं पानीयविधि प्रत्याचक्षे।**

शब्दार्थ—**तयाणंतर च ण**—इसके अनन्तर, **पाणियविहिपरिमाणं**—पीने के पानी

का परिणाम करेइ—किया, एगेणं—एक अतलिक्खोदएणं—वादलो के पानी के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सव, पाणियविहिं—जलो का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके वाद पानीयविधि का अर्थात् पीने के पानी का परिमाण किया और एकमात्र वर्षा के पानी के अतिरिक्त अन्य सव जलो का प्रत्याख्यान किया।

(२१) ताम्बूलविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च ण मुहवास-विहि-परिमाणं करेइ। नन्नत्थ पच-सोगंधिएणं तंबोलेणं, अवसेसं मुहवास-विहि पच्चक्खामि ॥३८॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु मुखवासविधि परिमाण करोति। नान्यत्र पञ्च-सौगन्धिकात्ताम्बूलादवशेषं मुखवासविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतर च णं—इसके अनन्तर मुहवास-विहि-परिमाण—मुखवासविधि का परिमाण करेइ—किया। पचसोगधिएणं तंबोलेण—पॉच सुगन्धित वस्तुओ से युक्त ताम्वूल के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सव मुहवासविहि—मुखवासविधि अर्थात् मुख को सुगन्धित करने वाले द्रव्यो का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् मुखवास विधि का परिमाण किया और पॉच सुगन्धित पदार्थो से युक्त ताम्वूल के सिवा मुख को सुगन्धित करने वाले अन्य पदार्थो का परित्याग किया।

टीका—पचसोगधिएण-पॉच सुगन्धि द्रव्य निम्नलिखित हैं—ककोल, कालीमिर्च, एला, लवग, जातिफल, कर्पूर।

आठवॉ—अनर्थदण्डविरमण व्रत—

मूलम्—**तयाणंतर च णं चउव्विहं अणट्ठादंडं पच्चक्खाइ। तं जहा—अवज्झाणायरिय, पमायायरियं, हिसप्पयाणं, पाव-कम्मोवएसे ॥३९॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु चतुर्विधमनर्थदण्ड प्रत्याचष्टे, तद्यथा—अपध्यानाचरित, प्रमादाचरितम्, हिंस्रप्रदान, पापकर्मोपदेशम्।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर, **चउव्विहं**—चार प्रकार के **अणट्ठा-दंडं**—अनर्थदण्ड का **पच्चक्खाइ**—प्रत्याख्यान किया, **तं जहा**—वह इस प्रकार है—**अवज्झाणायरियं**—अपध्यानाचरित, **पमायायरियं**—प्रमादाचरित, **हिंसप्पयाणं**—हिंस्र-प्रदान, **पावकम्मोवएसे**—और पाप कर्म का उपदेश।

भावार्थ—इसके अनन्तर आनन्द ने भगवान् महावीर से कहा कि मैं अपध्याना-चरित—दुर्ध्यान करना, प्रमादाचरित—विकथा आदि प्रमाद का आचरण करना, हिंस्र-प्रदान—हिंसक शस्त्रास्त्रों का वितरण तथा पाप कर्म का उपदेश करना—इन चार अनर्थदण्डों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

टीका—**अणट्ठादंडं**—इस पर वृत्तिकार के निम्न लिखित शब्द हैं—'**अणट्ठादण्ड, त्ति अनर्थेन-धर्मार्थकामव्यतिरेकेण दण्डोऽनर्थदण्ड**' अर्थात् धर्म, अर्थ और काम किसी भी प्रयोजन के बिना जो दण्ड अर्थात् हिंसा की जाती है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। जीवन में अनुशासन के लिए आवश्यक है कि हम ऐसा कार्य न करें जिसमें बिना ही किसी उद्देश्य के दूसरे को हानि पहुँचे। मुनि अपने स्वार्थ के लिए भी किसी को हानि नहीं पहुँचाता। किन्तु श्रावक को पारिवारिक जीवन के लिए ऐसे अनेक कार्य करने पड़ते हैं जिनमें एक का लाभ दूसरे की हानि पर निर्भर है। उसे चाहिए कि ऐसी प्रवृत्तियों को भी यथाशक्ति घटाता जाए। किन्तु ऐसे कार्यों को तो सर्वथा छोड़ दे, जिनमें उसका कोई लाभ नहीं है और व्यर्थ ही दूसरे को हानि पहुँचती है। इस प्रकार के कार्यों को निम्न लिखित चार कोटियों में गिनाया गया है—

(१) **अपध्यानाचरित**—इसका अर्थ है दुश्चिन्ता। वह दो प्रकार की है—१ आर्तध्यान अर्थात् धन, सन्तान स्वास्थ्य आदि इष्ट वस्तुओं के प्राप्त न होने पर तथा रोग, दरिद्रता, प्रियवियोग आदि अनिष्ट के प्राप्त होने पर होने वाली मानसिक चिन्ता। २ रौद्रध्यान अर्थात् क्रोध, शत्रुता आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुचाने की भावना।

इन दोनों प्रकार के ध्यानों से प्रेरित होकर मन में दुश्चिन्ता अथवा बुरे विचार लाना अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड है।

(२) **प्रमादाचरित**—प्रमाद का अर्थ है—असावधानी या जीवन की शिथिलता। खाली बैठकर दूसरों की निन्दा करते रहना, शृंगार सम्बन्धी बातें करना, दूसरों की

पचायत करते रहना अपने कर्त्तव्य का ध्यान न रखना, आदि वातो से उत्पन्न मन, वचन तथा शरीर सम्बन्धी विकार इस कोटि मे आते हैं।

(३) हिंस्रप्रदान—इसका अर्थ है—शिकारी, चोर डाकू आदि को शस्त्र अथवा उन्हे अन्य प्रकार से सहायता देना, जिससे हिसा को प्रोत्साहन मिले।

(४) पापकर्मोपदेश—इसका अर्थ है—दूसरो को पाप कर्म मे प्रवृत्त करना। उदाहरण के रूप मे शिकारी या चिडीमार को यह वताना कि अमुक स्थान पर हिरण अथवा पक्षियो का वाहुल्य है। अथवा किसी पशु अथवा मनुष्य को व्यर्थ ही कष्ट देने के लिए अन्य व्यक्तियो को उकसाना, वच्चो को किसी पागल अथवा घायल मनुष्य अथवा पशु पर पत्थर आदि मारने के लिए कहना, किसी अपरिचित के पीछे कुत्ते लगाना आदि वाते इस अनर्थदण्ड मे आती हैं।

मानव जीवन मे नैतिक अनुशासन के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सम्यक्त्व व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—इह खलु आणंदाइ समणे भगवं महावीरे आणंद समणोवासगं एवं वयासी–एवं खलु, आणंदा! समणोवासएणं अभिगय-जीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तंजहा—संका, कंखा, विइगिच्छा, पर-पासंड-पसंसा, पर-पासंड-संथवे ॥४०॥

छाया—इह खलु आनन्द! इति श्रमणो भगवान् महावीर आनन्दं श्रमणोपासक-मेवमवादीत्—एव खलु आनन्द! श्रमणोपासकेनाभिगतजीवाजीवेन यावदनतिक्रमणी-येन सम्यक्त्वस्य पञ्चातिचारा प्रधाना. (मुख्या) ज्ञातव्या न समाचरितव्या। तद्यथा—शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाषंड प्रशंसा, परपाषण्ड संस्तवः।

शब्दार्थ—इह खलु—इसी प्रसग मे आणंदा इ समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने हे आनन्द! इस प्रकार सम्वोधित करते हुए आणंदं समणो-वासगं—आनन्द श्रमणोपासक को एवं—इस भाँति वयासी—कहा आणंदा—हे आनन्द! एव खलु—इस प्रकार अभिगयजीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं—जीव

तथा अजीव के स्वरूप को जानने वाले यावत् अनतिक्रमणीय (धर्म से विचलित न होने वाले) **समणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **सम्मत्तस्स**—सम्यक्त्व के **पंच**—पॉच **पेयाला**—प्रधान **अइयारा**—अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ, **न समायरियव्वा**—परन्तु उनका आचरण नही करना चाहिए। **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**संका**—शङ्का, **कंखा**—काक्षा, **विइगिच्छा**—विचिकित्सा धर्म साधन के प्रति (सशय) **पर-पासंड-पसंसा**—पर-पापण्ड अर्थात् अन्यमतालम्वी की प्रशसा **पर-पासंड-संथवे**—और परपापण्डसस्तव अर्थात् अन्यमतावलम्वी के साथ सम्पर्क या परिचय।

भावार्थ—इसके अनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द श्रमणोपासक को इस प्रकार कहा—हे आनन्द ! जीवाजीव आदि पदार्थो के स्वरूप को जानने वाले तथा धर्म से विचलित न होने वाले और मर्यादा मे स्थिर रहने वाले श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के पॉच मुख्य अतिचार अवश्य जान लेने चाहिएँ परन्तु उनका आचरण नही करना चाहिए वे इस प्रकार हैं— (१) शका, (२) काक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) परपापण्डप्रशंसा और (५) परपापण्डसस्तव।

टीका—आनन्द द्वारा व्रत ग्रहण कर लेने पर उनमे दृढता लाने के लिए भगवान् ने प्रत्येक व्रत के पाँच पॉच अतिचार वताए। 'अतिचार का अर्थ है व्रत मे किसी प्रकार की शिथिलता या स्खलना। इससे अगली कोटी अनाचार की है, जहॉ व्रत टूट जाता है।

प्रस्तुत पाठ मे श्रमणोपासक अर्थात् श्रावक के दो विशेपण दिए हैं—

(१) **अभिगयजीवाजीवेणं**—अर्थात् जो जीव तथा अजीव का स्वरूप जानता है। जैन धर्म मे ९ तत्त्व माने गए हैं। उनमे प्रथम दो जीव और अजीव हैं। विश्व इन्ही दो तत्त्वो मे विभक्त है। इससे यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन विश्व के मूल मे परस्पर भिन्न दो तत्त्व मानता है। शेप सात तत्त्व हैं—पुण्य, पाप, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। ये जीव की आध्यात्मिक चेतना और उसके शुभाशुभ परिणामो को प्रकट करते हैं। अत इनका ज्ञान भी जीव तत्त्व के ज्ञान के साथ अनिवार्य है। प्रस्तुत सूत्र मे जीव तथा अजीव मे सव को सम्मिलित कर लिया गया है।

(२) अणइक्कमणिज्जेणं--(अनतिक्रमणीयेन) इसका अर्थ है—वह व्यक्ति जिसका कोई अतिक्रमण नही कर सकता अर्थात् जिसे अपने निश्चय से कोई विचलित नही कर सकता। इसी उपासकदशाङ्गसूत्र मे कामदेव आदि ऐसे श्रावको का वर्णन है, जिन्हे अनुकूल तथा प्रतिकूल किसी प्रकार के विघ्न विचलित न कर सके। देवताओ ने अनेक प्रकार के भय वताए और सासारिक सुखो के आकर्षण भी उपस्थित किए, किन्तु वे अपने व्रत पर दृढ रहे।

प्रस्तुत सूत्र मे सम्यक्त्व के पाच अतिचार वताए गए हैं—सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा धर्म की आधारशिला है। इसके विना ज्ञान और चारित्र निष्फल हैं। जिस व्यक्ति की श्रद्धा विपरीत है अर्थात् असत्य की ओर है, उसे मिथ्यात्वी कहा जाता है, वह धर्म के क्षेत्र से वहिर्भूत है। जिस व्यक्ति की श्रद्धा तो सम्यक् है किन्तु उसमे कभी २ शिथिलता या दुर्वलता आ जाती है, उसी के निराकरण के लिए नीचे लिखे पाच अतिचार वताए गए हैं—

(१) सका (शङ्का) इसका अर्थ है सन्देह अर्थात् आत्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य-पाप, आदि जिन तत्त्वो का प्रतिपादन सर्वज्ञदेव ने किया है, उनके अस्तित्व मे सन्देह होना। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है– क्या व्यक्ति को धार्मिक वातो के सम्वन्ध मे ऊहापोह करने का अधिकार नही है ? मन मे सन्देह उत्पन्न होने पर उसे क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि सशय निवारण के लिए ऊहापोहा करने और शङ्का मे परस्पर पर्याप्त भेद है। यदि मन मे जिज्ञासा उत्पन होने पर विश्वास डाँवाडोल हो जाता है तो वह शङ्का है। विश्वास को दृढ रखते हुए प्रश्नोत्तर करना शङ्का नही है। उससे तो विश्वास मे उत्तरोत्तर दृढता आती है। भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी श्रद्धा की दृष्टि से सर्वोच्च माने गए हैं। किन्तु उनके लिए भी भगवतीसूत्र मे वार २ आया है कि मन मे सशय उत्पन हुआ और निराकरण के लिए वे भगवान के पास गए। गौतम का सशय जिज्ञासारूप था, शङ्कारूप नही। उपनिषदो मे भी मनन अर्थात् युक्तिपूर्वक विचार को आवश्यक माना गया है। किन्तु वह तर्क ऐसा नही होना चहिए, जिससे मूल विश्वास को आघात पहुँचे। जहाँ तर्क और श्रद्धा मे परस्पर विरोध हो, वहाँ श्रद्धा को कायम रखते हुए अपनी वुद्धि की मर्यादा को समझना चाहिए और यही मानना चाहिए कि वुद्धि अज्ञान या पूर्व के जमे हुए विश्वासो के कारण उस सूक्ष्म

तत्त्व को ग्रहण नहीं कर रही है। उसे ग्रहण करने के लिए पुन पुन प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु श्रद्धा को शिथिल नही होने देना चाहिए।

(२) कखा (काङ्क्षा) इसका अर्थ है बाह्य आडम्बर अथवा अन्य प्रलोभनो से आकृष्ट हो कर किसी अन्य मत की ओर झुकाव होना। बाह्य प्रभाव को देखकर सत्य से विचलित होना इसी के अन्तर्गत है।

(३) विइगिच्छा—(विचिकित्सा) धर्मानुष्ठान के फल मे सदेह करना अर्थात् तपश्चरण आदि करते समय सन्देहशील होना कि फल प्राप्त होगा या नही। इस प्रकार का सन्देह कार्य सिद्धि का बहुत बडा बाधक है।

(४) परपासंडपसंसा—(परपाषण्ड प्रशसा) वर्तमान हिन्दी भाषा मे पाखण्ड शब्द का अर्थ है ढोग अथवा मिथ्या आडम्बर और पाखण्डी का अर्थ है ढोगी। किन्तु प्राचीन समय मे यह शब्द निन्दावाचक नही था। उस समय इसका अर्थ था मत या सम्प्रदाय। अशोक की धर्मलिपियो मे विभिन्न मतो के लिए पासड शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ भी वही अर्थ है। परपासड का अर्थ है—जैन धर्म को छोड कर अन्य मतो के अनुयायी। उनकी प्रशसा करने का अर्थ है—अपने विश्वास मे कमी। शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो इसका अर्थ है—अपनी श्रद्धा से विपरीत चलने वालो अथवा विपरीत प्रवृत्ति करने वालो की प्रशसा करना। साधक को इस प्रकार की शिथिलता से दूर रहना चाहिए।

परपासंडसथवे—(परपाषण्ड सस्तव) सस्तव का अर्थ है परिचय या सम्पर्क। सच्चे साधक को भिन्न मार्ग पर चलने वाले के साथ परिचय नही बढाना चाहिए।

पेयाला—इस पर निम्न लिखित टीका है—'पेयाला' त्ति सारा. प्रधाना. अर्थात् सार या प्रधान भूत।

अहिंसा व्रत के पाच अतिचार

मूलम्—**तयाणंतरं च णं थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। त जहा—बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाण वोच्छेए ॥४१॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकस्य प्राणातिपातविरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा पेयाला ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—वन्ध', वध', छविच्छेदः, अतिभार, भक्तपानव्यवछेदः ।

शब्दार्थ—**तयाणतरं च णं**—इसके अनन्तर **थूलगस्स**—स्थूल **पाणाइवायवेरमणस्स**—प्राणातिपातविरमण व्रत के **पंच**—पाच **पेयला**—प्रधान **अइयारा**—अतिचार **समणोवासएण**—श्रमणोपासक को **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**बंधे**—वध, **वहे**—वध, **छविच्छेए**—छविच्छेद अर्थात् अग-विच्छेद, **अइभारे**—अतिभार **भत्तपाणवोच्छेए**—और भक्तपानव्यवच्छेद ।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के पाँच मुख्य अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ वन्ध—पशु आदि को कठोर वधन से बाँधना। २ वध—घातक प्रहार करना। ३ छविच्छेद-अग काट देना। ४ अतिभार—सामर्थ्य से अधिक भार लादना। ५ भक्तपान-व्यवच्छेद—भोजन और पानी को रोकना या समय पर न देना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे अहिसा व्रत के पाँच अतिचार वताए गए हैं। इसके पहले सम्यक्त्व व्रत के अतिचार वताए गए थे। उसका सम्वन्ध श्रद्धा से है किन्तु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतो का शील अथवा आचार के साथ सम्वन्ध है।

थूलगस्स—(स्थूलकस्य) श्रावक को जीवन मे अनेक प्रवृत्तियाँ करनी पडती हैं, अत वह पूर्ण अहिसा का पालन नही कर सकता। परिणाम स्वरूप स्थूल हिसा का परित्याग करता है। जैन धर्म मे त्रस और स्थावर के रूप मे जीवो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया गया है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो के जीव स्थावर कहे जाते हैं। वे अपनी इच्छानुसार चलने फिरने मे असमर्थ हैं। इसके विपरीत चलने फिरने वाले जीव त्रस कहे गए हैं। श्रावक त्रस जीवो की हिसा का परित्याग करता है, स्थावरो की मर्यादा। त्रस जीवो मे भी जो अपराधी हैं या हानि पहुँचाने वाले हैं उनकी हिसा का परित्याग नही होता। इसी प्रकार

यहाँ हिंसा का अर्थ है—किसी को मारने या हानि पहुँचाने की बुद्धि से मारना। यदि कोई कार्य भलाई के लिए किया जाता है, किन्तु उसमे किसी की हिंसा हो जाती है या हानि पहुँचती है तो श्रावक को उसका त्याग नही है। उदाहरण के रूप मे डाक्टर चिकित्सा के लिए रोगी का ऑपरेशन करता है और उसमे रोगी को हानि पहुँच जाती है तो डाक्टर का व्रत भग नही होता। व्रत भग तभी होता है जब डाक्टर रोगी को हानि पहुँचाने की भावना से ऐसा करे। उपरोक्त छूटे होने के कारण श्रावक के व्रत को स्थूल कहा गया है। साधु के व्रत मे ये छूटे भी नही होती।

सर्वप्रथम स्थूल प्राणातिपात व्रत है,—इस व्रत के अतिचारो मे मुख्यतया पशु को सामने रखा गया है। उन दिनो दास प्रथा विद्यमान होने के कारण कभी-कभी मनुष्यो के साथ भी पशु के समान बरताव किया जाता था।

(१) बंधे—इसका अर्थ है पशु अथवा दास आदि को ऐसा बाधना जिससे उसे कष्ट हो। यहाँ भी मुख्य दृष्टि विचारो की है। यदि चिकित्सा के निमित्त या सकट से बचाने के लिए पशु आदि को बाधा जाता है तो वह अतिचार नही है। शास्त्रकारो ने बन्ध के दो भेद किए हैं—अर्थ बन्ध और अनर्थ बन्ध। अनर्थ बन्ध तो हिंसा है ही और वह अनर्थदण्ड नामक आठवे व्रत मे आती है। अर्थबन्ध भी यदि क्रोध, द्वेष आदि क्रूर भावो के साथ किया गया है तो वह अतिचार है। अर्थबन्ध के पुन दो भेद हैं, सापेक्ष और निरपेक्ष। अग्नि आदि का भय उत्पन्न होने पर जिस बन्धन से सहज मुक्ति मिल सके उसे सापेक्ष बन्ध कहते हैं। यह अतिचार मे नही आता। इसके विपरीत भय उत्पन्न होने पर भी जिस बन्धन से छुटकारा मिलना कठिन हो उसे निरपेक्ष बन्ध कहते हैं। ऐसा बन्धन बाधना अतिचार है।

(२) वहे (वध) यहाँ वध का अर्थ हत्या नही है। हत्या करनेपर तो व्रत सर्वथा टूट जाता है। अत वह अनाचार है। यहाँ वध का अर्थ है घातक प्रहार, ऐसा जिससे अङ्गोपाङ्गदि को हानि पहुँचे।

(३) छविच्छेए—इसका अर्थ है अङ्गविच्छेद अर्थात् क्रोध मे आकर किसी के अङ्ग को काट डालना अथवा अपनी प्रसन्नता के लिए कुत्ते आदि के कान, पूँछ काट देना।

*छविच्छेए—(स०-छविच्छेद)—इसका साधारण अर्थ अग-विच्छेद किया जाता है किन्तु अर्ध-मागधी मे 'छ' या 'छवि' के रूप मे कोई शब्द नही है जिसका अर्थ अग होता हो। प्रतीत होता

(४) अइभारे (अतिभार) इसका अर्थ पशु या दास पर सामर्थ्य से अधिक वोझ लादना। नौकर मजदूर या अन्य कर्मचारी से इतना काम लेना कि वह उसी में पिस जाए, यह भी अतिभार है। इतना ही नही परिवार के सदस्यो मे भी किसी एक पर काम का अधिक वोझ डालना अतिचार है।

(५) भत्तपाणवोच्छेए (भत्तपानव्यवच्छेद)-इसका स्थूल अर्थ है मूक पशु को भूखा तथा प्यासा रखना या उसे चारा एव पानी समय पर न देना। नौकर आदि आश्रितो का समय पर वेतन न देना, उनके वेतन मे अनुचित कटौती करना किसी की आजीविका मे वाधा डालना, या अपने आश्रितो से काम अधिक लेना और उसके अनुरूप भोजन या वेतन न देना। खाद्य एवं पेय सामग्री को दूषित करना आदि भी इसी अतिचार के अन्तर्गत हैं।

सामाजिक एव पारिवारिक जीवन की दृष्टि से इस व्रत का वहुत महत्त्व है। यह स्पष्ट है कि उक्त अतिचार खासतौर पर उस परिस्थिति को सामने रखकर वताए गए हैं, जव कि पशुपालन गृहस्थ जीवन का आवश्यक अङ्ग था। वर्त्तमान जीवन मे पशुपालन गौण हो गया है और अत्याचार एव क्रूरता के नए २ रूप सामने आ रहे हैं, अत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीवनचर्या के अनुसार इन अतिचारो का मूल हार्द ग्रहण कर लेना चाहिए जिससे इनका दैनन्दिन व्यवहार के साथ जीवित सम्वन्ध वना रहे।

सत्यव्रत के अतिचार

मूलम्—**तयाणंतरं च णं थूलगस्स मुसा-वाय-वेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तं जहा—सहसा अब्भक्खाणे, रहसा अब्भक्खाणे, सदार-मंत-भेए, मोसोवएसे, कूड-लेह-करणे ॥४२॥**

है, यह शव्द 'छयविच्छेए' रहा होगा जिसका अर्थ है 'क्षतविच्छेद।' 'क्षत' का अर्थ है घाव और 'विच्छेद' का अर्थ अगविच्छेद किया जा सकता है। पालि मे छवि शव्द का अर्थ त्वचा है। यदि यह अर्थ माना जाए तो छविच्छेद का अर्थ होगा ऐसा घाव करना जिससे त्वचा का छेदन हो जाए। प्रस्तुत मे यह अर्थ भी किया जा सकता है—सम्पादक।

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकस्य मृपावादविरमणस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या., तद्यथा—सहसाभ्याख्यान, रहोऽभ्याख्यानं, स्वदारमन्त्रभेद., मृषोपदेश:, कूटलेखकरणम् ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स—स्थूल मृपावादविरमण व्रत के पच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। तं जहा—वे इस प्रकार हैं—महसा अब्भक्खाणे—सहसा अभ्याख्यान, रहसा अब्भक्खाणे—रहस्याभ्याख्यान, सदारमंतभेए—स्वदारमन्त्रभेद, मोसोवएसे—मृपोपदेश कूडलेहकरणे—और कूटलेखकरण ।

भावार्थ—तदनन्दर स्थूल मृपावादविरमण व्रत के पाच अतिचार जाननें चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ सहसाभ्याख्यान—किसी पर विना विचारे मिथ्या आरोप लगाना, २ रहोऽभ्याख्यान—किसी की गुप्त वात प्रकाशित करना। ३ स्वादारमन्त्रभेद—पत्नी की गुप्त वात प्रकट करना। ४ मृपोपदेश—खोटी सलाह देना या मिथ्या उपदेश देना। ५ कूटलेखकरण—खोटा लेख लिखना अर्थात् दूसरे को धोखा देने के लिये जाली दस्तावेज वनाना—

टीका—प्रस्तुत पाठ मे मृपावाद विरमण अर्थात् असत्यभापण के परित्याग रूप व्रत के अतिचार वताए गए हैं इसमे भी स्थूल विशेपण लगा हुआ है अर्थात् श्रावक स्थूल मृपावाद का परित्याग करता है, सूक्ष्म का नही। शास्त्रो मे स्थूल मृपावाद का स्वरूप वताते हुए उदाहरण के लिए नीचे लिखी वाते वताई हैं—

(१) कन्यालीक—वैवाहिक सम्वन्ध की वात-चीत करते समय कन्या की आयु तथा शरीर, वाणी एव मस्तिष्क सम्वन्धी दोपो को छिपाना अथवा उसकी योग्यता के सम्वन्ध मे अतिशयोक्ति पूर्ण असत्य भापण करना ।

(२) गवालीक—पशु का लेन-देन करते समय, असत्य भापण करना, जैसे कि थोडा दूध देने वाली गाए और भैंस के लिए कहना कि अधिक दूध देती है अथवा वैल आदि के लिए कहना कि यह अधिक काम कर सकता है, परन्तु वह उतनी क्षमता वाला नही होता, इत्यादि ।

(३) भूम्यलीक—कृषि, निवास आदि भूमि के सम्बन्ध मे असत्य भाषण करना या वस्तु स्थिति को छिपाना।

(४) न्यासापहार—किसी के न्यास अर्थात् धरोहर मे रखी हुई वस्तु को हडप जाना। किसी संस्था या सार्वजनिक कार्य के लिए संगृहीत धन को उद्दिष्ट कार्य मे न लगाकर वैयक्तिक कार्यो मे खर्च करना भी न्यासापहार है। सार्वजनिक निधि से वैयक्तिक लाभ उठाना उसे वैयक्तिक प्रसिद्धि या अपने कुटुम्बियो को ऊँचा उठाने मे खर्च करना भी इसी के अन्तर्गत है।

(५) कूडसक्खिज्ज—(कूटसाक्ष्य) झूठी गवाही देना।

(६) सन्धिकरण—षड्यन्त्र करना।

उपरोक्त कार्य स्थूल मृषावाद मे आते हैं और श्रावक के लिए सर्वथा वर्जित हैं। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन मे व्यवहार शुद्धि पर पूरा बल दिया गया था। व्यापार या अन्य व्यवहार मे झूठ बोलने वाला श्रावक नहीं हो सकता था।

इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं—

(१) सहसा अब्भक्खाणे—सहसा का अर्थ है बिना विचारे और अब्भक्खाणे का अर्थ है दोषारोपण करना। यदि मिथ्यारोप विचारपूर्वक दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए किया जाता है तो वह अनाचार है, उससे श्रावक का व्रत टूट जाता है। किन्तु उसे इस बात के लिए भी सावधान रहना चाहिए कि बिना विचारे भी रोष या आवेश मे आकर अथवा अनायास ही किसी पर दोषारोपण न करे। यह भी एक प्रकार का दोष है और व्रत मे शिथिलता उत्पन्न करता है। यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—'सहसा अब्भक्खाणे, त्ति सहसा—अनालोच्याभ्याख्यानम्—असद्दोषाध्याक्षेपण सहसाभ्याख्यान यथा चौरस्त्वमित्यादि, एतस्य चातिचारत्व सहसाकारेणैव न तीव्रसंक्लेशेन भणनादिति, अर्थात् बिना विचारे किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना सहसाभ्याख्यान है—जैसे तू चोर है इत्यादि। यह यहाँ सहसा अर्थात् बिना विचारे किया जाने के कारण ही अतिचार कोटि मे आता है। यदि तीव्र संक्लेश अर्थात् दुर्भावना पूर्वक किया जाए तो अतिचार नहीं [illegible] अनाचार बन जाता है।

(२) **रहसा अब्भक्खाणे**—(रहोऽभ्याख्यान) इसका अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। पहला अर्थ है रहस्य अर्थात् किसी कि गुप्त वात को अचानक प्रकट करना। दूसरा अर्थ है किसी पर रहस्य अर्थात् छिपे-छिपे पड्यन्त्र आदि करने का आरोप लगाना। उदाहरण के रूप मे कुछ आदमी एकान्त मे वैठे परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं, अचानक उन पर यह आरोप लगाना कि वे राज्यविरुद्ध पड्यन्त्र कर रहे हैं या कही पर चोर डकैती आदि के योजना वना रहे हैं। यह कार्य भी अतिचार वही तक है, जव मन मे दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना न हो और अनायास ही किया जाए। मन मे दुर्भावना रहने पर यह भी अनाचार वन जाता है। यहाँ वृत्तिकार के निम्न लिखित शव्द है—**'रहसा अब्भक्खाणे' त्ति रह. एकान्तस्तेन हेतुना अभ्याख्यानं रहोऽभ्याख्यानम्, एकान्तमात्रोपधितया च पूर्वस्माद्विशेषः, अथवा सम्भाव्यमानार्थभणनादतिचारो न तु भङ्गोऽयमिति।** रह का अर्थ है—एकान्त और उसी का आधार लेकर मिथ्यादोपारोपण करना रहोऽभ्याख्यान है। प्रथम अतिचार की अपेक्षा इसमे एकान्त का आधार रूप विगिप्टता है, अथवा इसमे लगाया जाने वाला आरोप सर्वथा निर्मूल नही होता। उसकी सम्भावना रहती है और इसी आधार पर इसकी गणना अतिचारो मे की गई है। व्रत भङ्ग नही माना गया।

(३) **सदारमंतभेए** (स्वदारमन्त्रभेद)—अपनी स्त्री की गुप्त वातो को प्रकट करना। पारिवारिक जीवन मे वहुत सी वाते ऐसी होती हैं जिन्हे सत्य होने पर भी प्रकागित नही किया जाता। उनके प्रकाशित करने पर व्यवित को दूसरो के सामने लज्जित होना पडता है, अत गेखी या आवेग मे आकर घर एव परिवार की गुप्त वातो को प्रकट करना अतिचार है।

(४) **मोसोवएसे** (मृपोपदेश) झूठी सलाह देना या उपदेग देना, इसके कई अर्थ हैं—१ पहला यह है कि जिस वात के सत्यासत्य अथवा हिताहित के विषय मे हमे स्वय निग्चय नही है उसकी दूसरो को सलाह देना। २ दूसरा यह है कि किसी वात की असत्यता अथवा हानिकारिता का ज्ञान होने पर भी दूसरो को उसमे प्रवृत्त होने के लिए कहना। ३ तीसरा रूप यह है कि वास्तव मे मिथ्या एव अकल्याण-कारी होने पर भी हम जिस वात को सत्य एव कल्याणकारी मानते हैं उसमे हित वुद्धि से दूसरे को प्रवृत्त करना। तीसरा रूप दोप कोटि मे नही आता। क्योकि उसमे उपदेग देने वाले की ईमानदारी एव हितवुद्धि पर अक्षेप नही आता। दूसरा रूप अना-

चार है उससे व्रत भङ्ग हो जाता है। पहला रूप अतिचार है। उसके अतिरिक्त किसी को हिंसा-पूर्ण कार्यों में प्रवृत्त करना प्रथम व्रत के अतिचारों में आ चुका है।

५. कूडलेहकरणे (कूटलेखकरण) झूठे लेख लिखना तथा जाली हस्ताक्षर बनाना। इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—'कूडलेहकरणे, त्ति असद्भूतार्थस्य लेखस्य विधानमित्यर्थः। एतस्य चातिचारत्वं प्रमादादिना दुर्विवेकत्वेन वा माया मृषावादः प्रत्याख्यातोऽय तु कूटलेखो, न मृषावादनमिति भावयत इति। तथा कूटम्-असद्भूतं वस्तु तस्य लेख. लेखनं, तद्रूपा क्रिया कूटलेखक्रिया—अन्यदीयां मुद्राद्यङ्कितां लिपिं हस्तादिकौशलवशादक्षरशोऽनुकृत्य परवञ्चनार्थं सर्वथा तदाकारतया लेखनमित्यर्थ अनाचारातिचारौ तु प्राग्वदेवाभोगानाभोगाभ्यामवगन्तव्यौ'—अर्थात्—कूटलेखकरण—झूठा लेख लिखना। यह अतिचार तभी है जब असावधानी या विवेकहीनता के रूप में किया गया हो। अर्थात् श्रावक यह सोचने लगे कि मैंने झूठ बोलने का त्याग किया है लिखने का नहीं यह विवेकहीनता है। अथवा कूट का अर्थ है अविद्यमान वस्तु। उसका लिखना अर्थात् जाली दस्तावेज बनाना या किसी के नाम की मुद्रा अथवा मोहर बनाना। दूसरे को धोखा देने के लिए जाली हस्ताक्षर बनाना आदि। पूर्वोक्त अतिचारों के समान प्रस्तुत कार्य भी यदि असावधानी, विवेकहीनता अथवा अन्य किसी रूप में अनिच्छापूर्वक किया जाता है तो अतिचार है और यदि दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए इच्छापूर्वक किया जाए तो अनाचार है।

अस्तेय व्रत के अतिचार

मूलम्—**तयाणंतरं च णं थूलगस्स अदिण्णादाण वेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तं जहा—तेणाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्धरज्जाइक्कमे, कूड-तुल्ल-कूडमाणे, तप्पडिरूवग ववहारे ॥ ४३ ॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकस्यादत्तादानविरमणस्य पञ्चातिचाराः ज्ञातव्या न समाचरितव्या', तद्यथा स्तेनाहृत, तस्करप्रयोग, विरुद्धराज्यातिक्रम', कूटतुलाकूटमानं, तत्प्रतिरूपकव्यवहार.।

शब्दार्थ—तयाणतरं च ण—इसके अनन्तर थूलगस्स अदिण्णादाणवेरमणस्स—स्थूल

अदत्तादान विरमणव्रत के **पच अइयारा**—पॉच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं— **तेणाहडे**—स्तेनाहृत, **तक्करप्पओगे**—तस्करप्रयोग, **विरुद्धरज्जाइक्कमे**—विरुद्धराज्यातिक्रम, **कूडतुलाकूडमाणे**—कूट-तुला, कूट-मान, **तप्पडिरूवगववहारे**—और तत्प्रतिरूपक व्यवहार।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पाच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) स्तेनाहृत—चोर के द्वारा लाई हुई वस्तु को स्वीकार करना। (२) तस्करप्रयोग—व्यवसाय के रूप मे चोरो को नियुक्त करना। (३) विरुद्धराज्यातिक्रम—विरोधी राजाओ द्वारा निषिद्ध सीमा का उल्लघन करना। अर्थात् परस्पर विरोधी राजाओ ने अपनी २ जो सीमा निश्चित कर रखी हैं उसे लाघ कर दूसरे की सीमा मे जाना। यहाँ साधारणतया "राजविरुद्ध कार्य करना" ऐसा अर्थ भी किया है। किन्तु वह मूल शब्दो से नही निकलता। टीका मे भी यह अर्थ नही है। (४) कूटतुला—कूटमान—खोटा तोलना और खोटा मापना। (५) तत्प्रतिरूपकव्यवहार—सम्मिश्रण के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से नकली वस्तू को असली के रूप मे चलाना।

टीका—अदत्तादान का अर्थ है विना दी हुई वस्तु को लेना। अन्य व्रतो के समान यहाँ भी श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है, सूक्ष्म का नही। शास्त्रो मे स्थूल अदत्तादान के नीचे लिखे रूप वताए गए हैं—

(१) सेंध लगाकर चोरी करना। (२) वहुमूल्य वस्तु को विना पूछे उठाना। (३) पथिको को लूटना गाठ खोलकर या जेव काटकर किसी की वस्तु निकालना। इसी प्रकार ताला खोलकर या तोडकर दूसरे की वस्तु लेना। डाके डालना, गाय, पशु, स्त्री आदि को चुराना, राजकीय कर की चोरी करना तथा व्यापार मे वेइमानी करना आदि सभी स्थूल चोरी के अन्तर्गत हे।

प्रस्तुत व्रत के अतिचारो मे चोरी का माल खरीदना तथा चोरो को नियुक्त करके व्यापार चलाना तो सम्मिलित है ही, माप तोल मे गडवड करना तथा असली वस्तु दिखाकर नकली देना या वहुमूल्य वस्तु का मिश्रण करना भी चोरी माना

गया है। प्रतीत होता है उन दिनो भी व्यापार मे इस प्रकार की बेइमानी प्रचलित होगी। इसलिए अतिचारो मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

स्वदारसन्तोष व्रत के अतिचार—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहाइत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अणंगकीडा, परविवाहकरणे, काम-भोगतिव्वाभिलासे ॥ ४४ ॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु स्वदारसन्तोषिकस्य पंचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या· तद्यथा—इत्वरिकपरिगृहीतागमनम्, अपरिगृहीतागमनम्, अनङ्ग-क्रीडा, परविवाहकरणम्, कामभोगतीव्राभिलाषः।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर **सदारसंतोसिए**—स्वदारसन्तोप रूप व्रत के **पच अइयारा**—पॉच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिए। **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**इत्तरियपरिग्गहियागमणे**—इत्वरिकपरिगृहीतागमन, **अपरिग्गहियागमणे**—अपरिगृहीतागमन **अणंगकीडा**—अनङ्गक्रीडा, **परविवाहकरणे**—परविवाह करण **कामभोगतिव्वाभिलासे**—और कामभोगतीव्राभिलाष।

भावार्थ—तदनन्तर स्वदार-सन्तोषव्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ। परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ इत्वरिक परिगृहीतागमन—कुछ समय के लिए पत्नी के रूप मे स्वीकार की हुई स्त्री के साथ सहवास करना। २ अपरिगृहीतागमन—अपरिगृहीता अर्थात् वेश्या, कन्या, विधवा आदि अविवाहिता स्त्री के साथ सहवास करना। ३ अनङ्गक्रीडा—अर्थात् अप्राकृतिक मैथुन। ४ परविवाहकरण अपनी सन्तान एव स्वाश्रित कुटम्बियो के अतिरिक्त अन्य स्त्री-पुरुषो के विवाह करना, पशुओ का परस्पर सम्बन्ध करना तथा दूसरो को व्यभिचार मे प्रवृत्त करना। ५ कामभोगतीव्राभिलाष—कामभोग या विपयतृष्णा की उत्कटता।

टीका—श्रावक का प्रथम व्रत मानवता से सम्वन्ध रखता है। दूसरा और तीसरा व्यवहार शुद्धि से और चौथा सामाजिक सदाचार से। यह व्रत दो प्रकार से अङ्गीकार किया जाता था—१ स्वदारसन्तोष के रूप मे तथा २ परदार-

विवर्जन के रूप में। स्वदारसन्तोष के रूप मे ग्रहण करने वाला व्यक्ति अन्य समस्त स्त्रियो का परित्याग करता है और यह उत्तम कोटि का व्रत माना जाता है। द्वितीय अर्थात् परदार विवर्जन के रूप मे ग्रहण करने वाला व्यक्ति दूसरे की विवाहिता स्त्री के साथ सम्पर्क न करने का निश्चय करता है। आनन्द ने इसे प्रथम अर्थात् स्वदार सन्तोष के रूप मे अङ्गीकार किया।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) इत्तरियपरिग्गहियागमणे—(इत्वरिकपरिगृहीतागमन) इसका अर्थ कई प्रकार से किया जाता है—(१) थोडे समय के लिए पत्नी के रूप मे स्वीकार की गई स्त्री के साथ सहवास करना। (२) अल्पवयस्का पत्नी के साथ सहवास करना।* (३) इत्वरिक शब्द संस्कृत की 'इण्' गतौ धातु से बना है। इसका अर्थ है—चला जाने वाला, स्थायी न रहने वाला। गत्वर इसी का पर्याय है। यहाँ इत्वरिका या इत्वरी का अर्थ है जो स्त्री कुछ समय पश्चात् चली जाने वाली है। साथ ही परिगृहीता है अर्थात् जितनी देर रहेगी पत्नी मानी जाएगी और उस समय वह अन्य किसी के साथ सम्पर्क न रखेगी। प्रतीत होता है उन दिनो इस प्रकार की प्रथा रही होगी। आजकल भी बहुत से सम्पन्न व्यक्ति वेश्या, अभिनेत्री या किसी अन्य को कुछ काल के लिए अपने पास रख लेते हैं और उस समय उसका अन्य किसी के साथ सम्पर्क नही होता। यह भी व्रत का अतिचार है।

(२) अपरिग्गहियागमणे—(अपरिगृहीतागमन) अपरिगृहीता का अर्थ है—वह स्त्री जिस पर किसी का अधिकार नही है। काव्यशास्त्र मे तीन प्रकार की नायिकाओ का वर्णन है—(१) स्वीया—अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री। (२) परकीया अर्थात् दूसरे की विवाहिता पत्नी और सामान्या अर्थात् वेश्या आदि जिस पर किसी का अधिकार नही है। यहाँ अपरिगृहीता शब्द से तृतीय प्रकार लिया गया है।

(३) अणङ्गकीड़ा—स्वाभाविक अङ्गो से काम न लेकर काम-क्रीडा के लिए चर्म, रबर आदि के उपकरणो से काम लेना अथवा कामान्ध हो कर मुखादि से विषय वासना को शान्त करना या किसी स्वजातीय से सभोग करना। यह अतिचार चरित्र की दृष्टि से रखा है, इससे व्यभिचार को पोषण मिलता है, अतः गृहस्थ के जीवन की दुष्प्रवृत्ति है।

---

*पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज ने इसका अर्थ वाग्दत्ता के साथ सहवास करना भी किया है।

(४) **परविवाहकरणे**—गृहस्थ मे रहकर व्यक्ति को अपने परिवार के सदस्यो का विवाह-सस्कार करना ही पडता है, इसके लिए गृहस्थी को इसकी छूट है। परन्तु इतर लोगो के रिश्ते-सम्बन्ध करवाना या उनको प्रेरित करना कि आपका लडका अथवा लडकी विवाह योग्य हो गए हैं इनकी शादी करदो। ऐसा करने से यदि लड़के अथवा लडकी का आपस मे अयोग्य सम्बन्ध हो जाए तो उसका रिश्ता कराने वाले को ही उपालम्भ मिलता है कि अमुक ने यह सम्बन्ध स्थापित किया है। इस लिए यह श्रावक व्रत का अतिचार है। अत गृहस्थ को ऐसे कार्य से वचना चाहिए।

(५) **काम-भोग तिव्वाभिलासे**—गृहस्थ मे रहकर वेद को उपशमन करने के लिए विवाह सस्कार किया जाता है। परन्तु कामासक्त होकर किसी कामजनक औषध, वाजिकरण आदि का प्रयोग करना अथवा किसी मादक द्रव्य का आसेवन करना जिससे मानसिक अभिलाषाएँ तीव्र हो। इस प्रकार आचरण करना श्रावक के व्रत मे अतिचार है।

इच्छा परिमाण व्रत के पाँच अतिचार

मूलम्—**तयाणंतरं च णं इच्छा-परिमाणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तजहा—खेत्तवत्थु-पमाणाइक्कमे, हिरण्ण सुवण्ण-पमाणाइक्कमे, दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे, धण-धन्न-पमाणाइक्कमे, कुविय-पमाणाइक्कमे ॥४५॥**

छाया—तदनन्तर च खलु इच्छापरिमाणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या., तद्यथा—क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमः, धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम·, द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम, कुप्यप्रमाणातिक्रमः।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च ण**—इसके अनन्तर **समणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **इच्छापरिमाणस्स**—इच्छापरिमाण व्रत के **पच अइयारा**—पाँच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे**—क्षेत्र वास्तुप्रमाणातिक्रम, **हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे**—हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, **धणधन्नपमाणाइक्कमे**—धनधान्यप्रमाणातिक्रम, **दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे**—द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम, **कुवियपमाणाइक्कमे**—कुप्यप्रमाणातिक्रम।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक को इच्छापरिमाण व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—१ क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम—खेत और गृह सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। २ हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम—सोना-चाँदी आदि मूल्यवान धातुओ की मर्यादा का उल्लङ्घन। ३ द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम—दास-दासी तथा पशु-सम्बन्धी मर्यादा का अतिक्रमण। ४ धनधान्यप्रमाणातिक्रमण—मणि, मुक्ता एव पण्य आदि धन तथा गेहूँ चावल आदि अनाज सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। ५ कुप्यप्रमाणातिक्रम—वस्त्र, पात्र, शय्या, आसन आदि गृहोपकरण सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन।

टीका—पाँचवे अणुव्रत का नाम है—इच्छा परिमाण व्रत, इच्छा आकाश के तुल्य अनन्त है, उसकी कोई सीमा ही नही है, अत उसे सीमित करना ही इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है। आशा, तृष्णा, इच्छा ये तीनो शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हे। इच्छा से ही परिग्रह का निर्माण होता है, अत इसे सीमित किए विना व्यक्ति इस व्रत का आराधक नही हो सकता। जो अपने पास कनक-कामिनी है या सचित्त अचित्त परिग्रह है, उस पर ममत्व करना। जो अप्राप्त वस्तु है उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा दौड-धूप करती है। गृहस्थावस्था मे इच्छा अनिवार्य उत्पन्न होती है। अणुव्रती श्रावक मे आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही इच्छा पैदा होती है, शेप इच्छाओ का निरोध हो जाता है, उस ससीम इच्छा से जो अप्राप्त की प्राप्ति होती है, उससे सग्रह बुद्धि पैदा होती है, सगृहीत पदार्थो पर ममत्व हो जाता है। अत सिद्ध हुआ परिग्रह तीन प्रकार का होता है। भगवान महावीर ने सग्रह और ममत्व रूप परिग्रह का गृहस्थ के लिए सर्वथा निपेध नही किया, सवसे पहले इच्छा को परिमित करने के लिए उपदेश दिया है, ज्यो-ज्यो इच्छा कम होती जाती है त्यो त्यो सग्रह और ममत्व भी कम होता जाता है।

जो नि स्पृह मुनिवर होते हैं उनमे न सग्रह बुद्धि होती है और न ममत्व बुद्धि ही, अत सिद्ध हुआ परिग्रह का मूल कारण इच्छा ही है। जिसने इच्छा को सीमित कर दिया, उसके लिए यह अधिक श्रेय है कि जिन वस्तुओ पर ममत्व है, उनमे से प्रतिदिन शासनोन्नति, श्रुतसेवा, जनसेवा, सघसेवा, इत्यादि शुभ कार्यो मे न्याय-नीति से उपर्जित द्रव्य को लगाता रहे। अनावश्यक पदार्थो का सग्रह करना श्रावक के लिए निपिद्ध है। इच्छा को, सग्रह को, ममत्व को नित्यप्रति न्यून करते रहने

से देशसेवा, राष्ट्रसेवा, सहानुभूति, स्वकल्याण तथा परकल्याण स्वयमेव हो जाता है। दुःख, क्लेश, हैरानी, परेशानी ये सब कुछ परिग्रह से सम्बन्धित हैं। मर्यादित वस्तुओं को बढाना नही और उनमें से भी घटाते रहना ये दोनो अपरिग्रहवाद के ही पहलू हैं। नौ प्रकार के परिग्रह की जैसी-जैसी जिसने मर्यादा की है उसका अतिक्रम न करना यह सन्तोष है, उसमे से भी न्यून करते रहना यह उदारता है। ये दोनो गुण सर्वोत्तम हैं। जैसे रोगो से शरीर दूषित हो जाता है, वैसे ही अतिचारो से व्रत दूषित हो जाता है। अब इच्छापरिमाण व्रत के अतिचारो का विवेचन किया जाता है, जैसे कि—

(१) **खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे**—'खेत्त' का अर्थ है खेती करने की भूमि अर्थात् श्रावक ने कृषि के लिए जितनी भूमि रखी है उसका अतिक्रमण करना अतिचार है। और 'वत्थु' का अर्थ है निवास के योग्य भवन उद्यान आदि जो श्रावक अपने उपयोग मे लाता है उससे अधिक मकान हवेली अपने पास रखना अतिचार है।

(२) **हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे**—इसका अर्थ है—सोना-चाँदी आदि बहुमूल्य धातुएँ। मोहर रुपया आदि प्रचलित सिक्का भी इसी मे आता है।

(३) **दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे**—द्विपद का अर्थ है—दो पैर वाले अर्थात् मनुष्य और चउप्पय का अर्थ है—चतुष्पद अर्थात् पशु। यहाँ मनुष्य को भी सम्पत्ति मे गिना गया है। उन दिनो दास-प्रथा प्रचलित थी और मनुष्य भी सम्पत्ति के रूप मे रखे जाते थे। उनका क्रय-विक्रय भी होता था।

(४) **धणधन्नपमाणाइक्कमे**—इसमे मणि मुक्ता आदि रत्न जाति और पण्य विक्रयार्थ वस्तुएँ धन हैं। और गेहूँ, चावल आदि जितने भी अनाज हैं, वे सब धान्य हैं।

(५) **कुवियपमाणाइक्कमे**—इसका अर्थ है—गृहोपकरण, यथा शय्या आसन वस्त्र-पात्र आदि घर का सामान, इनके विषय मे जो मर्यादा श्रावक ने की है, उसका उल्लङ्घन करना अतिचार है। इस व्रत का मूल भाव इतना ही है कि गृहस्थ अपनी आवश्यकता से अधिक न तो भूमि, मकान आदि रखे, न धन-धान्य का सग्रह करे और न ही मर्यादा से अधिक पशु आदि ही रखे। नैतिक दृष्टि से भी सर्व साधारण को उतनी ही सामग्री रखनी चाहिए जिससे जनता मे अपवाद न हो और अपना कार्य भी सुचारु रूपेण चल सके।

दिग्व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं दिसिव्वयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—उड्ढ-दिसि-पमाणाइक्कमे, अहो-दिसि-पमाणाइक्कमे, तिरिय-दिसि-पमाणाइक्कमे, खेत्त-वुड्ढी, सइअंतरद्धा ॥४६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु दिग्व्रतस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रमः, अधोदिक्प्रमाणातिक्रमः, तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रमः, क्षेत्रवृद्धिः, स्मृत्यन्तर्धानम्।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च-णं—इसके अनन्तर दिसिव्वयस्स—दिग्व्रत के पच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिए, न समायरियव्वा—परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए तं जहा—वे इस प्रकार हैं—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे—ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम, अहोदिसिपमाणाइक्कमे—अधोदिक्प्रमाणातिक्रम, तिरियदिसिपमाणाइक्कमे—तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम, खेत्तवुड्ढी—क्षेत्रवृद्धि, सइअतरद्धा—और स्मृत्यन्तर्धान।

भावार्थ—इसके अनन्तर दिग्व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा सम्वन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। २ अधोदिक्प्रमाणातिक्रम—नीचे की ओर दिशा सम्वन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। ३ तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम—तिरछी दिशाओ से सम्वन्ध रखने वाली मर्यादा का उल्लङ्घन। ४ क्षेत्रवृद्धि—व्यापार आदि प्रयोजन के लिये मर्यादित क्षेत्र से आगे बढना। ५ स्मृत्यन्तर्धान—दिशा मर्यादा की स्मृति न रखना।

टीका—पाँचवे इच्छापरिमाणव्रत मे परिग्रह सम्बन्धी मर्यादा की जाती है। प्रस्तुत व्रत मे व्यापार, सैनिक अभियान अथवा अन्य प्रकार के स्वार्थपूर्ण कार्यो के लिये क्षेत्र की मर्यादा की गई है। और उस मर्यादा का अतिक्रमण अतिचार माना गया है।

आनन्द ने जव व्रतो को स्वीकार किया उस समय इस व्रत का निर्देश नही

आया है। इसी प्रकार आगे बताए जाने वाले चार शिक्षापदो का निरूपण भी नही आया। सामायिक आदि शिक्षाव्रत समस्त जीवन के लिये नही होते। वे घडी, दो घडी या दिन-रात आदि निश्चित काल के लिए होते हैं। सम्भवतया इसी कारण इनका अहिंसा, सत्य आदि यावज्जीवन सम्बन्धी व्रतो के साथ निर्देश नही आया। इसी प्रकार प्रतीत होता है आनन्द ने उस समय दिग्व्रत भी अङ्गीकार नही किया था। इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध विदेशो मे जाकर व्यापार करने वाले सार्थवाह आदि अथवा सैनिक अभियान करने वाले राजाओ के साथ है। आनन्द के पास यद्यपि सामान ढोने एव यात्रा के लिए बैलगाडियाँ तथा नौकाएँ भी थी। फिर भी इस प्रकार का कोई निर्देश नही मिलता कि वह सार्थवाह के रूप मे स्वय व्यापार करने के लिए विदेशो मे जाया करता था। अत सम्भव है इस व्रत की तत्काल आवश्यकता न प्रतीत हुई हो।

यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द है—**"दिग्व्रत शिक्षाव्रतानि च यद्यपि पूर्व नोक्तानि, तथापि तत्र तानि द्रष्टव्यानि। अतिचारभणनस्यान्यथा निरवकाशता स्यादिहेति। कथमन्यथा प्रागुक्त "दुवालसविहं सावयधम्म पडिवज्जिस्सामि" इति, कथं वा वक्ष्यति "दुवालसविह सावगधम्म पडिवज्जइ" इति। अथवा सामायिकादीनामित्वरकालीनत्वेन—प्रतिनियतकालकरणीयत्वान्न तदैव तान्यसौ प्रतिपन्नवान्, दिग्व्रत च विरतेरभावाद्। उचितावसरे तु प्रतिपत्स्यत इति भगवतस्तदतिचारवर्जनोपदेशनमुपपन्नम्। यच्चोक्तं 'द्वादशविधं गृहिधर्मं प्रतिपत्स्ये' यच्च वक्ष्यति "द्वादशविधं श्रावकधर्म प्रतिपद्यते", तद्यथाकाल तत्करणाभ्युपगमादनवद्यमवसेयमिति।"**

इसका भाव यह है कि—दिग्व्रत तथा शिक्षाव्रत यद्यपि पहिले नही कहे गए, फिर भी उनका वहाँ अनुसधान कर लेना चाहिए। अन्यथा यहाँ अतिचारो का प्रतिपादन निरर्थक हो जाएगा। इसके बिना पूर्वोक्त "मै बाहर प्रकार के श्रावकधर्म को स्वीकार करूँगा" तथा आगे कहा जाने वाला "बारह प्रकार के श्रावक धर्म को स्वीकार किया" ये कथन सगत नही होते। अथवा सामायिक आदि व्रत मर्यादित काल के लिए होते हैं और उन्हे उपयुक्त नियत समय पर ही ग्रहण किया जाता है। अत उस समय उन्हे ग्रहण नही किया। इसी प्रकार विरति का अभाव होने के कारण दिग्व्रत भी उस समय ग्रहण नही किया गया। फिर भी भविष्यकाल मे ग्रहण करेगा, इस लिए उक्त व्रतो के अतिचारो का निरूपण करना भगवान् ने आव-

श्यक समझा। ऐसी स्थिति मे जो यह कहा गया कि 'बारह प्रकार के श्रावक धर्म को स्वीकार करूँगा' अथवा आगे आने वाला कथन कि 'उसने बारह प्रकार के श्रावम धर्म को स्वीकार किया' यथा समय व्रत अङ्गीकार करने की दृष्टि से समझना चाहिए। अत इसमे किसी प्रकार को विसगति नही है।

उड्ढदिसि—यहाँ दो प्रकार का पाठ मिलता है। **'उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे'** तथा **'उड्ढदिसाइक्कमे'** दोनो का भावार्थ एक ही है। यहाँ भी अतिक्रम यदि इच्छा पूर्वक किया जाता है तो वह अनाचार है। ऐसी स्थिति मे व्रत टूट जाता है। अत अनाभोग अर्थात् असावधानी के कारण होने वाला अतिक्रम ही अतिचार के अन्तर्गत है।

'खेत्तवुड्ढि'—इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं। **"एकतो योजन-शतपरिमाणमभिगृहीतमन्यतो दश योजनान्यभिगृहीतानि, ततश्च यस्या दिशि दश योजनानि तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीयान्यानि दश योजनानि तत्रैव स्वबुध्या प्रक्षिपति, संवर्धयत्येकत इत्यर्थः। अय चातिचारो व्रतसापेक्षत्वादव-सेय.।"** अर्थात् मान लीजिए किसी ने एक ओर सौ योजन तथा दूसरी ओर दस योजन की मर्यादा की है। उसे दस योजन वाली दिशा मे आगे बढने की आव-श्यकता हुई तो उसने सौ योजन वाली दिशा मे दस योजन कम करके उन्हे दस योजन वाली दिशा के साथ मिला दिया। इस प्रकार हेर-फेर करना **'खेत्तवुड्ढि'** है।

'सइअन्तरद्धात्ति—इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—**"स्मृत्यन्तर्धा—स्मृत्यन्तर्धानं स्मृतिभ्रंश.। किं मया व्रतं गृहीतं, शतमर्यादया पञ्चाशन्मर्यादया वा, इत्येवमस्मरणे योजनशतमर्यादायामपि पञ्चाशतमतिक्रामतोऽयमतिचारोऽवसेय इति।"** अर्थात् **'स्मृत्यन्तर्धान'** का अर्थ है व्रत मर्यादा का विस्मृत होना। इस प्रकार का सन्देह होना कि मैं ने सौ योजन की मर्यादा की है अथवा पचास योजन की ? इस प्रकार विस्मृत होने पर पचास योजन का अतिक्रमण करने पर भी दोष लगता है। भले ही वास्तविक मर्यादा सौ योजन की हो।

उपभोगपरिभोग व्रत के अतिचार—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं उवभोग-परिभोगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—भोयणओ य, कम्मओ य, तत्थ णं भोयणओ समणोवासएणं पंच अइयारा**

जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-सचित्ताहारे सचित्त-पडिबद्धाहारे, अप्प-उलिओसहि भक्खणया, दुप्पउलिओसहिभक्खणया' तुच्छोसहिभक्खणया। कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइ, न समायरियव्वाइं, तं जहा—इंगाल-कम्मे, वण-कम्मे, साडी-कम्मे, भाडी-कम्मे, फोडी-कम्मे, दंत वाणिज्जे, लक्खा-वाणिज्जे, रस-वाणिज्जे, विस-वाणिज्जे, केस-वाणिज्जे, जत-पीलण-कम्मे, निल्लंछण-कम्मे, दवग्गि-दावणया, सर-दह-तलाय सोसणया, असई-जण-पोसणया ॥ ४७ ॥

छाया—तदनन्तर च खलु उपभोग-परिभोगो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—भोजनत कर्मतश्च, तत्र खलु भोजनत· श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या·, तद्यथा—सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार, अपक्वौपधिभक्षणता, दुष्पक्वौषधिभक्षणता, तुच्छौषधिभक्षणता।

कर्मत खलु श्रमणोपासकेन पञ्चदश कर्मादानानि ज्ञातव्यानि न समाचरितव्यानि तद्यथा—१. अगारकर्म, २. वनकर्म, ३. शाकटिककर्म, ४. भाटीकर्म, ५. स्फोटनकर्म, ६. दन्त वाणिज्यम्, ७. लाक्षा वाणिज्यम्, ८. रस वाणिज्यम्, ९. विप वाणिज्यम्, १० केश वाणिज्यम्, ११ यंत्रपीडन कर्म, १२. निर्लाञ्छन कर्म, १३. दावाग्निदापनम्, १४ सरोह्रदतड़ाग शोषणम्, १५. असतीजन पोषणम्।

शब्दार्थ—**तयाणंतर च ण**—इसके अनन्तर **उवभोग परिभोगे**—उपभोग परिभोग **दुविहे**—दो प्रकार का **पण्णत्ते**—कहा गया है, **त जहा**—वह इस प्रकार है, **भोयणओ य कम्मओ य**—भोजन से और कर्म से, **तत्थ णं**—उनमे **भोयणओ**—भोजन से अर्थात् भोजन सम्बन्धी उपभोग परिभोग के **पच अइयारा**—पाँच अतिचार **समणोवासएण**—श्रमणोपासक को **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, **त जहा**—वे इस प्रकार हैं—**सचित्ताहारे**—सचित्ताहार, **सचित्तपडिबद्धाहारे**—सचित्तप्रतिबद्धाहार, **अप्पउलिओसहिभक्खणया** अपक्व ओपधि-वनस्पति का खाना, **दुप्पउलिओसहि भक्खणया**—दुष्पक्व ओषधि का खाना, **तुच्छोसहिभक्खणया**—तुच्छ ओपधि का खाना, **कम्मओणं**—कर्म्म से **समणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **पणरस**—पन्द्रह **कम्मादाणाइ**—कर्मादान **जाणियव्वाइ**—जानने चाहिएँ **न समायरियव्वाइ**—आचरण न करने चाहिएँ, **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—

इंगालकम्मे—अगारकर्म, **वणकम्मे**—वनकर्म, **साडीकम्मे**—शाकटिककर्म, **भाडीकम्मे**—भाटीकर्म, **फोडीकम्मे**—स्फोटीकर्म, **दंतवाणिज्जे**—दन्त वाणिज्य, **लक्खवाणिज्जे**—लाक्ष वाणिज्य, **रसवाणिज्जे**—रस वाणिज्य, **विसवाणिज्जे**—विप वाणिज्य, **केसवाणिज्जे**—केश वाणिज्य, **जंतपीलणकम्मे**—यन्त्रपीडन कर्म, **निल्लंछणकम्मे**—निर्लाञ्छन कर्म, **दवग्गिदावणया**—दावाग्निदापन, **सरदहतलाय सोसणया**—सरोह्रदतडाग शोपण, **असईजणपोसणया**—असतीजन पोषण ।

भावार्थ—तदनन्तर उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का निरूपण है, वह दो प्रकार का है—(१) भोजन से और (२) कर्म से। प्रथम भोजन सम्बन्धी उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) सचित्ताहार-सचित्त अर्थात् सजीव वस्तु खाना। (२) सचित्त प्रतिवद्धाहार—सजीव के साथ सटी हुई वस्तु खाना। (३) अपक्वौपधिभक्षणता–कच्ची वनस्पति अर्थात् फल शाक आदि खाना। (४) दुष्पक्वौपधिभक्षणता–पूरी न पकी हुई वनस्पति खाना। (५) तुच्छौपधिभक्षणता अर्थात् कच्ची मूँगफली आदि खाना।

कर्म सम्वन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के पन्दरह कर्मादान श्रावक को जानने चाहिएँ परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, वे इस प्रकार हैं—(१) अगार कर्म–कोयले वनाकर वेचना तथा जिनमे कोयलो का अधिक उपयोग करना पडे, ऐसे व्यापार करना। (२) वन कर्म—वन काटने का व्यापार। (३) शाकटिक कर्म—गाडी वगैरह वनाने तथा वेचने का व्यापार। (४) भाटी कर्म—गाडी वगैरह भाडे पर चलाने का व्यापार। (५) स्फोटी कर्म—जमीन खोदने तथा पत्थर आदि फोडने का व्यापार। (६) दन्त वाणिज्य—हाथी दाँत आदि का व्यापार। (७) लाक्षा वाणिज्य—लाख का व्यापार। (८) रस वाणिज्य—मदिरा आदि रसो का व्यापार। (९) विप वाणिज्य–सोमल आदि विपो का व्यापार। (१०) केश वाणिज्य—केशो का व्यापार। (११) यन्त्रपीडन कर्म—घानी कोल्हू आदि चलाने का व्यापार। (१२) निर्लाञ्छन कर्म—वैल आदि को वधिया करने का व्यापार। (१३) दावाग्निदापन—क्षेत्र साफ करने आदि के लिए जगल मे आग लगाने का व्यापार। (१४) सरोह्रद तडाग शोपण—सरोवर, झील तथा तालाव आदि को सुखाने का व्यापार। (१५) असतीजन पोपण–वेश्यादि दुराचारिणी स्त्रियो अथवा शिकारी कुत्ते विल्ली आदि हिंसक प्राणियो को रख कर व्यभिचार अथवा शिकार आदि का व्यापार।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे उपभोग-परिभोग व्रत के अतिचार बताए गए हैं और उन्हे दो भागो मे विभक्त किया गया है—(१) भोजन की उपेक्षा से और (२) कर्म की उपेक्षा से। भोजन की अपेक्षा से—

(१) 'सचित्ताहारे'—इसका शब्दत अर्थ है–किसी भी सचित्त वस्तु का आहार करना, किन्तु श्रावक के लिए सचित्त भोजन का सर्वथा त्याग अनिवार्य नही है, वह अपनी मर्यादा के अनुसार पानी, फल, आदि सचित्त वस्तुओ का सेवन कर सकता है। ऐसी स्थिति मे यहाँ सचित्ताहार का अर्थ यही समझना चाहिए कि सचित्त वस्तुओ की जो मर्यादा स्वीकृत की है उसको अनाभोग अर्थात् असावधानी के कारण उल्लङ्घन होना अथवा जिस व्यक्ति ने सचित्त वस्तुओ का पूर्णतया त्याग कर रखा है उसके द्वारा असावधानी के कारण नियमोल्लङ्घन होना। परन्तु जान बूझकर मर्यादा तोडने पर तो अतिचार के स्थान पर अनाचार हो जाता है और व्रत टूट जाता है। यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—**"सचित्ताहारे' त्ति सचेतनाहारः, पृथिव्यप्काय वनस्पति काय जीव शरीरिणां सचेतनानामभ्यवहरणमित्यर्थः, अयं चातिचारः कृत-सचित्ताहार. प्रत्याख्यानस्य कृततत्परिमाणस्य वाऽनाभोगादिना प्रत्याख्यातं सचेतनं भक्षयतस्तद्वा प्रतीत्यातिक्रमादौ वर्त्तमानस्य।"**

(२) **सचित्तपडिबद्धाहारे**—दूसरा अतिचार सचित्तप्रतिबद्धाहार है, इसका अर्थ है, ऐसी वस्तु को खाना जो सचित्त के साथ सटी या लगी हुई है जैसे वृक्ष के साथ लगी हुई गोद या आम खजूर आदि जहाँ केवल गुठली सचित्त होती है और गुद्दा, रस आदि बाहर का भाग अचित्त। यह अतिचार भी उसी व्यक्ति की दृष्टि से है, जिसने सचित्त वस्तुओ का परित्याग या मर्यादा कर रखी है। इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—**"सचित्तपडिबद्धाहारे' त्ति सचित्ते वृक्षादौ प्रतिबद्धस्य गुन्दादेरभ्यवहरणम्, अथवा सचित्ते—अस्थिके प्रतिबद्धंयत्पक्वमचतेनं खर्जूफलादि तस्य सास्थिकस्य कटाहमचेतनं भक्षयिष्यामीतरत्परिहरिष्यामि इति भावनया मुखे क्षेपणमिति, एतस्य चातिचारत्वं व्रतसापेक्षत्वादिति।"**

(३) **अप्पउलिओसहि भक्खणया**—(अपक्वौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है कच्चे फल या थोडे पके हुए चावल, चने (छोलिया) आदि खाना। यहाँ ओषधि के स्थान पर ओदन का पाठ भी मिलता है, ओदन पके हुए चावलो को कहते हैं। यहाँ इसका अर्थ होगा—कच्चे या आधे पके हुए चावल खाना।

(४) दुप्पउलिओसहि-भक्खणया—(दुष्पक्वौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है देर मे पकने वाली ओषधियो को पकी जान कर कच्ची निकाल लेना और उनका सेवन करना।

(५) तुच्छोसहि-भक्खणया (तुच्छौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है ऐसी वस्तुओ को खाना जिनमे अधिक हिंसा होती हो, जैसे—चौलाई, खसखस आदि के दाने।

ऊपर बताये गये पाँच अतिचार उपलक्षणमात्र हैं। श्रावक ने भोजन विषयक जो मर्यादा की है उनका असावधानी के कारण किसी प्रकार उल्लङ्घन होना, इस व्रत का अतिचार है। श्रावक के प्राय रात्रि भोजन का भी परित्याग होता है, अत तत्सम्बन्धी अतिचार भी उपलक्षणत्वेन इसी मे आ जाते हैं। यहाँ वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—"**इह च पञ्चातिचारा इत्युपलक्षणमात्रमेवावसेय यतो मधु-मद्य मांस रात्रिभोजनादि व्रतिनामनाभोगातिक्रमादिभिरनेके ते सम्भवन्तीति।**"

पन्दरह कर्मादान—भोजन सम्बन्धी अतिचार बताने के पश्चात् शास्त्रकार ने कर्म सम्बन्धी अतिचार गिनाएँ हैं। उनकी सख्या १५ है। ये ऐसे कर्म हैं जिनमे अत्यधिक हिंसा होती है, अत वे श्रावक के लिए वर्जित हैं। कर्मादान शब्द का अर्थ है—ऐसे व्यापार जिनसे ज्ञानावरणादि कर्मो का प्रबल बन्ध होता है। टीकाकार ने लिखा है—**कर्माणि–ज्ञानावरणादीन्यादीयन्तेयैस्तानि कर्मादानानि, अथवा कर्माणि च तान्यादानानि च कर्मादानानि कर्महेतव इति विग्रहः।**" इन कर्मा-दानो का सेवन श्रावक को न स्वय करना चाहिए न दूसरो से कराना चाहिए और न करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन-समर्थन ही करना चाहिए। इसके लिये भगवतीसूत्र मे नीचे लिखे अनुसार कहा गया है—

"**किमंग पुण जे इमे समणोवासगा भवति, जेसिं नो कप्पति इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं सय करेत्तए वा कारवेत्तए वा अन्न न समणुजाणेत्तए।**"

वे पन्दरह कर्मादान निम्नलिखित हैं—

१ इगाल कम्मे—(अङ्गार कर्म) कोयले बनाने का धन्धा करना अथवा भट्टा चलाना, ईंट पकाना आदि ऐसे धन्धे करना जिनमे आग और कोयलो का अत्यधिक उपयोग हो। यद्यपि सूत्रकार ने अगार कर्म से केवल कोयले बनाने का धन्धा ही

लिया है, फिर भी अत्यधिक हिंसा के कारण ईंट पकाने आदि के धन्धे भी उसी मे सम्मिलित कर लेने चाहिएँ, वृत्तिकार ने इस पर नीचे लिखे अनुसार लिखा है—

"इङ्गाल कम्मे ति अङ्गार करणपूर्वकस्तद्विक्रयः, एवं यदन्यदपि वह्नि समारम्भ-पूर्वकं जीवनमिष्टकाभाण्डकादिपाक रूप तदङ्गारकर्मेति ग्राह्य समान स्वभाव-त्वात्, अतिचारताचास्य कृतैतत्प्रत्याख्यानस्यानाभोगादिना अत्रैव वर्तमानादिति, एव सर्वत्र भावना कार्य्या ।"

कर्मादानो की अतिचारता इस आधार पर है कि परित्याग करने पर भी कभी अनाभोगादि के द्वारा उक्त कर्मो का आचरण कर लिया जाए। जान बूझ कर आचरण करने पर तो अनाचार ही माना जाता है।

२. **वणकम्मे**—(वनकर्म) ऐसे धन्धे करना जिनका सम्बन्ध वन या जगल के साथ हो, वृक्षो को काटकर लकडियाँ बेचना, वस्ती आदि के लिए जगल साफ करना अथवा जगल मे आग लगाना आदि इसके अन्तर्गत ह। वृत्तिकार वीजपेषण अर्थात् चक्की चलाना आदि धन्धे भी इसमे सम्मिलित किए है।

३ **साडी कम्मे**—(शकटकर्म) शकट अर्थात् वैल गाडी, रथ आदि वनाकर वेचने का धन्धा।

४. **भाड़ी कम्मे**—(भाटीकर्म) पशु-बैल अश्व आदि को भाटक-भाडे पर देने का व्यापार करना।

५. **फोड़ी कम्मे**—(स्फोटीकर्म) खान खोदने, पत्थर फोडने आदि का धन्धा करना।

६. **दन्त वाणिज्जे**—हाथी आदि के दातो का व्यापार करना, उपलक्षण से चर्म आदि का व्यापार भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

७ **लक्ख वाणिज्जे**—(लाक्षावाणिज्य) लाख का व्यापार करना।

८. **रस वाणिज्जे**—(रसवाणिज्य) मदिरा आदि रसो का व्यापार करना। यद्यपि ईख एव फलो के रस का भी व्यापार होता है किन्तु वह यहाँ नही लिया जाता। हिंसा एव दुराचार की दृष्टि से मदिरा आदि मादक रस ही वर्जनीय हैं।

९. **विस वाणिज्जे**—(विष वाणिज्य)—विविध प्रकार के विषो का व्यापार करना बन्दूक तलवार धनुष बाण, बारूद आदि हथियार एव हिसक वस्तुएँ भी इसमे सम्मिलित हैं।

१०. **केस वाणिज्जे**—(केश वाणिज्य)—दास-दासी एव पशु आदि जीवित प्राणियो के क्रय-विक्रय का धन्धा करना। कुछ आचार्यो के मत मे चमरी आदि के बालो का व्यापार भी इसी मे सम्मिलित है। मोरपख तथा ऊन का व्यापार इस मे नही आता क्योकि उन्हे प्राप्त करने के लिए मोर और भेड आदि को मारना नही पडता। इसके विपरीत चमरी गाय के बाल उसे बिना मारे नही प्राप्त होते।

११. **जन्त पीलणकम्मे**—(यन्त्र पीडन कर्म)—घाणी, कोल्हू आदि यन्त्रो के द्वारा तिल, सरसो आदि पीलने का धन्धा करना।

१२. **निल्लंछण कम्मे**—(निर्लाञ्छन कर्म)—बैल आदि को नपु सक बनाने अर्थात् खसी करने का धन्धा।

१३. **दवग्गिदावणया**—(दावाग्निदापन)—जगल मे आग लगाना। जगल की आग अनियन्त्रित होती है और उसके द्वारा तत्रस्थ अनेक त्रस जीवो का भी सहार होता है।

१४. **सरदहतलाय सोसणया**—(सरोह्रद तडाग शोषणम्)—तालाब, झील, सरोवर नदी आदि जलाशयो को सुखाना, इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

सरस—स्वय संभूत जलाशय विषेस्य, ह्रदस्य—नद्यादिषु निम्नतर प्रदेशलक्षणस्य तडागस्य—कृत्रिम जलाशयविशेषस्य परिशोषणं यत्तत्तथा, प्राकृतत्वात् स्वार्थिक ता प्रत्यय· 'सरदहतलाय परिसोसणया।"

यहाँ सर, ह्रद तथा तडाग मे नीचे लिखा भेद बताया गया है—

सर—ऐसा जलाशय, जो स्वय सभूत अर्थात् अपने आप निष्पन्न हो गया हो, इसे झील भी कहा जाता है।

ह्रद—नदी आदि का वह निम्नतर भाग, जहा पानी सचित हो जाता है।

तडाग—कृत्रिम जलाशय।

भगवती सूत्र की वृत्ति मे भी यही बात कही गई है—"**सरोह्रदतडाग परिशोषणता, तत्र सर·—स्वभाव निष्पन्नं, ह्रदो-नद्यादीनां निम्नतरः प्रदेशः, तडाग–खननसम्पन्न-मुत्तानविस्तीर्ण जलस्थानम्, एतेषां शोषणं गोधूमादीनां वपनार्थम्** ।"

१५. **असई जणपोसणया**—(असतीजनपोषणता) व्यभिचारवृत्ति के लिए वेश्या आदि को नियुक्त करना तथा शिकार आदि के लिए कुत्ते बिल्ली आदि पालना, इस अतिचार के विषय मे भगवती सूत्र तथा उपासकदशाङ्गसूत्र की वृत्ति मे इस प्रकार लिखा है—"**असतीजनपोषणता-असतीजनस्यपोषण तद्भाटिकोपजीवनार्थ यत्तत्तथा, एवंमन्यदपि क्रूरकर्मकारिणः प्राणिनः तेषां पोषणमसतीजन-पोषणमेवेति** ।*

'**असई पोसणय' त्ति-दास्य. पोषण तद्भाटी ग्रहणाय, अनेन च कुक्वट मार्जारादि-क्षुद्रजीव पोषणमप्याक्षिप्त दृश्यमिति*** ।"

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र मे उपरोक्त कर्मादानो का निरूपण नीचे लिखे शब्दो मे किया है—

अङ्गार-वन शकट-भाटक-स्फोट जीविका । दन्त लाक्षा रस-केश-विष वाणिज्यकानि च ॥
यन्त्र-पीडा-निर्लाञ्छन-मसतीपोषण तथा । दव-दान-सर शोष, इति पञ्चदश त्यजेत् ॥
अङ्गार भ्राष्ट्र करण कुम्भाय स्वर्णकारिता । ठठारत्वेष्टका पाकाविति ह्यङ्गार जीविका ॥
छिन्नाछिन्नवनपत्र-वनपत्र-प्रसून फल विक्रय । कणाना दलनात् पेषाद् वृत्तिश्च वनजीविका ॥
शकटाना-तडागाना घटन खेटन-तथा । विक्रयश्चेति शकट-जीविका परिकीर्तिता ॥
शकटोक्षलुलायोष्ट्र खराश्वतर वाजिनाम् । भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद् भाटक जीविका ॥
सर कूपादि खनन-शिला कुट्टन कर्मभि । पृथिव्यारम्भ सम्भूतैर्जीवन स्फोट जीविका ॥
दन्त-केश-नखास्थित्वग्रम्णो ग्रहणमाकरे । त्रसाङ्गस्य वाणिज्यार्थं दन्तवाणिज्यमुच्यते ॥
लाक्षामन-शिला-नीली धातकी-टङ्कणादिन । विक्रय. पापसदन लाक्षावाणिज्यमुच्यते ॥
नवनीत-वसा-क्षौद्रे मद्यप्रभृति विक्रय । द्विपाच्चुतष्पाद विक्रयो वाणिज्य रसकेशयो ॥
विषास्त्रहलयन्त्रायो हरितालादिवस्तुन । विक्रयो जीवितघ्नस्य विषवाणिज्यमुच्येत ॥

‡ भगवती सूत्र की वृत्ति ।

* उपासकदशाङ्ग की वृत्ति ।

तिलेक्षु सर्षपैरण्ड जल यन्त्रादिपीडनम् । दल तैलस्य च कृतिर्यन्त्र पीडा प्रकीर्तिता ॥
नासा वेधोऽङ्कन मुष्कच्छेदन पृष्ठ गालनम् । कर्ण कम्वल विच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥
सारिका शुकमार्जार-श्वकुर्कुट कलापिनाम् । पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषण विदु ॥
व्यसनात् पुन्यवुद्धचा वा दवदान भवेद्द्विधा । सर· शोष· सर· सिन्धुह्लदादेरम्बुसप्लव ॥

—योगशास्त्र—श्लोक ८८—११३ ।

हिंसा प्रधान होने के कारण उपरोक्त कर्म श्रावक के लिए वर्जित हैं, इसी प्रकार के यन्त्र कर्म भी इनमे सम्मिलित कर लेने चाहिएँ, वर्तमान युग मे हिंसा एव शोषण के नए-नए साधन एव उपाय अपनाए जा रहे हैं इन सबका इन्ही मे अन्तर्भाव हो जाता है , व्रतधारी को वर्तमान परिस्थिति के अनुसार विचार कर लेना चाहिए ।

अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं अणट्ठदंडवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोगपरिभोगाइरित्ते ॥ ४८ ॥**

छाया—तदनन्तर च खलु अनर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेन पंचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या , तद्यथा—कन्दर्प. कौत्कुच्यं, मौखर्य्य, संयुक्ताधिकरणम्, उपभोगपरिभोगातिरेकः ।

शब्दार्थ—**तयाणतरं च णं**—इसके अनन्तर **समणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **अणट्ठदण्डवेरमणस्स**—अनर्थदण्ड विरमणव्रत के **पंच अइयारा**—पाँच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ, **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**कंदप्पे**—कन्दर्प, **कुक्कुइए**—कौत्कुच्य, **मोहरिए**—मौखर्य, **संजुत्ताहिगरणे**—सयुक्ताधिकरण, **उपभोगपरिभोगाइरित्ते**—उपभोग परिभोगातिरेक ।

भावार्थ—इसके अनन्तर अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पॉच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ । वे इस प्रकार हैं १ कन्दर्प—कामोत्तेजक वाते या चेष्टाएँ करना । कौत्कुच्य—भाडो की तरह विकृत चेष्टाएँ करना ।

३ मौखर्य—झूठी शेखी मारना अथवा इधर उधर की व्यर्थ बाते करना ।

४ सयुक्ताधिकरण—हथियारो अथवा अन्य हिंसक साधनो को एकत्रित करना ।

५ उपभोग—परिभोगातिरेक—उपभोग—परिभोग को निरर्थक बढाना ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे अनर्थदण्ड विरमण व्रत के अतिचार बताए गए हैं। अनर्थदण्ड का अर्थ है—ऐसे कार्य जिनसे अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नही होता और दूसरे को हानि पहुँचती है, जिन कार्यो से व्यर्थ ही आत्मा मलिन होता है वे भी अनर्थदण्ड मे आते हैं।

(१) कन्दप्पे—(कन्दर्प) कन्दर्प का अर्थ है काम वासना। व्यर्थ ही काम वासना सम्बन्धी बाते अथवा चेष्टाएँ करते रहना कन्दर्प नाम का अतिचार है। गन्दी गालियाँ बकना, शृगारिक चेष्टाएँ करना, अश्लील साहित्य का पढना, तथा अन्य कामोत्तेजक बाते करना भी इसमे सम्मिलित हैं। यह अतिचार प्रमादाचरित कोटि मे आता है, क्योकि यह एक प्रकार की मानसिक, वाचिक अथवा कायिक शिथिलता है।

(२) कुक्कुइए—(कौत्कुच्यम्) भाँडो के समान मुँह, नाक, हाथ आदि की कुचेष्टाएँ करना, यह भी प्रमादाचरित का अतिचार है। यदि चेष्टाएँ बुरी भावना के साथ की जाये तो इसका सम्बन्ध अपध्यानाचरित के साथ भी हो जाता है।

(३) मोहरिए—(मौखर्य्यम्) मुखर का अर्थ है—बिना विचारे बढ-चढ कर बाते करने वाला। प्राय धृष्टता या अहकार से प्रेरित होकर व्यक्ति ऐसा करता है। इसमे मिथ्या प्रदर्शन की भावना उग्र होती है। यह अतिचार पाप कर्मोपदेश से सम्बन्ध रखता है।

(४) संजुत्ताहिगरणे—(सयुक्ताधिकरणम्) अधिकरण का अर्थ है फरसा, कुल्हाडी, मूसल आदि हिसा के उपकरण, इन उपकरणो को सग्रह करके रखना, जिसमे आवश्यकता पडने पर तुरन्त उपयोग किया जा सके, सयुक्ताधिकरण है। इस अतिचार से हिसा को प्रोत्साहन मिलता है।

(५) उपभोग परिभोगाइरित्ते—(उपभोगपरिभोगातिरेक) श्रावक को खान, पान, वस्त्र, पात्र, मकान आदि भोग्य सामग्री पर नियन्त्रण रखना चाहिए, और उन्हे

आवश्यकता से अधिक नही रखना चहिए। इन्हे अनावश्यक रूप से वढाना उपभोग—परिभोगतिरेक नाम का अतिचार है। इसका भी प्रमादाचरित के साथ सम्वन्ध है।

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सामाइयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तंजहा—मणदुप्पणिहाणे, वय दुप्पणिहाणे, काय दुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइअकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स-करणया ॥४६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु सामायिकस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—मनोदुष्प्रणिधानं, वचोदुष्प्रणिधानं, कायदुष्प्रणिधानं, सामायिकस्य स्मृत्यकरणता सामायिकस्यानवस्थितस्य करणता।

शब्दार्थ—**तयाणंतर च ण**—इसके अनन्तर **ससमणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **सामाइयस्स**—सामायिक व्रत के **पंचअइयारा**—पाँच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरिव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**मणदुप्पणिहाणे**—मनोदुष्प्रणिधान, **वयदुप्पणिहाणे**—वचोदुष्प्रणिधान, **कायदुप्पणिहाणे**—कायदुष्प्रणिधान, **सामाइयस्स सइ अकरणया**—सामायिक का स्मृत्यकरणम्, **सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया**—सामायिक को अस्थिरतापूर्वक करना।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को सामायिक व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ। परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं १ मनो-दुष्प्रणिधान—मन का दुष्प्रयोग करना। २ वचोदुष्प्रणिधान—वचन का दुष्प्रयोग करना। ३. कायदुष्प्रणिधान—काय का दुष्प्रयोग करना। सामायिक का विस्मृत होना अथवा ४. सामायिक की अवधि का ध्यान न रखना। ५ अनवस्थित सामायिक करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना।

टीका—सामायिक का अर्थ है जीवन मे समता या समभाव का होना, जीवन मे विषमता राग तथा द्वेप के कारण आती है। अत इन्हे छोडकर शुद्ध आत्म स्वरूप रमणता ही सामायिक है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यरूप हैं। स्वस्वरूपानुसन्धान से इन गुणो का उत्तरोत्तर विकास होता है। अत सामायिक से एक ओर रागद्वेप आदि विकृतियाँ शान्त होती हैं और दूसरी ओर ज्ञान, दर्शन आदि गुणो की वृद्धि होती है। यहाँ वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—**"सामाइयस्स' त्ति समो—रागद्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति तस्य आय.—प्रतिक्षणमपूर्वापूर्वज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निरुपमसुखहेतुभूतानामधःकृत चिन्तामणिकल्पद्रुमोपमाना लाभः समाय. स प्रयोजनमस्यानुष्ठानस्येति सामायिकम्।"**

यह व्रत मुनि को समस्त जीवन के लिए होता है, श्रावक इसे कुछ समय अर्थात् प्रचलित परम्परा के अनुसार दो घडी—४८ मिनट के लिए अगीकार करता है और उस समय समस्त सावद्य अर्थात् पापयुक्तक्रियाओ का परित्याग करता है। इस व्रत के निम्नलिखित अतिचार हैं—

(१) **मणदुप्पणिहाणे** (मनोदुष्प्रणिधान) सामायिक के समय घरेलू वातो का चिन्तन करना। शत्रु मित्र आदि का बुरा-भला सोचना अथवा अन्य प्रकार से मन मे राग-द्वेष सम्वन्धी वृत्तियो को लाना।

(२) **वयदुप्पणिहाणे** (वचोदुष्प्रणिधान) असत्य बोलना, दूसरे को हानि पहुँचाने वाले अथवा कठोर वचन कहना एव सासारिक वाते करना।

(३) **कायदुप्पणिहाणे** (कायदुष्प्रणिधान) ऐसी हलचल करना जिससे हिसा की सम्भावना हो।

(४) **सामाइयस्स सइ—अकरणया** (सामयिकस्यस्मृत्यकरणता) सामायिक करने के लिए निश्चित समय को भूल जाना अथवा सामायिक काल मे यह भूल जाना कि मैं सामायिक मे हूँ। यह अतिचार प्रमाद के कारण होता है।

(५) **सामाइयस्स अणवट्ठियस्सकरणया** (सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणता)—सामायिक के सम्वन्ध मे अनवस्थित रहना अर्थात् कभी करना, कभी न करना, कभी अवधि से पहले ही उठ जाना आदि। उपरोक्त अतिचारो मे प्रथम तीन का कारण मुख्यतया अनाभोग या असावधानी है, और अन्तिम दो का प्रमाद। वृत्तिकार

के शब्द निम्नलिखित हैं—'सामाइयस्स सइ अकरणय' त्ति सामायिकस्य सम्बन्धिनी या स्मृति'—अस्या वेलायां मया सामायिक कर्त्तव्य तथा कृत तन्न वा इत्येवरूप स्मरण, तस्याः प्रबलप्रमादतयाऽकरणंस्मृत्यकरणम्, 'अणवट्ठियस्स करणया' त्ति अनवस्थितस्य अल्पकालीनस्यानियतस्य वा सामायिकस्यकरण मनवस्थितकरणम्, अल्पकालकरणानन्तरमेवत्यजति यथाकथञ्चिद्वा तत्करोतीति भाव.। इह चाद्यत्रयस्यानाभोगादिनातिचारत्वम् इतरद्वयस्य तु प्रमादबहुलतयेति।"

शास्त्रो मे मन के दस, वचन के दस तथा काया के बारह दोष बताए गए हैं जो सामायिक मे वर्जित हैं। वे निम्नलिखित है—

मन के दस दोष—

१. विवेक बिना सामायिक करे तो 'अविवेक दोष।'

२ यश कीर्ति के लिए सामायिक करे तो 'यशोवाँछा' दोष।

३ धनादिक के लाभ की इच्छा से सामायिक करे तो 'लाभवाँछा' दोष।

४. गर्व-अहकार (घमड) सहित सामायिक करे तो 'गर्व' दोष।

५. राजादिक के भय से सामायिक करे तो 'भय' दोष।

६ सामायिक मे नियाणा (निदान) करे तो 'निदान' दोष। नियाणा या निदान का अर्थ है धर्म साधना के फलस्वरूप किसी अमुक भोग आदि की कामना करना।

७. फल मे सदेह रखकर सामायिक करे तो 'सशय' दोष।

८ सामायिक मे क्रोध, मान, माया, लोभ करे तो 'रोष' दोष।

९ विनयपूर्वक सामायिक न करे तथा सामायिक मे देव गुरु धर्म की अविनय आशातना करे तो 'अविनय दोष।

१० बहुमान—भक्तिभावपूर्वक सामायिक न करके बेगार समझ कर सामायिक करे तो 'अबहुमान' दोष।

वचन के दस दोष—

१ कुत्सित वचन बोले तो 'कुवचन दोष'।

२ बिना विचारे बोले तो 'सहसाकार' दोष।

३. सामायिक मे राग उत्पन्न करने वाले ससार सम्बन्धी गीत ख्याल आदि गाए तो 'स्वच्छन्द' दोष।

४ सामायिक मे पाठ और वाक्य को संक्षिप्त करके बोले तो 'सक्षेप' दोष।

५ सामायिक मे क्लेशकारी वचन बोले तो 'कलह' दोष।

६ राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा, इन चार कथाओ मे से कोई कथा करे तो 'विकथा' दोष।

७ सामायिक मे हँसी, मसखरी, ठट्ठा, होहल्ला करे तो 'हास्य' दोष।

८ सामायिक मे गडवड करके जल्दी-जल्दी बोले या अशुद्ध पढे तो 'अशुद्ध' दोष।

९ सामायिक मे उपयोग विना बोले तो 'निरपेक्षा' दोष।

१० सामायिक मे स्पष्ट उच्चारण न करके गुण-गुण बोले नो 'मम्मण' दोष।

काय के वारह दोष—

१ सामायिक मे अयोग्य आसन से वैठे तो 'कुआसन दोष'। सहारा लेकर वैठना, पैर पर पैर रखकर वैठना, गर्व के आसन से वैठना, लेटना आदि सामायिक मे वर्जित है।

२ सामायिक मे स्थिर आसन से न बैठना, स्थान तथा आसन वदलते रहना अथवा अन्य प्रकार से चपलता प्रकट करना 'चलासन' दोष है।

३ सामायिक मे दृष्टि स्थिर न रखना, इधर उधर देखते रहना 'चलदृष्टि' दोष है।

४ सामायिक मे सावद्य अर्थात् दोष युक्त कार्य करना 'सावद्य' क्रिया दोष है, घर की रखवाली करना, कुत्ते विल्ली को भगाना आदि सावद्य क्रियाएँ हैं।

५ सामायिक मे दीवार आदि का सहारा लेकर वैठे या खडा रहे तो 'आलवन' दोष है।

६ सामायिक मे विना प्रयोजन हाथ पैरादि सकोचे अथवा पसारे तो 'आकुचन-प्रसारण' दोष।

७ सामायिक मे हाथ पैर आदि मोडे अथवा अगडाई ले तो 'आलस' दोष।

८ सामायिक मे हाथ एव पैरो की अंगुलियो को चटकाए तो 'मोटन' दोष।

९ सामयिक मे मैल उतारे तो 'मल' दोष।

१० गले अथवा गाल पर हाथ लगा कर शोकासन से बैठे तो 'विमासण' दोष।

११. सामायिक मे नीद लेवे तो 'निद्रा' दोष।

१२ सामायिक मे विना कारण दूसरे से 'वैयावच्च' अर्थात् सेवा सुश्रूषा करावे तो 'वैयावृत्य' दोष है।

दसवाँ देशावकाशिक व्रत के अतिचार—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहियापोग्गलपक्खेवे ॥५०॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु देशावकाशिकस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः तद्यथा—आनयनप्रयोग', प्रेष्यप्रयोगः, शब्दानुपात., रूपानुपातः, वहि पुद्गल प्रक्षेप ।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर **समणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **देसावगासियस्स**—देशावकाशिक व्रतके **पंच अइयारा**—पाँच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ, **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**आणवणप्पओगे**—आनयन प्रयोग, **पेसवणप्पओगे**—प्रेष्य प्रयोग, **सद्दाणुवाए**—शब्दानुपात, **रूवाणुवाए**—रूपानुपात, **बहियापोग्गलपक्खेवे**—और बहि पुद्गल प्रक्षेप।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—(१) आनयन प्रयोग—मर्यादा भग करने वाले सदेशो द्वारा वाहर से कोई वस्तु मँगाना। (२) प्रेष्य प्रयोग वाहर से वस्तु मँगाने के लिए किसी व्यक्ति को भेजना। (३) शब्दानु-

पात—शाब्दिकसकेत द्वारा काम कराना। (४) रूपानुपात—आँख आदि के इशारे से काम कराना। (५) बहि पुद्गलप्रक्षेप-बाहिर कोई वस्तु फेककर काम कराना।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम है—देशावकाशिक व्रत, इसका अर्थ है—अमुक निश्चित समय विशेष के लिए क्षेत्र की मर्यादा करना और इससे बाहर किसी प्रकार की सासारिक प्रवृत्ति न करना। यह व्रत छठे दिग्व्रत का सक्षेप है, दिग्व्रत मे दिशा सम्बन्धी मर्यादा की जाती है, किन्तु यह मर्यादा यावज्जीवन य लम्बे समय के लिए होती है और प्रस्तुत मर्यादा साधना के रूप मे दिन रात के या न्यूनाधिक समय के लिए की जाती है। भोगोपभोग परिमाण आदि अन्य व्रतो का प्रतिदिन अमुक काल तक किया जाने वाला सक्षेप भी इसी व्रत मे सम्मिलित है। टीकाकार के निम्न-लिखित शब्द हैं—

'देसावगासियस्स' त्ति दिग्व्रतगृहीतदिक्परिमाणस्यैकदेशो देशस्तस्मिन्नवकाशो—गमनादिचेष्टास्थानं देशावकाशस्तेन निर्वृत्तं देशावकाशिक—पूर्वगृहीतदिग्व्रत संक्षेप-रूपं सर्वव्रतसंक्षेपरूप चेति।"

१. **आनयन प्रयोग**—मर्यादित क्षेत्र के अन्दर उपयोग के लिए मर्यादा क्षेत्र से बाहर के प्रदार्थो को दूसरे से मँगाना।

२. **प्रेष्य प्रयोग**—मर्यादा किए हुए क्षेत्र से बाहर के कार्यो का सपादन करने के लिए नौकर आदि भेजना।

३. **शब्दानुपात**—नियत क्षेत्र से बाहर का कार्य आने पर छीककर, खाँस कर अथवा कोई शब्द करके पडोसी आदि को इशारा करके कार्य कराना।

४. **रूपानुपात**—नियत क्षेत्र से बाहर का काम करने के लिए दूसरे को हाथ आदि का इशारा करना।

५. **बहि पुद्गलप्रक्षेप**—ककड पत्थर आदि फेककर दूसरे को सकेत करना।

जैन परम्परा मे यह आवश्यक माना गया है कि साधक समय-समय पर अपनी प्रवृत्तियो को मर्यादित करने का अभ्यास करता रहे इससे जीवन मे अनुशासन तथा दृढता आती है, प्रस्तुत व्रत इसी अभ्यास का प्रतिपादन करता है। समय विशेष के लिए की गई समस्त मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत हैं।

पौषध व्रत के पाँच अतिचार--

मूलम्---तयाणंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएण पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय सिज्जा-संथारे, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय सिज्जासथारे, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमी, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमी, पोसहोवासस्स सम्मं अणणुपालणया ॥ ५१ ॥

छाया---तदनन्तरं च खलु पौषधोपवासस्य श्रमणोपासकेन पंचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा-अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखित शय्यासस्तारकः, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारकः, अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखितोच्चार प्रस्रवण भूमि॰, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवण भूमि॰, पौषधोपवासस्य सम्यगननु पालनम् ।

शब्दार्थ---तयाणंतरं च ण—इसके अनन्तर समणोवासएण—श्रमणोपासक को पोसहोववासस्स—पौपधोपवास के पच अइयारा—पाच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ त जहा—वे इस प्रकार हैं---अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सिज्जासंथारे—अप्रतिलेलित-दुष्प्रतिलेखित शय्या सस्तारक, अप्पमिज्जयदुप्पयज्जिय सिज्जासंथारे—अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-सस्तारक, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमि---अप्रतिलेखित-दुष्प्रति-लेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि---अप्रमाजित-दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया ---पौपधोपवास का सम्पमननुपावन ।

भावार्थ---इसके अनन्तर श्रमणोपासक को पौपधोपवास के पाच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए, वे अतिचार इस प्रकार हैं--- (१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासस्तार–विना देखे भाले अथवा अच्छी तरह देखे भाले विना शय्या का उपयोग करना। (२) अप्रमार्जित–दुष्प्रमार्जित शय्या-सस्तार—पूँजे विना अथवा अच्छी तरह पूँजे विना शय्यादि का उपयोग करना। (३) अप्रतिलेखित—दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि—विना देखे अथवा अच्छी

तरह देखे विना शौच या लघुशका के स्थानो का उपयोग करना। (४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवण भूमि—विना पूजे अथवा अच्छी तरह पूजे विना शौच एव लघुशका के स्थानो का उपयोग करना। (५) पौषधोपवास का सम्यगननुपालन—पौषधोपवास को विधिपूर्वक न करना।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम पौषधोपवास व्रत है। पौषध का अर्थ है—उपाश्रय या धर्म स्थान, और उपवास का अर्थ है अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम रूप चार प्रकार के आहार का त्याग। इस व्रत मे उपवास के साथ सावद्यप्रवृत्तियो का भी त्याग किया जाता है और दिन रात के लिए घर से सम्बन्ध तोड दिया जाता है, व्रतधारी अपने सोने बैठने तथा शौच एवं लघुशका आदि के लिए भी स्थान निश्चित कर लेता है। इस व्रत के अतिचारो मे प्रथम चार का सम्बन्ध मर्यादित भूमि तथा शय्या-आसनादि की देखरेख से है। व्रतधारी को इन्हे अच्छी तरह देख भाल कर वरतना चाहिए, जिससे किसी जीव जन्तु की हिसा न होने पाए।

इस व्रत मे चार वातो का त्याग किया जाता है—

१ अशन, पान आदि चारो आहारो का।

२ शरीर का सत्कार-वेशभूषा, स्नानादि।

३ मैथुन।

४ समस्त सावद्य व्यापार।

इन चार बातो का मानसिक चिन्तन पाँचवे अतिचार के अन्तर्गत है। वृत्तिकार का कथन है—"कृतपौषधोपवासस्यास्थिरचित्ततयाऽऽहारशरीरसत्काराब्रह्मव्यापाराणामभिलषणादननुपालना पौषधस्येति, अस्य चातिचारत्व भावतो विरतेर्बाधितत्वादिति।"

जैन परम्परा मे द्वितीय, पचमी, अष्टमी एकादशी तथा चतुर्दशी को पर्व तिथियाँ माना गया है। उनमे भी अष्टमी और चतुर्दशी के दिन विशेष रूप से धर्माराधन किया जाता है। पौषधोपवास व्रत भी प्राय इन्ही पर किया जाता है।

यथासंविभाग व्रत के पांच अतिचार—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं अहासंविभागस्स समणोवासएण पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा-सचित्तनिक्खेवणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया ॥ ५२ ॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु यथासंविभागस्य श्रमणोपासकेन पंच अतिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या:, तद्यथा—सचित्तनिक्षेपणता, सचित्तपिधानम्, कालातिक्रम:, परव्यपदेश:, मत्सरिता।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर समणोवासएणं—श्रमणोपासक को अहासविभागस्स—यथासविभाग व्रत के पंचअइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—सचित्तनिक्खेवणया—सचित्तनिक्षेपण, सचित्तपेहणया—सचित्तपिधान, कालाइक्कमे—कालातिक्रम, परववएसे—परव्यपदेश, मच्छरिया—मत्सरिता।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को यथासविभाग व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—(१) सचित्त-निक्षेपण—दान न देने के विचार से भोजन सामग्री को सचित्त वस्तुओ मे रख देना। (२) सचित्तपिधान—सचित्त वस्तुओ से ढक देना। (३) कालातिक्रम समय बीतने पर भिक्षादि के लिए आमन्त्रित करना। (४) परव्यपदेश—टालने के लिए अपनी वस्तु को दूसरे की बताना। (५) मत्सरिता—ईर्ष्यापूर्ण दान देना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे यथासविभाग व्रत के अतिचार बताए गए हैं, इसी का दूसरा नाम 'तिथि सविभाग व्रत' भी है। संविभाग का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से विभाजन। यथा शब्द का अर्थ है—उचित रूप से अथवा मुनि आदि चारित्र सम्पन्न योग्य पात्र के लिए अपने अन्न, पान, वस्त्र आदि मे से यथा शक्ति विभाजन करना अर्थात् उसे देना यथासविभाग या अतिथि सविभाग व्रत है। इस के अतिचारो मे 'मुख्य बात दान न देने की भावना है। इस भावना से प्रेरित होकर किसी प्रकार की टालमटोल करना इस व्रत का अतिचार है। उपलक्षण के रूप मे उसके निम्न लिखित ५ प्रकार हैं—

(१) सचित्त निक्खेवणया—(सचित्तनिक्षेपण) दान न देने के अभिप्राय से अचित्त वस्तुओ को सचित्त धान्य आदि मे मिला देना अथवा कल्पनीय वस्तुओ मे सचित्त वस्तु मिला देना सचित्त निक्षेपण है। तात्पर्य यह है कि—सचित्त व्रीहि (तुप सहित चावल) आदि मे अगर अचित्त मिला देगे या अचित्त अन्न आदि मे

सचित्त चावल आदि मिला देंगे तो साधु ग्रहण नहीं करेंगे, ऐसी भावना करके सचित्त मे अचित्त और अचित्त मे सचित्त मिला देना सचित्तनिक्षेपण अतिचार है।

(२) **सचित्तपेहणया**—(सचित्तपिधान) इसी प्रकार पूर्वोक्त भावना से सचित्त वस्तु से अचित्त को और अचित्त से सचित्त को ढाँक देना सचित्त पिधान अतिचार है।

(३) **कालाइक्कमे**—(कालातिक्रम) अर्थात् समय का उल्लघन करना, 'साधु का सत्कार भी हो जाए और आहार भी न देना पडे, ऐसी भावना से भोजनसमय को टालकर भिक्षा देने को तैयार होना कालातिक्रम अतिचार है।

(४) **परववएसे**—(परव्यपदेश) न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी बताना।

(५) **मच्छरिया**—(मत्सरिता) ईर्ष्यावश आहार आदि का देना, यथा अमुक ने अमुक दान दिया है, मैं इस से कोई कम नही हूँ, इस भावना से देना। अथवा दान देने मे कजूसी करना मात्सर्य अतिचार है, कोई-कोई मत्सर का अर्थ क्रोध करते हे, उनके मत से क्रोधपूर्वक भिक्षा देना मात्सर्य अतिचार है।

इसके विपरीत यदि आहारादि देवे ही नही या देते हुए को रोके अथवा देकर पश्चात्ताप करे तो व्रत भग समझना चाहिए, कहा भी है—

"ण देइ वारेइ य दिज्जामाणं, तहेव दिन्ने परितप्पए य।
इयेरिसो जो किवणस्स भावो, भंगो वये बारसगे इहेसो॥"

न ददाति वारयति च दीयमानं, तथैव दत्ते परितप्यते च।
इत्येतादृशो य. कृपणस्य भाव, भङ्गो व्रते द्वादशके इहैष॥

स्वय न देना, दूसरा देने लगे तो उसे मना करना अथवा देकर पछताना आदि से बारहवे व्रत का भग होता है।

संलेखना के पाँच अतिचार—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे॥५४॥**

छाया—तदनन्तर च खलु अपश्चिममरणान्तिकसलेखनाजोषणाऽऽराधनायाः पंच अतिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्य, तद्यथा—इहलोकाशसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग, जीविताशसाप्रयोग., मरणाशसाप्रयोगः, कामभोगाशसाप्रयोग. ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर अपच्छिममारणतिय संलेहणाझूमणाराहणाए—अपश्चिम मारणान्तिक-सलेखना जोषणा आराधना के पंच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ तं जहा—वे इस प्रकार हैं—इहलोगाससप्पओगे—इस लोक के सुखो की अभिलाषा करना, परलोगासंसप्पओगे—परलोक के सुखो की अभिलाषा करना, जीवियासंसप्पओगे—जीविताशसाप्रयोग, मरणासंसप्पओगे—मरणाशसाप्रयोग, कामभोगासंसप्पओगे—काम-भोगाशसाप्रयोग ।

टीका—जैन धर्म के अनुसार जीवन अपने आप मे कोई स्वतन्त्र एव अन्तिम लक्ष्य नही है, यह आत्म विकास का साधन मात्र है । अत साधक के लिए वह साधु हो या सद्गृहस्थ, आवश्यक माना गया है कि जब तक शरीर के द्वारा धर्मानुष्ठान होता रहे तब तक उसकी सही सार सभाल रखे । किन्तु रोग अथवा अशक्ति के कारण जब शरीर धर्म क्रियाएँ करने मे असमर्थ हो जाए, अथवा रोग आदि के कारण मन में दुर्बलता आने लगे और विचार मलिन होने लगे तो उस समय यही उचित है कि शान्ति एव दृढता के साथ शरीर के सरक्षण का प्रयत्न छोड दिया जाए । इसके लिए साधक भोजन का त्याग कर देता है और पवित्र स्थान मे आत्मचिन्तन करता हुआ शान्तिपूर्वक आध्यात्मिक साधना के पथ पर अग्रसर होता है ।

इस व्रत को सलेखना कहा जाता है, जिसका अर्थ है समस्त सासारिक व्यापारो का उपसहार । सूत्र मे इसके दो विशेषण हैं 'अपश्चिमा' और 'मारणान्तिकी' । अपश्चिमा का अर्थ है—अन्तिम अर्थात् जिसके पीछे जीवन का कोई कर्त्तव्य शेष नही रहता । मारणान्तिकी का अर्थ है—मरने तक चलने वाली । इस व्रत मे ऐहिक तथा पारलौकिक समस्त कामनाओ का परित्याग कर दिया जाता है, इतना ही नही जीवन मृत्यु की आकाँक्षा भी वर्जित है अर्थात् व्रतधारी न यह चाहता है कि जीवन कुछ समय के लिए लम्बा हो जाए और न व्याकुल हो कर शीघ्र मरना चाहता है ।

वह शान्तचित्त होकर केवल आत्म-चिन्तन मे लीन रहता है। यहाँ वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

'अपच्छिमे' त्यादि, पश्चिमैवापश्चिमा मरणं—प्राणत्यागलक्षण तदेवान्तो मरणान्त तत्रवा मारणान्तिकी, संलिख्यते—कृशीक्रियते शरीरकषायाद्यनयेति सलेखना—तपोविशेषलक्षणा ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः तस्या. जोषणा—सेवना तस्या आराधना,—अखण्डकालकरणमित्यर्थः, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना जोषणाराधना, तस्याः।"

यहाँ सलेखना का अर्थ शरीर एव कषायो का कृश करना बताया गया है। इसके पश्चात् जोषणा और आराधना शब्द लगे हुए हैं, जोषणा का अर्थ है प्रीति या सेवन करना। यह सस्कृत की 'जुषी प्रीति सेवनयो' से बना है। आराधना का अर्थ है जीवन मे उतारना।.सलेखना के पाँच अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) **इहलोगाससप्पओगे**—(इहलोकाशसाप्रयोग) ऐहिक भोगो की कामना अर्थात् मरकर राजा, धनवान या सुखी एव शक्तिशाली बनने की इच्छा।

(२) **परलोगाससप्पओगे**—(परलोकाशसा प्रयोग) स्वर्ग सम्बन्धी भोगो की इच्छा, जैसे कि मरने के पश्चात् मै स्वर्ग मे जाऊँ और सुख भोगूँ आदि।

(३) **जीवियाससप्पओगे**—(जीविताशसा प्रयोग) यश कीर्ति आदि के प्रलोभन अथवा मृत्यु भय के कारण जीने की आकाक्षा करना।

(४) **मरणासंसप्पओगे**—(मरणाशसा प्रयोग) भूख प्यास अथवा अन्य शारीरिक कष्टो के कारण शीघ्र मरने की आकाक्षा, ताकि इन कष्टो से शीघ्र ही छुटकारा हो जाए।

(५) **कामभोगाससप्पओगे**—(कामभोगाशसाप्रयोग) इस लोक वा परलोक मे शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि किसी प्रकार के इन्द्रिय विषय को भोगने की आकाक्षा करना अर्थात् ऐसी भावना रखना कि अमुक पदार्थ की प्राप्ति हो।

अन्तिम समय मे जीवन की समस्त आकाक्षाओ एव मोह ममता से निवृत्त होने के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे आत्महत्या कहना अनुचित है, आत्म-हत्या मे मनुष्य क्रोध, शोक, मोह, दु ख अथवा किसी अन्य मानसिक आवेग से

अभिभूत होता है उसकी विचार शक्ति कुण्ठित हो जाती है और परिस्थिति का सामना करने की शक्ति न होने के कारण वह अपने प्राणो का अन्त करना चाहता है। किन्तु सलेखना मे जीने और मरने की आकाक्षा भी वर्जित है। चित्त शान्ति और तटस्थवृत्ति सलेखना का आवश्यक तत्त्व है, इसमे किसी प्रकार का आवेग या उन्माद नही रहता। इस प्रकार आत्म आलोचना और आत्म शुद्धिपूर्वक मृत्यु को जैन शास्त्रकार पडित मरण कहते हैं।

आनन्द द्वारा सम्यक्त्व-ग्रहण तथा शिवानन्दा को परामर्श--

मूलम्—**तएणं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—**

नो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिय वा अन्नउत्थिय-देवयाणि वा अन्नउत्थिय परिग्गहियाणि चेइयाइं वा वंदित्तए वा नमसित्तए वा, पुव्वि अणालत्तेण आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसि असण वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवयाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्ति-कंतारेण। कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइ-मसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुञ्छणेणं, पीठफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणं य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए"—

—त्ति कट्टु इम एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, अभिगिण्हित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठाइं आदियइ, आदिइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ, वंदित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दुइ-पलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव वाणियग्गामे नयरे, जेणेव सएगिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिवनन्दं भारियं एवं वयासी--

"एवं खलु देवाणुप्पिए ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे निसंते से वि य धम्मे मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए, तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदाहि जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि" ॥ ५५ ॥

छाया—तत. खलु स आनन्दो गाथापतिः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके पचाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं श्रावकधर्म प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य श्रमणं भगवन्त महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—

"नो खलु मे भदन्त ! कल्पते अद्यप्रभृति अन्य यूथिकान् वा, अन्ययूथिक दैवतानि वा, अन्ययूथिक परिगृहीतानि चैत्यानि वा वन्दितुं वा नमस्कर्तुं वा, पूर्वमनालप्तेन आलपितुं वा, सलपितुं वा, तेभ्योऽशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा दातुं वा अनुप्रदातुं वा, नान्यत्र राजाभियोगात्, गणाभियोगात्, वलाभियोगात् देवताभियोगात्, गुरु-निग्रहात्, वृत्तिकान्तारात् । कल्पते मे श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुकेन एषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्रकम्बलपादप्रोछनेन, पतद्ग्रह (प्रतिग्रह) पीठफलक-शय्या-सस्तारकेण, औषधभैषज्येण च प्रतिलाभयतो विहर्तुम् ।"

इति कृत्वा, इममेतद्रूपमभिग्रहमभिगृह्णाति, अभिगृह्य प्रश्नान् पृच्छति,पृष्ट्वाऽर्थानाददाति, आदाय श्रमण भगवन्त वहावीर त्रिकृत्वो वन्दते, वन्दित्वा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकात् दूतिपलाशात् चैत्यात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य यत्रैव वणिग्ग्रामं नगर यत्रैव स्वकंगृहं तत्रैव उपागच्छति, उपागत्य शिवानन्दां भार्यामेवमादीत्·

एव खलु देवानुप्रिये ! मया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मो निशान्त । सोऽपि च धर्मो ममेष्टः प्रतीष्टोऽभिरुचित·, तद् गच्छ खलु त्व देवानुप्रिये ! श्रमण भगवन्तं महावीर वन्दस्व यावत् पर्युपास्स्व, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पचाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध गृहिधर्म प्रतिपद्यस्व ।

शब्दार्थ—तएण—इसके अनन्तर से—वह आणदे—आनन्द गाहावई—गाथापति समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अंतिए—पास

पंचाणुव्वइय—पाँच अणुव्रत रूप **सत्तसिक्खावइय**—सात शिक्षाव्रत रूप **दुवालसविहं**—बारह प्रकार का **सावयधम्म**—श्रावकधर्म **पडिवज्जइ**—स्वीकार करता है। **पडिवज्जिता**—स्वीकार करके **समणं भगव महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर को **वंदइ**—वन्दना करता है, **नमंसइ**—नमस्कार करता है, **वंदित्ता, नमसित्ता**—वदना नमस्कार करके **एवं वयासी**—इस प्रकार बोलता है—

भंते—हे भगवन् ! **खलु**—निश्चय रूप से **मे**—मेरे को **नो कप्पइ**—नही कल्पता है, **अज्जप्पभिइं**—आज से **अन्नउत्थिय वा**—निर्ग्रन्थ सघ के अतिरिक्त अन्य सघ वालो को **अन्नउत्थियदेवयाणि वा**—अन्य यूथिक देवो को **अन्नउत्थियपरिग्गहियाणिचेइयाइं वा**—तथा अन्य यूथिको द्वारा स्वीकृत चैत्यो को **वदित्तए वा नमंसित्तए वा**—वन्दना-नमस्कार करना **पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा सलवित्तए वा**—उनके विना बुलाए पहले स्वय ही बोलना अथवा वार्तालाप करना, **तेसिं**—उनको **असण वा**—अशन **पाणं वा**—पान, **खाइमं वा**—खाद्य तथा **साइमं वा**—स्वाद्य **दाउं वा**—देना, **अणुप्पदाउं वा**—आग्रहपूर्वक पुन पुन देना **नन्नत्थ**—किन्तु वक्ष्यमाण आगारो के सिवाय **रायाभिओगेणं**—राजाभियोग से-राजा के आग्रह से **गणाभिओगेणं**—गण के अभियोग से, **वलाभिओगेणं**—सेना के अभियोग से, **देवयाभिओगेण**—देवता के अभियोग से, **गुरुनिग्गेहेणं**—गुरुजनो माता-पिता आदि के आग्रह से **वित्तिकंतारेणं**—और वृत्ति कान्तार से अर्थात् अरण्यादि मे वृत्ति के लिए विवश होने पर। **कप्पइ मे**—मुझे कल्पता है, **समणे निग्गथे**—श्रमण-निर्ग्रन्थो को **फासुएण**—प्रासुक **एसणिज्जेणं**—एषणीय **असण पाण-खाइम-साइमेणं**—अशन पान, खाद्य और स्वाद्य से **वत्थकंबल पडिग्गहपाय पुञ्छणेणं**—वस्त्र, कवल, पात्र, पादप्रोञ्छन, **पीढफलगसिज्जासंथारएणं**—पीढ, फलक, शय्या, सस्तारक **ओसहभेसज्जेणं**—तथा औषध भैषज्य के द्वारा **पडिलाभेमाणस्स**—उनका सत्कार करते हुए, (वहराते हुए) **मे**—मुझे **विहरित्तए**—विचरण करना, **त्तिकट्टु**—इस प्रकार कहकर **इमं एयारूव अभिग्गहं**—आनन्द ने इस प्रकार का अभिग्रह **अभिगिण्हइ**—ग्रहण किया, **अभिगिण्हित्ता**—ग्रहण करके, **पसिणाइं**—प्रश्न **पुच्छइ**—पूछे, **पुच्छित्ता**—पूछकर, **अट्ठाइ**—भगवान के द्वारा कहे गए तथ्यो को **आदियइ**—ग्रहण किया, **आदिइत्ता**—ग्रहण करके, **समणं भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान महावीर को **तिक्खुत्तो**—तीन वार **वंदइ**—वन्दना की **वंदित्ता**—वन्दना करके, **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के

अंतियाओ—पास से **दुइपलासाओ चेइआओ**—दुतिपलाश चैत्य से **पडिणिक्खमइ**—निकला, **पडिणिक्खमित्ता**—निकलकर, **जेणेव वाणियग्गामे नयरे**—जिधर वाणिज्य ग्राम नगर था, **जेणेव सए गिहे**—जहाँ अपना घर था, **तेणेव**—वहाँ **उवागच्छइ**—आए, **उवागच्छित्ता**—आकर, **सिवनंदं भारियं**—शिवानन्दा भार्या को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**देवाणुप्पिए**—हे देवानुप्रिये ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही **मए**—मैंने **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर के **अंतिए**—पास **धम्मे**—धर्म **निसंते**—श्रवण किया है, **सेवि य धम्मे**—और वह धर्म **मे**—मेरे को **इच्छिए**—इष्ट है, **पडिच्छिए**—अतीव इष्ट है, **अभिरुइए**—और अच्छा लगा है **तं**—इसलिए **देवाणुप्पिए**—हे देवानुप्रिये ! **तुमं**—तुम भी **गच्छ णं**—जाओ **समणं भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को **वंदाहि**—वन्दना करो, **जाव**—यावत् **पज्जुवासाहि**—पर्युपासना करो, **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर के **अंतिए**—पास **पंचाणुव्वइयं**—पाँच अणुव्रत **सत्तसिक्खावइयं**—सात शिक्षाव्रत रूप **दुवालसविहं गिहिधम्मं**—बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को **पडिवज्जाहि**—स्वीकार करो।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान महावीर के पास पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकार का श्रावक धर्म-गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। भगवान् को नमस्कार करके वह इस प्रकार बोला—भगवन् ! आज से मुझे निर्ग्रन्थ सघ से इतर सघ वालो को अन्ययूथिक देवो को, अन्ययूथिको द्वारा परिगृहीत चैत्यो को वन्दना नमस्कार करना नही कल्पता है, इसी प्रकार उनके बिना बुलाए अपनी ओर से बोलना, उनको गुरुबुद्धि से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य देना तथा उनके लिए इस का आग्रह करना नही कल्पता है। परन्तु राजा के अभियोग से, गण (सघ) के अभियोग से बलवान के अभियोग से, देवता के अभियोग से, गुरुजन माता-पिता आदि के आग्रह के कारण तथा वृत्तिकान्तार (आजीविका के लिए विवश होकर) यदि कभी ऐसा करना पडे, तो आगार है, मुझे निर्ग्रन्थ श्रमणो को प्रासुक-एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कबल, पादप्रोञ्छन पीठ, फलक, शय्या, सस्तार, औषध, भैषज्य देकर उनका सत्कार करते हुए विचरण करना कल्पता है।

आनन्द ने उक्त रीति से अभिग्रह धारण किया, और श्रमण भगवान महावीर को तीन बार वन्दना की। भगवान के पास से उठकर दूतिपलाश चैत्य से बाहर निकला और अपने घर पहुँचा। अपनी शिवानन्दा नामक पत्नी से इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रिये ! आज मैने श्रमण भगवान महावीर से धर्म श्रवण किया। वह मुझे अतीव इष्ट एव रुचिकर लगा। देवानुप्रिये ! तुम भी जाओ, भगवान की वन्दना करो, यावत् पर्युपासना करो और श्रमण भगवान महावीर से पाँच अणुव्रत सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ का धर्म स्वीकार करो।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे तीन बाते हैं—(१) आनन्द गाथापति द्वारा व्रत ग्रहण का उपसहार। (२) उसके द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण अर्थात् जैन धर्म मे दृढ श्रद्धा का प्रकटीकरण और (३) अपनी पत्नी को व्रत ग्रहण के लिए भगवान महावीर के पास जाने का परामर्श।

यहाँ गृहस्थ धर्म को पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप मे प्रकट किया गया है। अणुव्रत का अर्थ है छोटे व्रत। मुनि अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का पूर्णतया पालन करता है, अत उसके व्रत को महाव्रत कहा जाता है। श्रावक या गृहस्थ अहिंसा आदि व्रतो का पालन मर्यादित रूप मे करता है, अत महाव्रतो की तुलना मे उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे बारह व्रतो का विभाजन पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप मे किया गया है अन्यत्र यह विभाजन पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत के रूप मे भी मिलता है। छठा दिग्व्रत, सातवाँ उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत तथा आठवाँ अनर्थदण्ड विरमण व्रत, गुण व्रत मे सम्मिलित किए जाते हैं।

अणुव्रतो का सम्बन्ध मुख्यतया नैतिकता एव सदाचार के रूप मे आत्म शुद्धि से है, और शिक्षाव्रतो का उद्देश्य उक्त आत्म शुद्धि को अधिकाधिक विकसित करना है। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं।

पतञ्जलि ने अपने योग सूत्र मे अहिंसादि व्रतो को यम शब्द से प्रकट किया है और उन्हे अष्टागिक योग मार्ग का प्रथम सोपान अथवा मूलाधार माना है। इनके बिना योग अथवा आध्यात्मिक विकास सभव नही है। उसने इन्हे अपनी परिभाषा विशेष के अनुसार महाव्रत भी कहा है, पतञ्जलि के अनुसार अहिसादिक व्रत सार्व-

भौम होते हैं वे देश, काल और परिस्थिति की मर्यादा से परे होते हैं अर्थात् जब उनका पालन प्रत्येक स्थिति मे अपेक्षित होता है, तब उन्हे सार्वभौम महाव्रत कहा जाता है।

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग के अन्तिम चार अग मुख्यतया आत्मशुद्धि के साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनकी तुलना शिक्षा व्रतो के साथ की जा सकती है, पचम अग प्रत्याहार का अर्थ है—मन तथा इन्द्रियो को वाह्य विषयो से हटाकर आत्मा की ओर उन्मुख करना, यह एक प्रकार से समभाव साधना रूप सामायिक का ही प्रकारान्तर है। धारना, ध्यान और समाधि रूप अन्तिम तीन अगो मे मन की एकाग्रता या निरोध पर बल दिया गया है और इन तीनो को सयम शब्द से प्रकट किया है। यह भी मन को वाह्य प्रवृत्तियो से रोक कर आत्म चिन्तन में स्थिर करने का अभ्यास है, फलत कुछ विद्वान इन्हें भी जैन सामायिक का ही एक परिवर्तित रूप मानते हैं, शेष व्रत उसी के पोषक हैं।

जैन परम्परा मे तप के वारह भेद किए गए हैं, उनमे प्रथम छह वाह्य तप हैं और शेष छह आभ्यन्तर तप, योग के अन्तिम चार अग और आभ्यन्तर तप के छह भेदो मे वहुत समानता है।

सूत्र मे दूसरी वात आनन्द द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण अथवा अपनी श्रद्धा के प्रकटीकरण की है, वह घोषणा करता है–भगवन्! आज से अन्ययूथिक देव तथा अन्य-यूथिको द्वारा परिगृहीत चैत्यो को वन्दना नमस्कार करना, उनसे परिचय वढाना, उनके विना वुलाए अपनी ओर से बोलना मेरे लिए वर्जित है। उन्हे धर्मवुद्धि से अशन, पान आदि किसी प्रकार का आहार अथवा वस्त्र-पात्र आदि का दान देना भी वर्जित है। परन्तु उन पर अनुकम्पा बुद्धि से देने का निषेध नही है। यहाँ कई वाते विचारणीय हैं, उस चर्चा मे जाने से पूर्व वृत्तिकार के शब्द उद्धृत करना उचित होगा—"**अन्ययूथिकेभ्योऽशनादि दातु वा सकृत्, अनुप्रदातु वा पुन. पुनरित्यर्थः, अयं च निषेधो धर्मबुद्ध्यैव, करुणया तु दद्यादपि।**"

श्रावक का इतर धर्मावालम्बियो के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए यहाँ इस वात की चर्चा की गई है, उन्हे वन्दना नमस्कार करना, उनके साथ सलाप करना तथा उन्हे भोजन वस्त्रादि दान देना आनन्द अपने लिए वर्जित मानता है, किन्तु यह निषेध धर्मवुद्धि या आध्यात्मिक दृष्टि से है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह

अपने स्वीकृत मार्ग पर दृढ विश्वास रखे और उस से विचलित न हो, उस मार्ग के तीन अग हैं–(१) आदर्श, (२) पथप्रदर्शक, (३) पथ। इन्ही को देव, गुरु और धर्म शब्द से प्रकट किया जाता है। देव आदर्श का कार्य करते हैं और उस लक्ष्य को अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत करते हैं जहाँ साधक को पहुँचना है। गुरु उस पथ को अपने जीवन एव उपदेशो द्वारा आलोकित करते हैं और उस पथ का नाम धर्म है। प्रस्तुत सूत्र मे अन्य यूथिक शब्द से इतर मतावलम्बी धर्म गुरुओ का निराकरण किया गया है। यह बताने की आवश्यकता नही है कि विभिन्न विचारधारा के आग्रही धर्म गुरुओ के सकेत पर आँख मून्द कर चलने वाला या उनकी बातो को महत्व देने वाला साधक आत्म शुद्धि के विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकता। दूसरे पद द्वारा अन्य देवो का निराकरण किया गया है। और तीसरे द्वारा अन्यमतीय एव स्थानो का। जहाँतक लौकिक व्यवहार परस्पर सहायता एव अनुकम्पा दान का प्रश्न है उनका इस पाठ से कोई सबध नही है, इसी लिए आचार्य अभयदेव ने इस पाठ की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—"**अय च निषेधो धर्म बुद्धचैव, करुणया तु दद्यादपि।**"

'**अन्नउत्थिय परिग्गहिआइ**' के पश्चात्–'**चेइआइ**' या **अरिहतं चेइआइं**' पाठ मिलता है और चैत्य शब्द का अर्थ मन्दिर या मूर्ति किया जाता है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—वे जिन मन्दिर या जिनप्रतिमाएँ जिन पर दूसरो ने अधिकार कर लिया है, किन्तु यह अर्थ ठीक नही बैठता। इसके दो कारण हैं, पहली बात यह है कि जैन परम्परा इस बात को नही मानती कि दूसरे द्वारा स्वीकृत होने मात्र से मन्दिर या धर्म स्थान भ्रष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि प्रतिमा के साथ अलाप, सलाप तथा अशन, पान आदि देने का सम्बन्ध नही बैठता। यहाँ चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान या धार्मिक मर्यादाएँ है।

इसके विभिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिए प्रामाणिक ग्रन्थो से कुछ उद्धरण दिए जा रहे ह, रायपसेणीय सूत्र की टीका मे मलयगिरि ने नीचे लिखा अर्थ किया है—**चेइयं—चैत्य प्रशस्त मनोहेतुत्वात्**, भगवान् प्रशस्त होने के कारण चैत्य हैं। पद्मचन्द्र कोष के १५१ पृष्ट पर चैत्य शब्द के निम्नलिखित अर्थ किए हैं—

चैत्य (न०) चित्याया इदम् अण्। गाँव आदि मे प्रसिद्ध महावृक्ष, देवता के पास का वृक्ष, बुद्ध भेद, मन्दिर, जनसभा, यज्ञ का स्थान, लोगो के विश्राम की जगह, देवता का स्थान, बिम्ब।

दिगम्बर परम्परा मे मूल सघ के प्रवर्त्तक श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने अष्टपाहुड ग्रन्थ मे चैत्य शब्द का अर्थ साधु किया है, ये गाथाएँ तथा उनकी वचनिका निम्नलिखित है—

"बुद्धं जं वोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च ।
पंच महव्वय सुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ।।"

बुद्ध यत् वोधयन् आत्मान चैत्यानि अन्यत् च ।
पंच महाव्रत शुद्ध ज्ञानमय जानीहि चैत्यगृहम् ।।

वचनिका—जो मुनि बुद्ध कहिए ज्ञानमयी ऐसी आत्मा ताहि जानता होय वहुरि अन्य जीवनकूं चैत्य कहिए चेतना स्वरूप जानता होय वहुरि आप ज्ञानमयी होय वहुरि पाँच महाव्रतनिकरि शुद्ध होय निर्मल होय ता मुनिकुं हे भव्य चैत्य गृह जानि ।

भावार्थ—जामैं आपा पर का जानने वाला ज्ञानी नि पाप निर्मल ऐसा चैत्य कहिए चेतना स्वरूप आत्मा वैसे सो चैत्य गृह है सो ऐसा चैत्यगृह सयमी मुनि है । अन्य पाषाण आदि का मदिरकू चैत्य गृह कहना व्यवहार है ।

आगै फेरि कहै है—

"चेइय बध मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स ।
चेइहर जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणिय ।।"

चैत्य बधं मोक्ष दु ख सुख आत्मक तस्य ।
चैत्य गृह जिन मार्गे षट्कायहितकर भणितम् ।।

वचनिका—जाकै बध अर मोक्ष बहुरि सुख अर दु ख ये आत्मा के होय जाकै स्वरूप मे होय सो चैत्य कहिए जातै चेतना स्वरूप होय ताहीकै वध मोक्ष सुख, दु ख सभवै ऐसा जो चैत्य का गृह होय सो चैत्यगृह है । सो जिन मार्ग विषै ऐसा चैत्य गृह छह काय का हित करने वाला होय सो ऐसा मुनि है सो पाँच थावर अर त्रस मे विकलत्रय अर असैनी पचेन्द्रियताइ केवल रक्षा ही करने योग्य है, तातै तिनिकी रक्षा करने का उपदेश करै है, तथा आप तिनिका घात न करै है तिनिका यही हित है, वहुरि सैनी पचेन्द्रिय जीव हैं तिनी की रक्षा भी करै है रक्षा का उपदेश भी करै है

तथा तिनिकूं संसार तैं निवृत्त रूप मोक्ष होने का उपदेश करै है ऐसे मुनिराजकू चैत्यगृह कहिए।

भावार्थ—लौकिकजन चैत्यगृह का स्वरूप अन्यथा अनेक प्रकार माने हैं तिनिकूं सावधान किए हैं—जो जिन सूत्र मे छह काय का हित करने वाला ज्ञानमयी सयमी मुनि है सो चैत्यगृह है, अन्यकूं चैत्यगृह कहना मानना व्यवहार है, ऐसे चैत्यगृह का स्वरूप कह्या।

इन गाथाओ से सिद्ध होता है कि चैत्य शब्द ज्ञान और साधु का वाचक है। इसलिए इस स्थान पर उक्त दोनो अर्थ सगत होते हैं। चाहे जैन साधु ने परदर्शन की श्रद्धा ग्रहण की हो चाहे परदर्शन वालो ने अपने वेष को न छोडते हुए जैन ज्ञान ग्रहण किया हो यह दोनों श्रावक के वन्दन करने योग्य नही हैं। इनसे सगति करने वालो को मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। इसलिये इनके साथ विशेष परिचय हानि-कारक है। दान का निषेध धर्मबुद्धि से किया गया है न कि करुणाभाव से, कारण के पड जाने पर षट् कारण ऊपर कथन किये जा चुके हैं जैसे कि राजा आदि के अभियोग से इत्यादि।

जिन प्रतिमा और जिन बिम्ब का स्वरूप जो श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य ने किया है वह भी पाठको के देखने योग्य है—

"सपरा जंगम देहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा॥"

स्वपरा जगमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम्।
निर्ग्रन्थ वीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा॥

वचनिका—दर्शन ज्ञान करि शुद्ध निर्मल है चारित्र जिनकै तिनिकी स्वपरा कहिये अपनी अर पर की चालती देह है सो जिन मार्गविषै जगम प्रतिमा है, अथवा स्वपरा कहिये आत्मा तै पर कहिये भिन्न है ऐसी देह है, सो कैसी है—निर्ग्रन्थ स्वरूप है, जाके किछू परिग्रह का लेश नाही, ऐसी दिगम्बरमुद्रा, बहुरि कैसी है—वीतरागस्वरूप है जाकै काहू वस्तुसो राग द्वेष मोह नाही, जिन मार्ग विषै ऐसी प्रतिमा कही है। दर्शन ज्ञान करि निर्मल चारित्र जिनकै पाइये ऐसे मुनिनिकी गुरु शिष्य अपेक्षा अपनी तथा

परकी चालती देह निर्ग्रन्थ वीतरागमुद्रा स्वरूप है सो जिन मार्ग विषै प्रतिमा है अन्य कल्पित है अर धातु पाषाण आदि करि दिगम्बर मुद्रा स्वरूप प्रतिमा कहिये सो व्यवहार है सो भी बाह्य प्रकृति ऐसी ही होय सो व्यवहार मे मान्य है ।

आगे फेरि कहै है—

"जं चरदि सुद्ध चरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सा होई वंदणीया णिग्गंथ संजदा पडिमा ॥"

यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वंदनीया निर्ग्रन्था सायता प्रतिमा ॥

वचनिका—जो शुद्ध आचरणकूं आचरै बहुरि सम्यग्ज्ञान करि यथार्थ वस्तुकूं जानै है बहुरि सम्यग्दर्शनकरिय अपने स्वरूपकूं देखै है ऐसे शुद्ध सम्यक् जाकै पाइये है ऐसी निर्ग्रन्थ संयम स्वरूप प्रतिमा है सो वंदिवे योग्य है ।

भावार्थ—जानने वाला, देखने वाला, शुद्ध सम्यक्त्व शुद्ध चारित्र स्वरूप निर्ग्रन्थ संयम सहित मुनि का स्वरूप है सो हो प्रतिमा है सो हो वंदिवे योग्य अन्य कल्पित वंदिवे योग्य नाँहि है, बहुरि तैसे ही रूप सदृश धातु पाषणकी प्रतिमा होय सो व्यवहार करि वंदिवे योग्य है ।

आगे फेरि कहै है—

"दंसण अणंत णाण अणंतवीरिय अणंत सुक्खा य ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठ बंधेहिं ॥
णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण ।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसर पडिमा धुवा सिद्धा ॥"

दर्शनम् अनंतज्ञानं अनन्तवीर्या अनन्तसुखा च ।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ता कर्माष्टकबंधैः ॥
निरुपमा अचला अक्षोभा निर्मापिता जंगमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिता व्युत्सर्ग प्रतिमा ध्रुवा सिद्धा ॥

वचनिका—जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख इनि करि-सहित है, बहुरि शाश्वता अविनाशी सुख स्वरूप है, बहुरि अदेह है कर्म नोकर्मरूप

पुद्गलमयी देह जिनकै नाही है, वहुरि अष्टकर्म के वधन करि रहित है, वहुरि उपमा करि रहित है, जाकी उपमा दीजिये ऐसा लोक मे वस्तु नाँही है, वहुरि अचल है प्रदेशनिका चलना जिनकै नाही है वहुरि अक्षोभ है जिनिकै उपयोग मैं किछु क्षोभ नाही है निश्चल है, वहुरि जगमरूप करि निर्मित है कर्मतै निर्मुक्त हुये पीछै एक समय मात्र गमनरूप होय है, तातै जगम रूपकरि निर्मापित है, वहुरि सिद्धस्थान जो लोक का अग्रभाग ता विषै स्थित है याही तै व्युत्सर्ग कहिये कायरहित है जैसा पूर्वँ देह मैं आकार था तैसा ही प्रदेशनिका आकार किन्चू घाटि ध्रुव है, मसार तै मुक्त होय एक समय गमन करि लोक कै अग्रभाग विषै जाय तिष्ठै पीछै चलाचल नाही है ऐसी प्रतिमा सिद्ध है।

भावार्थ—पहले दोय गाथा मे तौ जगम प्रतिमा सयमि मुनिनिकी देह सहित कही, वहुरि इनि दोय गाथानि मै थिर प्रतिमा सिद्धनिकी कही ऐसै जगम थावर प्रतिमा का स्वरूप कह्या अन्य केई अन्यथा वहुत प्रकार कल्पै है सो प्रतिमा वदिवे योग्य नाही है।

आगै जिनविव का निरूपण करै हैं—

"जिणविवं णाणमयं सजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खय कारणे सुद्धा॥"

जिनविव ज्ञानमय सयमशुद्ध सुवीतराग च।
यत् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षय कारणे शुद्धे॥

वचनिका—जिनविव कैसा है ज्ञानमयी है अर सयम करि शुद्ध है वहुरि अतिशय करि वीतराग है वहुरि जो कर्म का क्षय का कारण अर शुद्ध है ऐसी दीक्षा अर शिक्षा दे है।

भावार्थ—जो जिन कहिए अरहत सर्वज्ञ का प्रतिविव कहिए ताकी जायगा तिस की ज्यौ मानने योग्य होय, ऐसे आचार्य हैं सो दीक्षा कहिए व्रत का ग्रहण अर शिक्षा कहिए व्रत का विधान वतावना ये दोऊ कार्य भव्य जीवनि कूँ दे है, यातै प्रथम तौ सो आचार्य ज्ञानमयी होय जिन सूत्र का जिनकूँ ज्ञान होय ज्ञान विना दीक्षा शिक्षा कैसे होय अर आप सयम करि शुद्ध होय ऐसा न होय तौ अन्य

कू भी सयम शुद्ध न करावै, बहुरि अतिशय करि वीतराग न होय तो कषायसहित होय तव दीक्षा शिक्षा यथार्थ न दे, या तै ऐसे आचार्य कू जिन के प्रतिबिंव जाननें।

आगै फेरि कहै है--

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्ल ।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणा भावो।"

तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वां पूजां च विनयं वात्सल्यम् ।
यस्य च दर्शनं ज्ञान अस्ति ध्रुवं चेतनाभाव.॥

वचनिका---ऐसे पूर्वोक्त जिनबिंब कू प्रणाम करो बहुरि सर्व प्रकार पूजा करो विनय करो वात्सल्य करो, काहे तै--जाकै ध्रुव कहिए निश्चयतै दर्शन ज्ञान पाइए है बहुरि चेतना भाव है।

भावार्थ---दर्शन ज्ञानमयी चेतनाभाव सहित जिनबिंब आचार्य है तिनि कू प्रणामादिक करना, इहा परमार्थ प्रधान कह्या है तहाँ जड़ प्रतिबिंब की गौणता है।

आगै फेरि कहै है--

तव वय गुणेंहि सुद्धो जाणदि पिच्छेहि सुद्धसम्मत्तं ।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य।"

तपोव्रत गुणै शुद्ध जानाति पश्यति शुद्ध सम्यक्त्वम् ।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षा शिक्षाणां च॥

वचनिका---जो तप अर व्रत अर गुण कहिए, उत्तर गुण तिनिकरि-शुद्ध होय बहुरि सम्यग् ज्ञान करि पदार्थनि कू यथार्थ जानै बहुरि सम्यग्दर्शन करि पदार्थनि कू देखै याही तै शुद्ध सम्यक्त्व जाकै ऐसा जिनबिंब आचार्य है सो येही दीक्षा शिक्षा की देने वाली अरहत की मुद्रा है।

भावार्थ---ऐसा जिनबिंब है सो जिनमुद्रा ही है ऐसै जिनबिंब का स्वरूप कह्या है।

यह वचनिका प० जयन्द्र छावडा की है, इससे यह भली-भाति सिद्ध हो जाता है कि चैत्य शब्द साधु और ज्ञान का वाचक भी है, इस स्थान पर उक्त दोनो अर्थ युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं कारण कि आलाप-सलाप आदि चेतन से ही सिद्ध हो सकते हैं न कि जड से। आनन्द ने अन्य कतावलम्बियो के साथ सम्पर्क ने रखने का निश्चय किया, किन्तु जीवन व्यवहार के लिए तथा राजकीय एव सामाजिक अनुरोध की दृष्टि से कुछ छूटे रखी। वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) रायाभिओगेण—(राजाभियोगेन) अभियोग का अर्थ है—बलप्रयोग। यदि राजकीय आज्ञा के कारण विवश होकर अन्य मतावलम्बियो के साथ सभापण आदि करना पडता है, तो उसकी छूट है।

(२) गणाभिओगेण—(गणाभियोगेन) गण का अर्थ है—समाज अथवा व्यापार खेती आदि के लिए परस्पर सहयोग के रूप मे एकत्रित व्यक्तियो का दल। भगवान महावीर के समय लिच्छवि, मल्लि आदि लोकतन्त्रीय शासन भी गण कहलाते थे। इसका अर्थ है—व्यक्ति जिस गण का सदस्य है, उस गण का बहुमत यदि कोई निर्णय करे तो वैयक्तिक मान्यता के विपरीत होने पर भी उसे मानना आवश्यक हो जाता है।

(३) बलाभिओगेण—बल का अर्थ है सेना, उसकी आज्ञा के रूप मे यदि ऐसा करना पडे तो छूट है।

(४) गुरुनिग्गहेण—(गुरुनिग्रहेण) माता-पिता अध्यापक आदि गुरुजनो का आग्रह होने पर भी ऐसा करने की छूट है।

(५) वित्तिकान्तरेण—(वृतिकान्तरेण) वृत्ति का अर्थ है—आजीविका और कान्तार का अर्थ है—कठिनाई, साधारणतया कान्तार शब्द का अर्थ अरण्य या जगल होता है, किन्तु यहाँ इसका अर्थ अभाव या कठिनाई है। आजीविका सम्बन्धी कष्ट आ पडने पर अथवा अभावग्रस्त होने पर ऐसा करने की छूट है। वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

'वित्तिकान्तारेण' त्ति वृत्ति.—जीविका तस्या' कान्तारम्—अरण्यं तदिव कान्तार क्षेत्र कालो वा वृत्तिकान्तार—निर्वाहाभाव इत्यर्थ', तस्मादन्यत्र निषेधो दानप्रणामादेरिति—प्रकृतमिति।

आनन्द ने घर आकर अपनी पत्नी शिवानन्दा से भी भगवान महावीर के पास जाकर व्रत ग्रहण करने का अनुरोध किया, इससे प्रतीत होता है, कि उसकी पत्नी भी एक समझदार गृहिणी थी। आनन्द ने स्वय उपदेश वा आदेश देने के स्थान पर उस को भगवान के पास भेजना उचित समझा जिससे कि उस पर साक्षात्‌रूप से भगवान के त्याग-तपस्या एव ज्ञान का प्रभाव पडे, और वह स्वय समझपूर्वक व्रतो को ग्रहण कर सके।

शिवानन्दा का भगवान के दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तएण सा सिवनंदा भारिया आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ तुट्ठा कोडुम्बियपुरिसे सद्दावइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—"खिप्पामेव लहुकरण" जाव पज्जुवासइ ॥ ५६ ॥

छाया—तत. सा शिवानन्दा भार्या आनन्देन श्रमणोपासकेन एवमुक्ता सती हृष्ट-तुष्टा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वैवमवादीत्—"क्षिप्रमेव लघुकरण" यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर सा—उस सिवनंदा भारिया—शिवानन्दा भार्या ने आणदेणं समणोवासएणं—आनन्द श्रमणोपासक के द्वारा एव वुत्ता समाणा—इस प्रकार कहे जाने पर हट्ठ तुट्ठा—हृष्ट-तुष्ट होकर कोडुम्बियपुरिसे—कौटुम्बिक पुरुषो को सद्दावइ—बुलाया, सद्दावित्ता—और बुलाकर एव वयासी—इस प्रकार कहा कि खिप्पामेव लहुकरण—शीघ्र ही लघुकरण रथ तय्यार करके लाओ, जाव—यावत् उसने भगवान की पज्जुवासइ—पर्युपासना की ।

भावार्थ—आनन्द गाथापति के उत्तम वचन सुनकर, शिवानन्दा अतीव हृष्ट तुष्ट हुई और कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाकर इस प्रकार बोली—कि तुम शीघ्र ही लघुकरण रथ अर्थात् जिसमे शीघ्र चलने वाले बैल जुते हुए हो ऐसे धार्मिक रथ को तैय्यार करके लाओ, मुझे भगवान महावीर के दर्शनार्थ जाना है । इस प्रकार वह भगवान के पास पहुँची और उनकी पर्युपासना की ।

भगवान महावीर द्वारा धर्म प्रवचन—

मूलम्—तएणं समणे भगवं महावीरे सिवनंदाए तीसे य महइ जाव धम्मं कहेइ ॥ ५७ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान महावीरः शिवानन्दायै तस्यां च महत्या यावद् धर्म कथयति ।

शब्दार्थ—तएण—इसके अनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने सिवानंदाए—शिवानदा को और तीसे य महइ—उस महती परिषद् मे उपस्थित अन्य जनता को भी धम्मं—धर्म कहेइ—प्रवचन सुनाया।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान महावीर ने शिवानदा और उस विशाल सभा को धर्मोपदेश दिया।

टीका—जब शिवानन्दा भार्या और महती परिषद् श्री भगवान के समीप उपस्थित हुई तब भगवान ने संवेगनी, निर्वेदनी, आक्षेपणी और विक्षेपणी इन चारो धर्म कथाओ का सविस्तर वर्णन किया।

शिवानन्दा की प्रतिक्रिया—

मूलम्—त एण सा सिवनंदा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ जाव गिहिधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जिता तमेव धम्मिय जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ॥५८॥

छाया—ततः खलु सा शिवानन्दा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्म श्रुत्वा निशम्य हृष्टा यावद् गृहस्थधर्म प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य तदेव धार्मिक-यानप्रवरमारोहति, आरुह्य यस्या एव दिशः प्रादुरभूत् तामेव दिश प्रतिगता।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर सा सिवनन्दाभारिया—वह शिवानन्दा भार्या समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अतिए—पास मे धम्मं—धर्म को सुच्चा—सुनकर, निसम्म—हृदय मे धारण करके, हट्ठ—प्रसन्न हुई जाव—और यावत् उसने गिहिधम्म—गृहस्थ धर्म को पडिवज्जइ—स्वीकार किया तमेव धम्मिय जाणप्पवर—उसी धार्मिक—धर्म कार्यो के लिए निश्चित रथ पर दुरुहइ—सवार हुई, दुरुहित्ता—सवार होकर, जामेव दिसं पाउब्भूया—जिस दिशा से आई थी तामेवदिसं—उसी ओर पडिगया—लौट गई।

भावार्थ—शिवानन्दा श्रमण भगवान महावीर के पास धर्म श्रवण कर एव उसे हृदयगम करके अतीव प्रसन्न हुई। उसने भी यथाविधि गृहस्थधर्म ग्रहण किया।

और उसी धर्म कार्यों के लिए निश्चित रथ पर सवार होकर जिस ओर से आई थी उसी ओर लौट गई ।

टीका—शिवानन्दा भार्या ने श्री भगवान के मुख से धर्मकथा श्रवण की, तत्पश्चात् उसने गृहस्थ धर्म के द्वादश व्रत ग्रहण किए । फिर वह जिस प्रकार आई थी उसी प्रकार धार्मिक रथ पर बैठ कर अपने स्थान पर चली गई । इस कथन से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि शिवानन्दा को पति की आज्ञा पालन करने से धर्म की प्राप्ति हुई। और साथ ही जो सूत्रकर्ता ने "धम्मंसुच्चानिसम्म हट्ठ" इत्यादि पद दिए हैं इनका भाव यह है कि धर्म सुनकर फिर सूक्ष्म बुद्धि से विचार कर, फिर जो हर्ष उसका होता है, वह अकथनीय होता है । कारण कि—धर्म श्रवण से ज्ञान और इससे विज्ञान, तत्पश्चात् प्रत्याख्यान किया जाता है । इस क्रम से किए हुए प्रत्याख्यान से आस्रवो का निरोध हो जाने से संवर द्वारा आत्मविकास हो जाता है ।

गौतमस्वामी का आनन्द के विषय में प्रश्न—

मूलम्—"भंते !" त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—"पहूणं भंते ! आणंदे समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुण्डे जाव पव्वइत्तए ?" "नो तिणट्ठे समट्ठे" गोयमा ! आणंदेणं समणोवासए बहूइं वासाइं समणोवासग परियायं पाउणिहिइ, पाउणित्ता जाव सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहिइ । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थणं आणंदस्सवि समणोवासगस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता" ॥ ५९ ॥

छाया—हे भदन्त ! इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"प्रभुः खलु भदन्त ! आनन्दः श्रमणोपासको देवानुप्रियाणामन्तिके मुण्डो यावत् प्रव्रजितो भवितुम् ?" "नायमर्थः समर्थः," "गौतम ! आनन्दः खलु श्रमणोपासको बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासक पर्यायं पालयिष्यति पालयित्वा यावत् सौधर्मे कल्पे अरुणाभे विमाने देवतया उत्पत्स्यते,

तत्र खलु अस्त्येकेषां देवानां चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, तत्र चाऽऽनन्दस्यापि श्रमणोपासकस्य चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।"

शब्दार्थ—**भगवं गोयमे**—भगवान् गौतम ने **भतेत्ति**—हे भगवन्! इस प्रकार सम्वोधन करते हुए, **समणं भगव महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर को **वंदइ नमंसइ**—वन्दना नमस्कार करके, **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**भते**—हे भगवन्! **आणदे समणोवासए**—क्या आनन्द श्रमणोपासक **देवाणुप्पियाण अंतिए**—देवानुप्रिय के पास मे **मुंडे**—मुण्डित **जाव**—यावत् **पव्वइत्तए**—प्रव्रजित होने मे **पहूणं**—समर्थ है ? **गोयमा**—भगवान् ने उत्तर दिया हे गौतम! **नो तिणट्ठे समट्ठे**—यह अर्थ समर्थ नही है अर्थात् यह सभव नही है, **आणंदे णं समणोवासए**—आनन्द श्रमणोपासक **बहूइं वासाइ**—अनेक वर्षो तक **समणोवासग परियाय**—श्रमणोपासक पर्याय को **पाउणिहिइ**—पालन करेगा **पाउणित्ता**—पालन करके, **जाव**—यावत् **सोहम्मे कप्पे**—सौधर्म कल्प मे **अरुणाभे विमाणे**—अरुणाभ नामक विमान मे **देवत्ताए**—देवता के रूप मे **उववज्जिहिइ**—उत्पन्न होगा, **तत्थणं**—वहा **अत्थेगइयाणं**—वहुत से **देवाणं**—देवो की **चत्तारि पलिओवमाइं**—चार पल्योपम **ठिई**—आयु **पण्णत्ता**—कही गई है। **तत्थणं**—वहाँ **आणंदस्सवि समणोवासगस्स**—आनन्द श्रमणोपासक की भी **चत्तारि पलिओवमाइं**—चार पल्योपम आयु **पण्णत्ता**—है।

भावार्थ—हे भगवन्! इस प्रकार सम्वोधन करते हुए गौतम ने श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार किया और पूछा—हे भगवन्! क्या आनन्द श्रमणोपासक देवानुप्रिय के पास मुण्डित एव प्रव्रजित होने मे समर्थ है ? भगवान् ने उत्तर दिया— हे गौतम! यह सभव नही है। अपितु आनन्द श्रमणोपासक अनेक वर्षो तक श्रावक धर्म का पालन करेगा और अन्त मे सौधर्म देवलोक के अरुणाभ विमान मे उत्पन्न होगा। वहाँ वहुत से देवताओ की चार पल्योपम आयु है, आनन्द की आयु भी चार पल्योपम होगी।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से आनन्द के भविष्य के विषय मे पूछा है। पहला प्रश्न उसके वर्तमान जीवन से सम्वन्ध रखता है, उसमे पूछा गया है—क्या आनन्द श्रावक मुनिव्रत धारण करेगा ? भगवान ने उत्तर

दिया—नहीं—ऐसा नहीं होगा। साथ ही भगवान ने बताया कि वह सौधर्म देव-लोक के अरुणाभ नामक विमान में देवरूप में उत्पन्न होगा और वहाँ उसकी चार पल्योपम आयु होगी। जैन धर्म के अनुसार देवों के चार निकाय (समूह) हैं—

(१) भवनपति—भूमि अन्दर रहने वाले देव।

(२) वाणव्यन्तर—भूमि पर रहने वाले देवता को वाणव्यन्तर कहते हैं।

(३) ज्योतिषि—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा तारालोक में रहने वाले देवता ज्योतिषि कहलाते हैं।

(४) वैमानिक—ऊर्ध्व लोक में रहने वाले देव—इनके २६ भेद हैं। प्रथम देव-लोक का नाम सौधर्म है जहाँ ३२ लाख विमानों का अधिपति शक्रेन्द्र हैं।

देवलोकों का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के द्वितीय पद, भगवती सूत्र तथा देवेन्द्रस्तव आदि से जानना चाहिए।

पल्योपम काल के परिमाण विशेष का नाम है, एक योजन लम्बे, एक योजन चौडे और एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाए उसे पल्योपम कहते हैं। अनुयोग द्वारा सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन है। इसके लिए टिप्पण देखिए।

भगवान् महावीर का प्रस्थान—

मूलम्—तएणं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जाव विरहइ ॥ ६० ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदापि वहिर्यावद् विहरति।

शब्दार्थ—**तएणं**—इसके अनन्तर **समणे भगव महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर **अन्नयाकयाइ**—अन्यदा कदाचित **बहिया**—अन्यत्र विहार कर गए, **जाव**—यावत् धर्मोपदेश करते हुए **विहरइ**—विचरने लगे।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अन्य जनपदों में विहार कर गए और वहाँ धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे।

मूलम्—तए ण से आणंदे समणोवासए जाए अभिगय-जीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ ॥ ६१ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्द. श्रमणोपासको जातोऽभिगतजीवाजीवो यावत् प्रतिलाभयन् विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं —इसके अनन्तर से—वह आणदे—आनन्द अभिगय-जीवाजीवे—जीव और अजीव आदि तत्त्वो को जानने वाला समणोवासए—श्रमणोपासक जाए—हो गया, जाव—यावत् पडिलाभेमाणे—साधु साध्वियो को प्रासुक आहारादि का दान करते हुए विहरइ—जीवन व्यतीत करने लगा ।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वो का ज्ञाता श्रमणोपासक बन गया और साधु-साध्वियो को प्रासुक आहार आदि देते हुए धर्ममय जीवन व्यतीत करने लगा ।

मूलम्—तए णं सा सिवनन्दा भारिया समणोवासिया जाया जाव पडिलाभेमाणी विहरइ ॥ ६२ ॥

छाया—तत· खलु सा शिवानन्दा भार्या श्रमणोपासिका जाता, यावत् प्रतिलाभयन्ती विहरति ।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर सा—वह शिवनन्दा भारिया—शिवानन्दा भार्या भी समणोवासिया जाया—श्रमणोपासिका हो गई जाव—यावत् पडिलाभेमाणी—साधु साध्वियो की आहारादि द्वारा सेवा करती हुई विहरइ—जीवन व्यतीत करने लगी ।

भावार्थ—तदनन्तर शिवानन्द भार्या भी श्रमणोपासिका बन गई और साधु साध्वियो को शुद्ध, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, कम्बल बहराती हुई विचरने लगी ।

आनन्द द्वारा घर से अलग रहकर धर्माराधन का सकल्प और ज्येष्ठ पुत्र को गृह भार सौंपना—

मूलम्—तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स उच्चावएहि-सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणस्स चोद्दस संव-

च्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त-काल-समयंसी धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुपज्जित्था—"एवं खलु अहं वाणियगामे नयरे बहूणं राई-सर जाव सयस्सवि य णं कुडुंबस्स जाव आधारे, तं एएणं वक्खेवेणं अहं नो संचाएमि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। तं सेयं खलु मम कल्लं जाव जलंते विउलं असणं ४, जहा पूरणो, जाव जेट्ठ-पुत्तं कुडुंबे ठवेत्ता, तं मित्त जाव जेट्ठ-पुत्तं च आपुच्छित्ता, कोल्लाए सन्निवेसे नायकुलंसि पोसह-सालं पडिलेहित्ता, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।" एवं संपेहेइ, २ त्ता कल्लं विउलं तहेव जिमिय-भुत्तुत्तरागए तं मित्त जाव विउलेणं पुप्फ ५ सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता तस्सेव मित्त जाव पुरओ जेट्ठ-पुत्तं सद्दावेइ, २ त्ता एवं वयासी —"एवं खलु पुत्ता! अहं वाणियगामे बहूणं राईसर जहा चिंतियं जाव विहरित्तए। तं सेयं खलु मम इदाणिं तुमं सयस्स कुडुम्बस्स आलंबणं ४ ठवेत्ता जाव विहरित्तए" ॥ ६३ ॥

छाया—तत खलु तस्याऽऽ नन्दस्य श्रमणोपासकस्योच्चावचैः शीलव्रतगुणविरमण प्रत्याख्यान पौषधोपवासैरात्मानं भावयतश्चतुर्दश संवत्सराणि व्यतिक्रान्तानि। पञ्चदश सवत्सरमन्तरा वर्त्तमानस्यान्यदा कदापि पूर्वरात्रापरत्र कालसमये धर्मजागरिका जाग्रतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकश्चिन्तितः कल्पितः प्रार्थितो मनोगत. संकल्प. समुदपद्यत—"एवं खल्वह वाणिज्यग्रामे नगरे बहूनां राजेश्वरयावत्स्वकस्यापि च खलु कुटुम्बस्य यावदाधार., तदेतेन व्याक्षेपेणाहं नो शक्नोमि श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकी धर्मप्रज्ञप्तिमुपसपद्य विहर्तुम्, तत् श्रेयः खलु मम कल्ये यावज्ज्वलिति (सति) विपुलमशनं ४ यथा पूरणो यावज्ज्येष्ठ पुत्रं कुटुम्बे स्थापयित्वा तं मित्र यावज्ज्येष्ठपुत्रं चाऽऽपृच्छ्य कोल्लाके सन्निवेशे ज्ञातकुले पौषधशालां प्रतिलिख्य श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यऽऽन्तिकी धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्य विहर्तुम्।" एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य कल्यं विपुल तथैव जिमितभुक्तोत्त रागतस्त मित्र—यावद् विपुलेन पुष्पवस्त्रगन्धमाल्याऽलकारेण च सत्करोति सम्मानयति, सत्यत्कृत्य सम्मान्य, तस्यैव मित्र-यावत् पुरतो ज्ये-

ष्ठपुत्र शब्दायते, शब्दापयित्वा एवमवादीत्—"एवं खलु पुत्र! अह वाणिज्यग्रामे बहूनां राजेश्वर यथाचिन्तित यावद् विहर्तुम्। तत् श्रेय. ममेदानी त्वा स्वकस्य कुटुम्बस्याऽऽलम्बनं ४ स्थापयित्वा यावद् विहर्तुम्।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स**—उस आनन्द श्रमणोपासक को **उच्चावएहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं**—अनेक प्रकार के शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान पौषधोपवास के द्वारा **अप्पाणं भावेमाणस्स**—आत्मा को सस्कारित करते हुए **चोद्दस्स संवच्छाराइ**—चौदह वर्ष **वइक्कताइं**—वीत गए, **पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरावट्टमाणस्स**—पदरहवे वर्ष मे **अन्नया कयाइ**—एक समय **पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि**—पूर्वरात्रि के पश्चात् अर्थात् अन्तिम प्रहर मे **धम्मजागरियं जागरमाणस्स**—धर्म जागरण करते हुए **इमेयारूवे**—इस प्रकार का **अज्झत्थिए**—आध्यात्मिक **चिंतिए**—चिंतित, **कप्पिए**—जिसकी पहिले ही कल्पना की हुई थी, **पत्थिए**—प्रार्थित, **मणोगए संकप्पे**—मनोगत सकल्प **समुप्पज्जित्था**—उत्पन्न हुआ, **एव खलु अहं**—मैं निश्चय ही इस प्रकार **वाणियग्गामे नयरे**—वाणिज्यग्राम नगर मे **बहूणं राईसर-जाव सयस्सवि ण कुडुम्बस्स**—बहुत से राजा ईश्वर यावत् अपने भी कुटुम्ब का **जाव आधारे**—आलम्बन यावत् आधारभूत हूँ, **त एएणं वक्खेवेण**—इस विक्षेप के कारण **अह**—मैं **समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिय**—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के समीप प्राप्त की हुई **धम्मपण्णत्ति**—धर्मप्रज्ञप्ति को **उवसंपज्जित्ताणं**—स्वीकार करके **विहरित्तए**—विचरने मे **नो सचाएमि**—समर्थ नही हूँ, **तं**—अत **सेय खलु**—श्रेय है **ममं**—मुझको **कल्लं जाव जलते**—कल प्रात काल सूर्य के निकलते ही **जहा पूरणो**—पूरण सेठ के समान **विउल**—विपुल **असण**—अशन पान द्वारा मित्र एव परिवारजनो को भोजन कराके **जाव**—यावत् **जेट्ठपुत्तं**—ज्येष्ठ पुत्र को **कुडुम्बे**—कुटुम्ब पर **ठवेत्ता**—स्थापित करके **तं**—और उस **मित्र जाव जेट्ठपुत्र च**—मित्र यावत् ज्येष्ठ पुत्र को **आपुच्छित्ता**—पूछकर **कोल्लाएसन्निवेसे**—कोल्लाक सन्निवेश मे **नाय कुलंसि**—ज्ञात कुल की **पोसहसालं**—पौषधशाला मे **पडिलेहित्ता**—प्रतिलेखन करके **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर के **अंतियं**—पास प्राप्त हुई **धम्मपण्णत्ति**—धर्मप्रज्ञप्ति को **उवसंपजित्ताणं**—स्वीकार करके **विहरित्तए**—विचरना **एव**—इस प्रकार **संपेहेइ**—विचार किया, **संपेहित्ता**—विचार करके **कल्ल**—दूसरे दिन प्रात काल सूर्योदय होने पर **विउल**—

विपुल अशनादि तैयार कराया, तहेव—उसी प्रकार जिमियभुत्तुत्तरागए—सब के भोजन करने के पश्चात् तं मित्त जाव—उस उपस्थित मित्रवर्ग एव परिवार का विउलेण पुप्फ—विपुल पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला, अलकार आदि के द्वारा सक्कारे इसम्माणेइ—सत्कार-सम्मान किया, सक्कारित्ता सम्माणित्ता—सत्कार और सम्मान करके तस्सेव मित्त जाव पुरश्रो—उसी मित्रवर्ग यावत् परिवार के समक्ष जेट्ठपुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र को सद्दावेइ—बुलाया, और सद्दावित्ता—बुलाकर एवं वयासी—इस प्रकार कहा एवं-खलु पुत्ता—हे पुत्र ! इस प्रकार निश्चय ही अहं—मैं वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे राईसर—राजा-ईश्वर आदि का आधारभूत हूँ, अत कार्य व्यग्रता के कारण धर्मक्रिया का अच्छी तरह पालन नही कर सकता। जहा चिंतियं जाव विहरित्तए—जिस प्रकार चिन्तन किया था, अर्थात् मेरे मन मे विचार आया कि—मैं ज्येष्ठ पुत्र को कार्यभार सौपकर एकान्त मे धर्मानुष्ठान करता हुआ विचरूँ। तं सेय खलु ममं—अत मुझे यही श्रेय है, कि इयाणि—अब तुमं—तुम्हे सयस्स कुडुम्बस्स—अपने कुटुम्ब का आलबण—आलवन ठवेत्ता—स्थापित करके जाव विहरित्तए—यावत् धर्म की आराधना करता हुआ जीवन व्यतीत करूँ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक को अनेक प्रकार के शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि के द्वारा अपनी अन्तरात्मा को सस्कारित करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। पद्रहवे वर्ष मे एक दिन पूर्वरात्रि के अपर भाग मे धर्म जागरण करते समय उसके मन मे यह सकल्प उठा कि—मैं वाणिज्य-ग्रम नगर मे अनेक राजा-ईश्वर एव स्वजनो का आधार तथा आलबन भूत हूँ। अनेकानेक कार्यो मे पूछा जाता हूँ। इस विक्षेप के कारण मैं श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास अङ्गीकृत धर्म प्रज्ञप्ति का अच्छी तरह पालन नही कर सकता। अत मेरे लिए यह श्रेय है, कि—कल प्रात काल सूर्योदय होने पर विपुल अशन-पानादि तैयार कराकर मित्र एव परिवारादि को भोजन कराकर पूरण सेठ के समान उन सब के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौप कर मित्रो एव ज्येष्ठ पुत्र को पूछकर कोल्लाक सन्निवेश मे ज्ञातकुल की पौषधशाला का प्रतिलेखन कर श्रमण भगवान महावीर के पास स्वीकृत धर्म प्रज्ञप्ति को यथाविधि पालन करूँ। यह विचार कर दूसरे दिन मित्रवर्ग तथा परिवार को आमन्त्रित किया और पुष्प-वस्त्र, गन्ध, माला और विपुल अशन पानादि के द्वारा उनका सत्कार किया।

तदनन्तर उन सब के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को बुलाया और कहा—पुत्र ! मैं वाणिज्य-ग्राम नगर मे राजा, ईश्वर, आत्मीयजनादि का आधारभूत हूँ। यावत् अनेकानेक कार्यो मे पूछा जाता हूँ। अत व्यस्तता के कारण धर्मप्रज्ञप्ति का सम्यक् पालन नही कर सकता। अत मेरे लिए उचित है कि—मैं अब तुमको कुटुम्ब के पालन पोषणादि का भार सौंप कर एकान्त मे धर्मानुष्ठान करूँ।

"सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं"

टीका—श्रमण भगवान महावीर के पास व्रत ग्रहण करने के पश्चात् आनन्द को चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। इस अवधि मे आत्मविकास के लिए वह अनेक प्रकार के व्रतो का पालन करता रहा। प्रस्तुत पक्ति मे उनका श्रेणी विभाजन किया गया है। सर्वप्रथम शीलव्रत हैं, जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रूप मे पहले बताए जा चुके हैं। इनका मुख्य सम्बन्ध शील अर्थात् सदाचार एव नैतिकता से है। बौद्ध परम्परा मे ये पचशील के रूप मे बताए गए हैं। योगदर्शन मे इन्हे यम के रूप मे प्रतिपादित किया गया है और अष्टागयोग की भूमिका माना गया है। इनके पश्चात् तीन गुणव्रत हैं जो शीलव्रतो के पोषक हैं, तथा जीवन मे अनुशासन पैदा करते हैं। तत्पश्चात् सामायिक आदि चार शिक्षाव्रत हैं, जो आत्मचिन्तन के लिए दैनन्दिन कर्त्तव्य के रूप मे बताए गए हैं। पौषधोपवास तपस्या का उपलक्षण है, इसका अर्थ है—आनन्द शास्त्रो मे प्रतिपादित अनेक प्रकार की तपस्याएँ करता रहा। परिणामत उत्तरोत्तर जीवनशुद्धि होती गई और आत्मा मे दृढता आती गई। साधना मे उत्साह बढता गया और एक दिन मध्य रात्रि के समय धर्मचिन्तन करते हुए उसके मन मे आया कि अब मुझे गृह कार्यो से निवृत्त होकर एकान्त मे रहते हुए सारा समय आत्म साधना मे लगाना चाहिए। दूसरे दिन उसने अपने परिवार तथा जाति बन्धुओ को आमन्त्रित किया। भोजन, वस्त्र, पुष्प, माला आदि के द्वारा उनका सम्मान किया और उनकी उपस्थिति मे ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौपने के भाव प्रकट किए।

आनन्द वाणिज्य ग्राम के राजा-ईश्वर सेनापति आदि समस्त प्रतिष्ठित व्यक्तियो का सम्मान पात्र था। विविध प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर वे

उससे परामर्श लिया करते थे। परन्तु, उसने इन सब बातो को आत्मसाधना मे विक्षेप माना और पौषधशाला मे जाकर रहने की इच्छा व्यक्त की।

ज्येष्ठ पुत्र द्वारा आनन्द की आज्ञा का स्वीकार—

मूलम्—**तए णं जेट्ठे-पुत्ते आणंदस्स समणोवासयस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएण पडिसुणेइ ॥ ६४ ॥**

छाया—तत. खलु ज्येष्ठपुत्र आनन्दस्य श्रमणोपासकस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिश्रृणोति।

शब्दार्थ—**तए ण**—इसके अनन्तर **जेट्ठपुत्ते**—ज्येष्ठ पुत्र ने **आणदस्स समणोवासयस्स**—आनन्द श्रमणोपासक के **एयमट्ठ**—इस अभिप्राय को **तहत्ति**—तथेति अर्थात् जैसा आपकी आज्ञा हो, यह कहते हुए **विणएण**—विनयपूर्वक **पडिसुणेइ**—स्वीकार किया।

भावार्थ—तदनन्तर ज्येष्ठ पुत्र ने आनन्द श्रमणोपासक के उक्त कथन को 'तथास्तु' कहते हुए अत्यन्त विनय के साथ स्वीकार किया।

मूलम्—**तए णं से आणंदे, समणोवासए तस्सेव मित्त जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुम्बे ठवेइ, ठवित्ता एवं वयासी—"मा णं, देवानुप्पिया ! तुब्भे अज्जप्पभिइं केइ ममं बहुसु कज्जेसु जाव आपुच्छउ वा, पडिपुच्छउ वा, ममं अट्ठाए असणं वा उवक्खडेउ वा उवकरेउ वा" ॥ ६५ ॥**

छाया—तत. खलु स आनन्दः श्रमणोपासक.—तस्यैवमित्र—यावत्पुरतो ज्येष्ठपुत्रं कुटुम्बे स्थापयति, स्थापयित्वा एवमवादीत्—मा खलु देवानुप्रिया ! यूयमद्यप्रभृति केऽपि मम बहुषु कार्येषु यावत् आपृच्छतु वा, प्रतिपृच्छतु वा, ममार्थाय अशनं वा ४ उपस्कुरुत वा उपकुरुत वा।

शब्दार्थ—**तएणं से आणदे समणोवासए**—तत्पश्चात् उस आनन्द श्रमणोपासक ने **तस्सेव मित्त जाव पुरओ**—मित्र जातिबन्धु आदि के समक्ष **जेट्ठपुत्त**—ज्येष्ठ पुत्र को

कुडुम्बे—कुटुम्ब पर ठवेइ—स्थापित किया। ठवित्ता—स्थापित करके एव वयासी—इस प्रकार कहा—देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रियो! अज्जप्पभिइं—आज से तुब्भे—तुम केई—कोई भी मम—मुझको बहुसु कज्जेसु—विविध कार्यो के सम्बन्ध मे मा—मत आपुच्छउ वा—पूछना और नाही पडिपुच्छउ वा—परामर्श करना, मम अट्ठाए—और मेरे लिए असणं वा४—अशन पानादि उवक्खडेउ वा—तैयार मत करना और न उवकरेउ वा—मेरे पास लाना।

टीका—प्रस्तुत पाठ मे आनन्द ने दो बातो की मनाही की है, पहली बात है—हे देवानुप्रियो! अब मुझे गृहव्यवस्था सम्बन्धी किसी भी कार्य मे मत पूछना, इस प्रकार उसने गृहस्थ सम्बन्धि जीवनचर्या से अपना हाथ खीच लिया। दूसरी बात है अब मेरे लिए अशन-पान आदि भोजन सामग्री न तैयार करना और न मेरे पास लाना। इससे प्रतीत होता है आनन्द अन्तिम समय मे निरारम्भ भोजनचर्या पर रहने लगा था, यद्यपि उसने मुनिव्रत नही लिया परन्तु उसके निकट अवश्य पहुँच गया था।

आनन्द का निष्क्रमण—

मूलम्—तए णं से आणदे समणोवासए जेट्ठ-पुत्तं मित्त-नाइं आपुच्छइ, २ त्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, २ त्ता वाणियगामं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, २ त्ता जेणेव कोल्लाए-सन्निवेसे, जेणेव नायकुले जेणेव पोसह-साला, तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता पोसहसालं पमज्जइ, २ त्ता उच्चार-पासवण-भूमिं पडिलेहेइ, २ त्ता दब्भ-संथारयं संथरइ, संथरित्ता दब्भ-संथारयं दुरुहइ, २ त्ता पोसहसालाए पोसहिए दब्भ-सथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ ६६ ॥

छाया—तत. खलु स आनन्द. श्रमणोपासको ज्येष्ठपुत्र मित्रज्ञातिमापृच्छति, आपृच्छ्य स्वकाद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य वाणिज्यग्राम नगर मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनेव कोल्लाक. सन्निवेश, येनैव ज्ञातकुलं, येनैवपौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य पौषधशाला प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योच्चारप्रस्रवण भूमिं प्रतिलिखति, प्रतिलिख्य दर्भसंस्तारक संस्तृणाति, सस्तीर्य दर्भसस्तारकं दूरोहति,

द्रुह्य पौषधशालायां पौषधिको दर्भसंस्तारोपगत श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽन्तिकी धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्य विहरति ।

शब्दार्थ—**तएण**—इसके अनन्तर **से**—उस **आणंदे समणोवासए**—आनन्द श्रमणोपासक ने **जेट्ठपुत्त मित्तणाइं**—ज्येष्ठ पुत्र तथा मित्रो एव ज्ञातिजनो को **आपुच्छइ**—पूछा, **आपुच्छित्ता**—पूछकर **सयाओ गिहाओ**—वह अपने घर से **पडिणिक्खमइ**—निकला, **पडिणिक्खमित्ता**—निकलकर **वाणियगामं नयरं**—वाणिज्य ग्राम नगर के **मज्झं मज्झेण**—बीचोबीच **निग्गच्छइ**—निकला, **निग्गच्छित्ता**—निकलकर **जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे**—जहाँ कोल्लाक सन्निवेश था, **जेणेव नायकुले**—जहाँ ज्ञात कुल था, **जेणेव पोसहसाला**—और जहाँ पौषधशाला थी, **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आया, **उवागच्छित्ता**—आकर **पोसहसालं**—पौषधशाला को **पमज्जइ**—पूँजा अर्थात् साफ किया, **पमज्जित्ता**—पूँछकर **उच्चारपासवण भूमि**—उच्चार प्रस्रवण अर्थात् शौच तथा पेशाव करने की भूमि की **पडिलेहेइ**—प्रतिलेखना की, **पडिलेहित्ता**—प्रतिलेखना करके **दब्भसथारय**—डाभ का बिछौना **सथरइ**—बिछाया, **संथरित्ता**—बिछाकर, **दब्भसथारय**—डाभ के बिछौने पर **दुरुहइ**—बैठा, **दुरुहित्ता**—बैठकर **पोसहसालाए**—पौषधशाला मे **पोसहिए**—पौषधिक होकर **दब्भ-संथारोवगए**—डाभ के बिछौने पर बैठकर **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान यहावीर के **अतिए**—पास की **धम्मपण्णत्ति**—धर्मप्रज्ञप्ति को **उवसपज्जित्ताण**—स्वीकार करके **विहरइ**—रहने लगा ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक ने बडे पुत्र तथा मित्र ज्ञातिजन की अनुमति ली और अपने घर से निकला, वाणिज्यग्राम नगर के बीच होता हुआ, जहाँ कोल्लाक सन्निवेश था जहाँ ज्ञातकुल तथा ज्ञातकुल की पौषधशाला थी वहाँ पहुँचा । पौषधशाला का परिमार्जन करके उच्चार प्रस्रवण (शौच तथा लघुनीत) भूमि की प्रतिलेखना की । तत्पश्चात् दर्भासन पर बैठकर पौषध अङ्गीकार करके भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मदर्शन का अनुष्ठान करने लगा ।

टीका—पुत्र को घर का भार सौपकर तथा जाति बन्धुओ से बिदा लेकर आनन्द श्रमणोपासक कोल्लाक सन्निवेश मे पहुँचा और पौषधशाला मे पौषधव्रत स्वीकार करके धर्मचिन्तन मे लीन हो गया । प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है, कि वह भगवान् महावीर द्वारा आदिष्ट धर्मप्रज्ञप्ति का आराधन करने लगा, यही धर्म प्रज्ञप्ति मोक्ष

मार्ग के रूप मे प्रतिपादित की गई है जिसके तीन अग है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र। उत्तराध्ययन सूत्र मे चारित्र के साथ तप का भी उल्लेख है, वास्तव में देखा जाय तो वह चारित्र का ही अग है। पाप जनक प्रवृत्तियो के निरोधरूप चारित्र को शास्त्रो मे सयम शब्द से निर्दिष्ट किया गया है और पूर्वसचित कर्मो एव वैकारिक संस्कारो को दूर करने के लिए जिस चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है उसे तप कहते हैं। कर्म निरोध की दृष्टि से सयम का दूसरा नाम सवर है। तप सवररूप भी है, और निर्जरारूप भी। कर्म निरोध की दृष्टि मे वह सवर और कर्मक्षय की दृष्टि से वही निर्जरा भी है।

प्रतीत होता है कोल्लाक सन्निवेश मे आनन्द का जातिवर्ग रहता था वह उनके घर से आहार आदि लेकर जीवन यापन करने लगा। श्रावक की ग्यारहवी प्रतिमा मे इसी का विधान किया गया है अर्थात् कुछ समय प्रतिमाधारी को स्वजातीयवर्ग के घरो से भिक्षा लेकर निर्वाह करना चाहिए।

आनन्द द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—**तए ण से आणदे समणोवासए उवासग-पडिमाओ उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। पढमं उवासग पडिमं अहा-सुत्तं अहा-कप्पं अहा-मग्गं अहा-तच्चं सम्मं काएणं फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, किट्टेइ, आराहेइ ॥ ६७ ॥**

छाया—तत. खलु स आनन्द श्रमणोपासक उपासक-प्रतिमा उपसंपद्य विहरति, प्रथमामुपासकप्रतिमां यथासूत्र, यथाकल्प यथामार्ग, यथातत्त्वं सम्यक् कायेन स्पृशति, पालयति, शोधयति, तीरयति, कीर्तयति, आराधयति।

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **से**—वह **आणदे समणोवासए**—आनन्द श्रमणोपासक **उवासगपडिमाओ**—उपासक प्रतिमाओ को **उवसंपज्जित्ताणं**—स्वीकार करके **विहरइ**—विचरने लगा, **पढम**—प्रथम **उवासग पडिमं**—उपासक प्रतिमा को **अहासुत्त**—सूत्र के अनुसार, **अहाकप्प**—कल्प के अनुसार, **अहामग्गं**—मार्ग के अनुसार, **अहातच्चं**—यथार्थ तत्त्व के अनुसार, **सम्म**—सम्यक् रूप मे, **काएणं**—काया के द्वारा **फासेइ**—स्वीकार किया, **पालेइ**—पालन किया, **सोहेइ**—निरतिचार शोधन किया, **तीरेइ**—

आद्यन्त अच्छी तरह पूर्ण किया, किट्टेइ—कीर्तन किया अर्थात् अगीकृत प्रतिमा का अभिनन्दन किया।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक उपासकप्रतिमाएँ स्वीकार करके विचरने लगा। उसने प्रथम उपासक प्रतिमा को यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातथ्य शरीर के द्वारा स्वीकार किया, पालन किया, शोधन किया, कीर्तन किया तथा आराधन किया।

टीका—साधुओ की उपासना—सेवा करने वाला उपासक कहलाता है। अभिग्रह विशेष को पडिमा—प्रतिज्ञा कहते हैं। उपासक—श्रावक का अभिग्रहविशेष प्रतिज्ञा, उपासक पडिमा कहलाती है।

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासग-पडिम, एवं तच्चं, चउत्थं, पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दसमं एक्कारसमं। जाव आराहेइ ॥ ६८ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको द्वितीयामुपासकप्रतिमाम्, एवं तृतीयां, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठीं, सप्तमीं, अष्टमी, नवमीं, दशमी, एकादशीं, यावदाराहयति।

शब्दार्थ—**तएणं**—तदनन्तर **से**—उस **आणंदे समणोवासए**—आनन्द श्रावक ने **दोच्चं उवासगपडिमं**—दूसरी उपासक प्रतिमा **एवं**—इसी प्रकार **तच्चं**—तीसरी, **चउत्थं**—चौथी, **पंचमं**—पाँचवी, **छट्ठं**—छट्ठी, **सत्तम**—सातवी, **अट्ठमं**—आठवी, **नवम**—नवी, **दसमं**—दसवी, **एक्कारसमं**—ग्यारवी का **जाव**—यावत् **आराहेइ**—आराधन किया।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक ने दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी, छटी, सातवी, आठवी, नौवी, दसवी और ग्यारहवी उपासकप्रतिमा का आराधन किया।

टीका—उपरोक्त दो सूत्रो मे आनन्द द्वारा प्रतिमा ग्रहण का वर्णन है। प्रतिमा एक प्रकार का व्रत या अभिग्रह है, जहाँ आत्मशुद्धि के लिए धार्मिक क्रियाओ का

विशेष रूप से अनुष्ठान किया जाता है, प्रत्येक प्रतिमा मे किसी एक क्रिया को लक्ष्य मे रख कर सारा समय उसी के चिन्तन, मनन, अनुष्ठान एव आत्मसात् करने मे लगाया जाता है। प्रतिमाएँ ग्यारह हैं। उनका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है—

(१) **दर्शन प्रतिमा**—दर्शन का अर्थ है श्रद्धा या दृष्टि। आत्मविकास के लिए सर्वप्रथम दृष्टि का ठीक होना आवश्यक है। दर्शनप्रतिमा का अर्थ है—वीतराग देव, पाँच महाव्रतधारी गुरु तथा वीतराग के बताए हुए मार्ग पर दृढ विश्वास। उन्ही का चिन्तन, मनन एव अनुष्ठान। शास्त्रो मे इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार बताया गया है—

सङ्कादि सल्ल विरहिय सम्मद्दसणजुओ उ जो जन्तू।
सेसगुण विप्पमुक्को एसा खलुहोइ पढमा उ॥

शङ्कादि शल्यविरहित सम्यग्दर्शनयुक्तस्तु यो जन्तु।
शेषगुण विप्रमुक्त एषा खलु भवति प्रथमा॥

अर्थात् चारित्रादि शेप गुण न होने पर भी सम्यग्दर्शन का शका, काक्षा, आदि दोषो से रहित होकर सम्यक्तया पालन करना पहली अर्थात् दर्शन प्रतिमा है। इस प्रतिमा मे श्रमणोपासक 'रायाभियोगेण' आदि आगारो रहित सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करता है अर्थात् क्रियावादी, अक्रियावादी, नास्तिक आदि वादियो के मतो को भली प्रकार जानकर विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करता है। इस पडिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

(२) **व्रत प्रतिमा**—दर्शन के पश्चात् दूसरी व्रत प्रतिमा है, सम्यग्दृष्टि जीव जब अणुव्रतो का निर्दोप पालन करता है तो उसे व्रतप्रतिमा कहा जाता है। पहली प्रतिमा का आराधक पुरुप शुद्ध सम्यक्त्व वाला होता हे। दूसरी में वह चारित्र शुद्धि की ओर झुक कर कर्मक्षय का प्रयत्न करता है। वह पाँच अणुव्रत और तीन गुण-व्रतो को धारण करता है। चार शिक्षा व्रतो को भी अङ्गीकार करता है किन्तु सामायिक और देशावकाशिक व्रतो का यथा समय सम्यक् पालन नही करता। इस पडिमा का समय दो मास है।

दंसणपडिमा जुत्तो पालेन्तोऽणुव्वए निरइयारे।
अणुकम्पाइगुण जुओ जीवो इह होइ वयपडिमा॥

दर्शनप्रतिमायुक्त, पालयन् अणुव्रतानि निरतिचाराणि ।
अनुकम्पादिगुणयुतो जीवइह भवति व्रतप्रतिमा ।।

(३) **सामायिक प्रतिमा**—सम्यग्दर्शन और अणुव्रत स्वीकार करने के पश्चात् प्रतिदिन तीन बार सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है। तीसरी पडिमा मे सर्व-धर्म विषयक रुचि रहती है। वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास धारण करता है। सामायिक और देशवाशिक की आराधना भी उचित रीति से करता है, किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्व दिनो मे पौपोधोपवास व्रत की सम्यग् आराधना नही कर सकता। इस पडिमा का समय तीन मास का है।

वरदसणवयजुतो सामाइय कुणइ जो उ तिसञ्झासु ।
उक्कोसेण तिमासं एसा सामाइयप्पडिमा ।।

वरदर्शनव्रत युक्त. सामायिकं करोति यस्तु त्रिसध्यासु ।
उत्कृष्टेन त्रीन् मासान् एषा सामायिक प्रतिमा ।।

(४) **पौषध प्रतिमा**—पूर्वोक्त तीन प्रतिमाओ के साथ जो व्यक्ति अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियो पर प्रतिपूर्ण पौषधव्रत की पूर्णतया आराधना करता है, यह पौषध प्रतिमा है। इस पडिमा की अवधि चार मास की होती है।

पुव्वोदियपडिमा जुओ पालइ जो पोसहं तु सम्पुण्णं ।
अट्ठमि चउद्दसाइसु चउरो मासे चउत्थी सा ।।

पूर्वोदित प्रतिमायुत पालयति य पौषध तु संपूर्णम् ।
अष्टमी चतुर्दश्यादिषु चतुरो मासान् चतुर्थ्येषा ।।

(५) **कायोत्सर्ग प्रतिमा**—कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर का त्याग अर्थात् कुछ समय के लिए शरीर वस्त्र आदि का ध्यान छोडकर मन को आत्मचिन्तन मे लगाना, इस प्रकार रात भर ध्यान का अनुष्ठान करना कायोत्सर्ग प्रतिमा है। इसकी अवधि पाँच मास है। दिगम्बर परम्परा मे इसके स्थान पर सचित्त त्याग प्रतिमा है।

सम्ममणुव्वयगुणवयसिक्खावयवं थिरो य नाणी य ।
अट्ठमिचउद्दसीसु पडिमं ठाएगराईय ।।

असिणाण वियडभोई मउलिकडो दिवसबम्भयारी य ।
राइ परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु ।।
झायइ पडिमाए ठिओ, तिलोयपुज्जे जिणे जिएकसाए ।
नियदोस पच्चणीय अण्ण वा पञ्च जा मासा ।।

सम्यक्त्वाणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतवान् स्थिरश्च ज्ञानी च ।
अष्टमी चतुर्दश्यो' प्रतिमा तिष्ठत्येकरात्रिकीम् ।।
अस्नानो दिवसभोजी मुत्कलकच्छो दिवस ब्रह्मचारी च ।
रात्रौकृतपरिमाण. प्रतिमा वर्जेषु दिवसेषु ।।
ध्यायति प्रतिमया स्थित त्रैलोक्यपूज्यान् जिनान् जितकषायान् ।
निजदोषप्रत्यनीकमन्यद्वा पञ्च यावन्मासाम् ।।

अर्थात् सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा गुणव्रतो का धारक अष्टमी या चतुर्दशी के दिन-रात भर कायोत्सर्ग करता है । अथवा सासारिक प्रवृत्तियो को त्याग कर सारी रात आत्मचिन्तन मे व्यतीत करता है, इसी को कायोत्सर्ग प्रतिमा कहते हैं । यह प्रतिमा कम से कम एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पाँच मास तक की होती है । इस प्रतिमा मे रात्रि भोजन का परित्याग तथा दिन मे ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया जाता है और रात्रि का परिमाण किया जाता है । धोती की लाग नही लगाई जाती ।

(६) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—पूर्वोक्त पाँच प्रतिमाओ के आराधन के पश्चात् छठी पडिमा मे सर्वधर्म रुचि होती है । वह पूर्वोक्त सर्व व्रतो का सम्यक् रूप से पालन करता है और ब्रह्मचर्य प्रतिमा को स्वीकार करता है। इसमे पूर्ण ब्रह्मचर्य का विधान हैं । स्त्रियो से अनावश्यक वार्तालाप, उनके शृङ्गार तथा चेष्टाओ को देखना आदि वर्जित हैं, किन्तु वह सचित्त आहार का त्याग नही करता अर्थात् औषध सेवन के समय या अन्य किसी कारण वह सचित्त को भी सेवन कर लेता है । इसकी अवधि छह मास है । दिगम्बर परम्परा मे इसे रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा या दिवामैथुन त्याग प्रतिमा कहते हें ।

पुव्वोदिय गुणजुत्तो विसेसओ, विजिय मोहणिज्जो य ।
वज्जइ अबंभमेगतओ य, राइं पि थिर चित्तो ।।

सिङ्गारकहा विरओ इत्थीए समं रहम्मि नो ठाइ ।
चयइ य अइप्पसङ्ग, तहा विभूसं च उक्कोसं ।।
एवं जा छम्मासा एसोऽहिगओ उ इयरहा दिट्ठं ।
जावज्जीवं पि इमं, वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ।।

पूर्वोदित गुणयुक्तो विशेषतो विजितमोहनीयश्च ।
वर्जयत्यब्रह्मैकान्ततस्तु रात्रावपि स्थिरचित्त. ।।
शृङ्गारकथाविरत स्त्रिया समं रहसि न तिष्ठति ।
त्यजति चाति प्रसङ्ग तथा विभूषां चोत्कृष्टाम् ।।
एव यावत् षण्मासान् एषोऽधिकृतस्तु इतरथा दृष्टम् ।
यावज्जीवमपीद वर्जयति एतस्मिन् लोके ।।

अर्थात् पूर्वोक्त गुणो से युक्त जो व्यक्ति मोहनीयकर्म पर विजय प्राप्त कर लेता है, रात्रि को भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा स्त्रियो से सलापादि नही करता । शृङ्गारयुक्त वेषभूषा नही करता । इस प्रकार ६ मास तक रहना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। इस प्रतिमा की अवधि कम से कम एक, दो या तीन दिन है और उत्कृष्ट छ मास है । यावज्जीवन भी ब्रह्मचर्य को धारण कर सकता है ।

(७) **सचित्ताहारवर्जन प्रतिमा**—सातवी पडिमा मे सर्वधर्म विषयक रुचि होती है। इसमे उपरोक्त सब नियमो का पालन किया जाता है । इस पडिमा का धारक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है और सचित्त आहार का सर्वथा त्याग कर देता है, किन्तु आरम्भ का त्याग नही करता । इसकी उत्कृष्ट काल मर्यादा सात मास है । दिगबर परम्परा मे सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमा है ।

सच्चित्तं आहार वज्जइ असणाइय निरवसेसं ।
सेसवय समाउत्तो जा मासा सत्त विहिपुव्वं ।।

सचित्तमाहार वर्जयति अशनादिकं निरवशेषम् ।
शेषपदसमायुक्तो यावन्मासान् सप्त विधि पूर्वम् ।।

(८) **स्वयं आरम्भवर्जन प्रतिमा**—इस प्रतिमा का धारक उपरोक्त सभी नियमो का पालन करता है । सचित्त आहार का त्याग करता है । स्वय किसी प्रकार का आरम्भ अथवा हिंसा नही करता । इसमे आजीविका अथवा निर्वाह के लिए

दूसरे से कराने का त्याग नही होता। काल मर्यादा कम से कम एक दिन, दो दिन या तीन दिन उत्कृष्ट ८ मास है।

वज्जइ सयमारम्भं सावज्जं कारवेइ पेसेहिं।
वित्तिनिमित्तं पुव्वय गुणजुत्तो अट्ठ जा मासा ।।

वर्जयति स्वयमारम्भं सावद्य कारयति प्रेष्यैः।
वृत्तिनिमित्त पूर्वगुणयुक्तोऽष्ट यावन्मासान् ।।

(९) भृतकप्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा—नवमी पडिमा को धारण करने वाला उपासक उपरोक्त सब नियमो का यथावत् पालन करता है। आरम्भ का भी परित्याग कर देता है किन्तु उद्दिष्ट भक्त का परित्याग नही करता अर्थात् जो भोजन उसके निमित्त बनाया गया है वह उसे ग्रहण कर लेता है। वह स्वय आरम्भ नही करता न दूसरो से कराता है किन्तु अनुमति देने का उसका त्याग नही होता। इस प्रतिमा का कालमात्र कम से कम एक, दो या तीन दिन है और अधिक से अधिक ९ मास है।

पेसेहिं आरम्भं सावज्जं कारवेइ नो गुरुयं।
पुव्वोइयगुणजुत्तो नव मासा जाव विहिणाउ ।।

प्रेष्यैरारम्भ सावद्य कारयति नो गुरुकम्।
पूर्वोदित गुणयुक्तो नव मासान् यावद्विधिनैव ।।

(१०) उद्दिष्टभक्तवर्जन प्रतिमा—इस प्रतिमा मे उपासक अपने निमित्त से बने हुए भोजन का भी परित्याग कर देता है अर्थात् ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नही करता जो उसके लिए बनाई या तय्यार की गई हो। सासारिक कार्यो के विषय मे कोई बात पूछने पर इतना ही उत्तर देता है कि 'मैं इसे जानता हूँ या नही जानता।' इसके अतिरिक्त प्रवृत्ति विषयक कोई आज्ञा, आदेश या परामर्श नही देता। सिर को उस्तरे से मुंडाता है। कोई कोई शिखा रखता है। इसकी कालमर्यादा कम से कम एक, दो या तीन दिन उत्कृष्ट दस मास है।

उद्दिट्ठकडं भत्तपि वज्जए किमुय सेसमारम्भ।
सो होई उ खुरमुण्डो, सिहलि वा धारए कोइ ।।

दव्व पुट्ठो जाण जाणे इइ वयइ नो य नो वेति ।
पुव्वोदिय गुणजुत्तो दस मासा कालमाणेणं ।।

उद्दिष्टकृत भक्तमपि वर्जयति किमुत शेषमारम्भम् ।
स भवति तु क्षुरमुण्ड शिखा वा धारयति कोऽपि ।।
द्रव्य पृष्टो जानन् जानामीति नो वा नैवेति ।
पूर्वोदित गुणयुक्तो दश मासान् कालमानेन ।।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा—ग्यारहवी पडिमाधारी सर्वधर्म विषयक रुचि रखता है। उपरोक्त सभी नियमो का पालन करता है। सिर के बालो को उस्तरे (क्षुर) से मुण्डवा देता है, शक्ति होने पर लुञ्चन कर सकता है। साधु जैसा वेष धारण करता है। साधु के योग्य भण्डोपकरण आदि उपधि धारण कर श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए प्रतिपादित धर्म का निरतिचार पालन करता हुआ विचरे। ग्यारहवी पडिमाधारी की सारी क्रियाएँ साधु के समान होती हैं अत प्रत्येक क्रिया मे यतनापूर्वक प्रवृत्ति करे। साधु के समान ही गोचरी से जीवन निर्वाह करे किन्तु इतना विशेष है कि उस उपासक का अपने सम्बन्धियो से सर्वथा राग नही छूटता है, इस लिए वह उन्ही के घरो मे गोचरी लेने जाता है।

इस प्रतिमा का कालमान जघन्य एक, दो, तीन दिन है उत्कृष्ट ११ मास है। अर्थात् यदि ग्यारह महीने से पहले ही प्रतिमाधारी श्रावक की मृत्यु हो जाए या दीक्षित हो जाए तो जघन्य या मध्यम काल ही उसकी अवधि है। यदि दोनो मे से कुछ भी न हो तो उपरोक्त सब नियमो के साथ ग्यारह महीने तक इस पडिमा का पालन किया जाता है।

सब पडिमाओ का समय मिलाकर साढे पाँच वर्ष होता है।

खुरमुण्डो लोएण व रयहरण ओग्गह च घेत्तूण ।
समणब्भूओ विहरइ धम्म काएण फासेन्तो ।।
एव उक्कोसेणं एक्कारसमास जाव विहरेइ ।
एक्काहाइपरेण एव सव्वत्थ पाएणं ।।

क्षुरमुण्डो लोचेन वा रजोहरणमवग्रह च गृहीत्वा ।
श्रमणभूतो विहरति धर्म कायेन स्पृशन् ।।

एवत्मुकृष्टेनैकादश मासान् यावद् विहरति ।
एकाहादे· परत· एव सर्वत्र प्रायेण ।।

उपरोक्त पाठ मे प्रतिमाओ के पालन के लिए तीन पद दिए हैं—'अहासुत्तं' 'अहाकप्पं तथा 'अहामग्गं' 'अहासुत्त' का अर्थ है शास्त्र मे उनका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुसार । 'अहाकप्प' का अर्थ है कल्प अर्थात् श्रावक की मर्यादा के अनुसार । 'अहामग्ग' का अर्थ है मार्ग अर्थात् क्षायोपशमिक स्थिति के अनुसार । ग्यारह प्रतिमाओ मे श्रावक धर्म का प्रारम्भ से लेकर उच्चतम रूप मिलता है । इनका प्रारम्भ सम्यक् दर्शन से होता है और अन्त ग्यारहवी श्रमणभूत प्रतिमा के साथ । तत्पश्चात् मुनिव्रत है । श्रावक की मर्यादा यही समाप्त हो जाती है ।

आनन्द श्रमणोपासक ने उपरोक्त ग्यारह प्रतिमाओ का विधिविधान के अनुसार शास्त्रोक्त रीति से भली प्रकार आराधन किया ।*

आनन्द का तपश्चरण और शरीर शोषण—

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए इमेणं एयारूवेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं तवो-कम्मेणं सुक्के जाव किसे धमणिसंतए जाए ।। ६९ ।।

छाया—ततः खलु स आनन्द· श्रमणोपासकोऽनेनैतद्रूपेणोदारेण विपुलेन प्रत्यनेन प्रगृहीतेन तपः कर्मणा शुष्को यावत्कृशो धमनिसंततो जात ।

शब्दार्थ—तए ण–तत्पश्चात् स—वह आणदे समणोवासए—आनन्द श्रमणोपासक इमेण—इस यएारूवेणं—एतत्स्वरूप उरालेण—उदार, विउलेण–विपुल पग्गहिएणं–स्वीकृत पयत्तेणं–प्रयत्न तथा तवोकम्मेण–तप कर्म से सुक्के—शुष्क जाव—यावत् किसे—कृश धमणिसंतए—उभरी हुई नाडियो से व्याप्त सा जाए–हो गया ।

---

*ऊपर ग्यारह प्रतिमाओ का सक्षिप्त वर्णन किया गया है । विशेष ज्ञान के लिए मेरे द्वारा विरचित दशाश्रुतस्कन्ध की "गणपतिगुणप्रकाशिका" नामक भाषा टीका मे छठी दशा का अनुशीलन करना चाहिए—व्याख्याकार ।

भावार्थ—इस प्रकार के कष्टकर एव विपुल श्रम तथा तप के ग्रहण करने के कारण आनन्द का शरीर सूख गया, उसकी नसे दिखाई देने लगी।

आनन्द द्वारा मरणातिक संल्लेखना का निश्चय—

मूलम्—तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्ता० जाव धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए ५ "एवं खलु अहं- इमेणं जाव धमणिसतए जाए। तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार परक्कमे सद्धा धिइ सवेगे। तं जाव ता मे अत्थि उट्ठाणे सद्धा धिइ संवेगे, जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ता मे सेयं कल्लं जाव जलते अपच्छिममारणं- तियसंलेहणा झूसणाझूसियस्स, भत्तपाणपडियाइक्खियस्स कालं अणवकङ्खमा- णस्स विहरित्तए।" एवं संपेहेइ, २ त्ता कल्लं पाउ जाव अपच्छिममारणं- तिय जाव कालं अणवकंङ्खमाणे विहरइ॥ ७०॥

छाया—ततः खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्यान्यदा कदाचित् पूर्वरात्रौ यावद्धर्म जागरिकां जाग्रतोऽयमाध्यात्मिकः५ "एवं खल्वहमनेन यावद्धमनिसन्ततो जात.। तदस्ति तावन्मे उत्थानं कर्म, बलं, वीर्य, पुरुषकारपराक्रमः, श्रद्धा, धृति', संवेगः, यावच्च मे धर्माचार्यो धर्मोपदेशक' श्रमणो भगवान् महावीरो जिनः सुहस्ती विहरति, तावन्मे श्रेय कल्यं यावज्ज्वलति अपश्चिममारणान्तिक संलेखना जोषणा जूषितस्य भक्तपानप्रत्याख्यातस्य कालमनवकांक्षतो विहर्तु म्, एवं संप्रेक्षते, सप्रेक्ष्य कल्य प्रादुर्यावदपश्चिममारणान्तिक यावात्कालमनवकाक्षन् विहरति।

शब्दार्थ—**तए णं**—इसके अनन्तर **तस्स**—उस **आणंदस्स समणोवासयस्स**—आनन्द श्रमणोपासक को **अन्नया कयाइ**—एक दिन **पुव्वरत्ता०**—पूर्वरात्रि के अपर भाग मे **जाव**—यावत् **धम्मजागरियं जागरमाणस्स**—धर्म जागरण करते २ **अय**—यह **अज्झत्थिए** ४—सकल्प उत्पन्न हुआ कि—**एवं खलु अहं**—मैं निश्चय ही **इमेणं**—इस तपस्या से शुष्क **जाव**—यावत् एव **धमणिसंतए**—धमनियो से व्याप्त **जाए**—हो गया हू, **तं अत्थि ता०**—तो भी **मे**—मुझ मे अभी **उट्ठाणे**—उत्थान, **कम्मे**—कर्म, **बले**—बल, **वीरिए**—

वीर्य, **पुरिसक्कार परक्कमे**—पुरुषकार पराक्रम, **सद्धा धिइ संवेगे**—श्रद्धा, धृति और सवेग **अत्थि**—हैं, **तं जाव ता**—जब तक **मे**—मुझ मे **उट्ठाणे**—उत्थान **सद्धाधिइसवेगे**—यावत्, श्रद्धा, धृति, सवेग, **अत्थि**—हैं **जाव य**—और जब तक **मे**—मेरे **धम्मायरिए**—धर्माचार्य **धम्मोवेएसए**—धर्मोपदेशक **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर, **जिणे**—जिन **सुहत्थी**—सुहस्ती **विहरइ**—विचरते हैं **ताव ता**—तब तक **कल्ल**—कल प्रात काल **जाव**—यावत् **जलते**—सूर्य उदय होने पर **अपच्छिममारणंतियसलेहणा-झूसणा झूसियस्स**—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना को अङ्गीकार करके **भत्तपाण-पडियाइक्खियस्स**—भक्तपान का प्रत्याख्यान करके **कालं अणवकखमाणस्स**—मृत्यु की कांक्षा न करते हुए **मे**—मेरे को **विहरित्तए**—विचरना **सेय**—श्रेय है । **एवं**—इस प्रकार **संपेहेइ**—विचार किया, **संपेहित्ता**—विचार करके **कल्लं पाउ**—दुसरे दिन प्रात काल **जाव**—यावत् **अपच्छिममारणतिय**—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना को स्वीकार करके, **जाव**—यावत् **कालं अणवकखमाणे**—काल की कांक्षा न करते हुए **विहरइ**—विचरने लगा ।

भावार्थ—तदनन्तर एक दिन आनन्द श्रावक को पूर्वरात्रि के अपर भाग मे धर्म चिन्तन करते हुए यह विचार आया—यद्यपि मैं उग्र तपश्चरण के कारण कृश हो गया हूँ । नसे दीखने लगी हैं, फिर भी अभी तक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ पराक्रम, श्रद्धा, धृति और सवेग विद्यमान हैं । अत जब तक मुझ मे उत्थानादि है और जब तक मेरे धर्मोपदेशक धर्माचार्य श्रमण भगवान महावीर जिनसुहस्ती विचर रहे है । मेरे लिए श्रेयस्कर होगा कि अन्तिम मरणान्तिक सलेखना अङ्गीकार करलूँ । भोजन, पानी आदि का परित्याग करदूँ और मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए शान्त चित्त से अन्तिम काल व्यतीत करूँ ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द द्वारा अन्तिम सलेखनाव्रत अङ्गीकार करने का वर्णन है, इसमे कई बाते महत्वपूर्ण हैं ।

सलेखना जीवन का अन्तिम व्रत है, और यह जैन साधक की जीवन-दृष्टि को प्रकट करता है । पहले बताया जा चुका है कि जैन धर्म मे जीवन एक साधन है, साध्य नही । वह अपने आप मे लक्ष्य नही है । वह आत्म-विकास का साधन मात्र

है। साधन को तभी तक अपनाना चाहिए, जब तक वह लक्ष्य सिद्धि मे सहायक है। इसके विपरीत यदि वह बाधाएँ उपस्थित करने लगे तो साधन को छोड देना ही उचित है। शरीर या जीवन को भी तभी तक रखना चाहिए, जब तक वह आत्म-विकास मे सहायक है। रोग, असक्ति अथवा अन्य कारणो से जब यह प्रतीत होने लगे कि अब वह विकास के स्थान पर पतन की ओर ले जाएगा, मन मे उत्साह न रहे, चिन्ताएँ सताने लगे और भावनाएँ कलुषित होने लगे, तो ऐसी स्थिति आने से पहले ही शरीर का परित्याग कर देना उचित है। आनन्द श्रमणोपासक ने भी यही निश्चय किया। उसने सोचा—जब तक मुझ मे बल, वीर्य, पराक्रम, उत्साह आदि विद्यमान हैं और मेरे धर्मोपदेशक, मेरे धर्माचार्य भगवान महावीर विचर रहे हैं, मुझे जीवन का अन्तिम व्रत ले लेना चाहिए।

यह निश्चय कर लेने पर प्रात होते ही उसने सलेखना व्रत ले लिया, आमरण अशन, पान आदि आहार का त्याग कर दिया और एकमात्र आत्म चिन्तन मे लीन हो गया। सूत्रकार ने यहाँ बताया है कि जिस प्रकार उसने जीने की आकाक्षा छोड दी उसी प्रकार मरने की आकाक्षा भी नही की अर्थात् उसने यह भी नही चाहा कि भूख-प्यासादि के कारण कष्ट हो रहा है अत मृत्यु शीघ्र ही आजाए। जीवन, मरण, यश, कीर्ति ऐहिक भोग तथा पारलौकिक सुख आदि सब इच्छाओ से निवृत्त होकर एकमात्र आत्मचिन्तन मे लीन होकर वह समय व्यतीत करने लगा।

प्रस्तुत सूत्र मे कुछ शब्द ध्यान देने योग्य हैं, उत्थान—उठना, बैठना, गमनागमन आदि शारीरिक चेष्टाएँ अथवा हल-चल। बल—शारीरिक शक्ति। वीर्य—आत्म तेज या उत्साह शक्ति जो किसी कार्य को करने की प्रेरणा देती है—**"विशेषेण इर्यते प्रेर्यते अनेन इति वीर्यम्"**। पुरुषकार–पुरुषार्थ या उद्यम। पराक्रम–इष्ट साधन के लिए परिश्रम। श्रद्धा—विशुद्ध चित्तपरिणति के कारण होने वाला दृढ विश्वास। धृति—धैर्य, भय, शोक, दु ख, सकट आदि से विचलित न होना अर्थात् मन मे किसी प्रकार का क्षोभ या उद्वेग न आना। सवेग—आत्मा तथा अनात्मा सम्बन्धी विवेक के कारण बाह्य वस्तुओ से होने वाली विरक्ति। शास्त्र मे स्थान २ पर धर्म जागरिका के लिए पूर्व रात्रि का अपर भाग विशेष रूप से बताया गया है, इसका अर्थ है—मध्यम रात्रि। उस समय दुनिया का कोलाहल बन्द हो जाता है और मानसिक वृत्तियाँ शान्त होती हैं। योग परम्परा मे भी मन की एकाग्रता का अभ्यास

करने के लिए इस समय को प्रशस्त माना है। आनन्द ने भगवान महावीर स्वामी के रहते ही अन्तिम व्रत ले लेना उचित समझा। धर्मानुष्ठान के लिए गुरु या मार्ग दर्शक का उपस्थित रहना अत्यन्त उपयोगी है इससे उत्साह बना रहता है और किसी प्रकार का सदेह, द्विविधा, अडचन आदि उत्पन्न होने पर उनका निवारण होता रहता है।

आनन्द को अवधिज्ञान का होना--

मूलम्—तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेण ओहिनाणे समुप्पन्ने। पुरत्थिमेणं लवण-समुद्दे पंच-जोयण सयाइं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेणं य, उत्तरेणं जाव चुल्लहिमवंतं वास घर पव्वयं जाणइ पासइ, उड्ढं जाव सोहम्मं कप्पं जाणइ पासइ, अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलु-यच्चुयं नरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठिइयं जाणइ पासइ ॥ ७१ ॥

छाया—तत. खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्यान्यदा कदाचित् शुभेनाध्यव-सायेन, शुभेनपरिणामेन, लेश्याभिर्विशुद्धयमानाभिस्तदावरणीयाना कर्म्मणा क्षयो-पशमेनावधिज्ञान समुत्पन्नम्। पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे पञ्चयोजन-शतानि क्षेत्र जानाति पश्यति। एव दक्षिणात्ये पश्चिमात्ये च, उत्तरे खलु यावत् क्षुल्लहिमवन्त वर्ष-धरपर्वतं जानाति पश्यति, ऊर्ध्व यावत् सौधर्मकल्पं जानाति पश्यति, अधो यावद् अस्या रत्नप्रभाया. पृथिव्या लोलुपाच्युतनरकं चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिक जानाति पश्यति।

शब्दार्थ—**तए णं**—इसके अनन्तर **आणदस्स समणोवासगस्स**—आनन्द श्रमणो-पासक को **अन्नया कयाइ**—अन्यदा कदाचित् **सुभेण**—शुभ **अज्झवसाणेण**—अध्यव-साय तथा **सुभेण परिणामेण**—शुभपरिणाम के कारण **विसुज्झमाणीहिलेसाहि**—विशुद्ध होती हुई लेश्याओ से **तदावरणिज्जाण कम्माणं**—अवधिज्ञानावरण कर्म के **खओव-समेण**—क्षयोपशम से **ओहिनाणे**—अवधि ज्ञान **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हो गया, उसके द्वारा

पुरत्थिमेण—पूर्व की ओर **लवण समुद्दे**—लवण समुद्र मे **पंच जोयण संयाइं**—पाँच सौ योजन **खेत्तं**—क्षेत्र को **जाणइ पासइ**—जानने और देखने लगा। **एव दक्खिणेणं पच्चत्थिमेण**—इसी प्रकार दक्षिण और पश्चिम मे भी पाँच सौ योजन तक जानने और देखने लगा। **उत्तरेणं**—उत्तर की ओर **चुल्लहिमवंतंवासधरपव्वय**—क्षुल्लहिमवान-वर्षधर पर्वत को **जाणइ पासइ**—जानने और देखने लगा। **उड्ढं**—ऊर्ध्व लोक मे **सोहम्म कप्पं जाव**—सौधर्म कल्प तक **जाणइ पासइ**—जानने देखने लगा और **अहे**—अधोलोक मे **इमीसे**—इस **रयणप्पभाए**—रत्न प्रभा **पुढवीए**—पृथ्वी के **चउरासीइवाससहस्सट्ठिइय**—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले **लोलुयच्चुयं नरयं**—लोलुपाच्युत नामक नरक **जाव**—तक **जाणइ**—जानने तथा **पासइ**—देखने लगा।

भावार्थ—इस प्रकार धर्म चिन्तन करते हुए आनन्द को एक दिन शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम एव विशुद्ध लेश्या के कारण अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो गया और अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। परिणामस्वरूप वह पूर्व, पश्चिम की तरफ लवण समुद्र मे पाँच सौ योजन की दूरी तक जानने और देखने लगा, उत्तर दिशा की तरफ क्षुल्लहिमवान वर्षधर पर्वत को, ऊर्ध्वलोक मे सौधर्मकल्प तक और अधोलोक मे चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले लोलुपाच्युत नरक तक जानने और देखने लगा।

टीका—इस सूत्रमे आनन्द के अवधिज्ञान का वर्णन है। उसका क्रम नीचे लिखे अनुसार बताया गया है। तपस्या, धर्मचिन्तन आदि के कारण उसके अध्यवसाय शुद्ध हुए। तदनन्तर परिणाम शुद्ध हुए। परिणाम शुद्ध होने पर लेश्याएँ शुद्ध हुई। लेश्याएँ शुद्ध होने पर अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ और उससे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। टीकाकार ने अध्यवसाय का अर्थ किया है—प्रथम मनोभाव अर्थात् कार्यविशेष या अनुष्ठान के लिए दृढसकल्प। उसके लिए परिश्रम करने का निश्चय और मार्ग मे आने वाले सकट एव विघ्न बाधाओ से विचलित न होने की प्रतिज्ञा। परिणाम का अर्थ है—अध्यवसाय के पश्चात् उत्तरोत्तर बढती हुई विशुद्धि एव उत्साह के फलस्वरूप उठने वाले मनोभाव। लेश्या का अर्थ है अन्तिम मनोभाव जो आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति को प्रकट करते हैं।

जैन आगमो मे ६ लेश्याये बताई गई हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तैजस् (५) पद्म और (६) शुक्ल। कृष्ण लेश्या क्रूरतम विचारो को प्रकट

करती है इसके पश्चात नील आदि लेश्याओ मे विचार उत्तरोत्तर शुद्ध होते जाते है। अन्तिम लेश्या मे वे पूर्णतया निर्मल हो जाते हैं। विचार ज्यो ज्यो निर्मल होते हैं, साधक उत्तरोत्तर लेश्याओ को प्राप्त करता जाता है। इनका विस्तृत वर्णन पण्णवणा सूत्र का सत्तरहवाँ पद, और उत्तराध्ययन तथा चतुर्थ कर्मग्रन्थ मे दिया गया है।

अवधिज्ञानावरण—जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एव अनन्त वीर्य अर्थात् शक्ति का पुञ्ज है, उसका यह स्वरूप कर्मबन्ध के कारण दबा हुआ है, इसी लिए वह ससार मे भटक रहा है और सुख-दु ख भोग रहा है। कर्म आठ हैं, उनमें से ४ आत्मा के उपरोक्त गुणो को दबा रखते हैं, शेष ४ विविध योनियो मे विविध प्रकार की शारीरिक एव सामाजिक स्थिति न्यूनाधिक आयु एवं बाह्य सुख-दु ख के प्रति कारण हैं। प्रथम चार मे ज्ञानावरण—ज्ञान पर पर्दा डालता है, दर्शनावरण—दर्शन पर, मोहनीय—सुख का घात करता है और अन्तराय शक्ति का। ज्ञानावरण के ५ भेद हैं—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुत-ज्ञानावरण (३) अवधि ज्ञानावरण (४) मन पर्यय ज्ञानावरण (५) केवल ज्ञानावरण।

अवधिज्ञान—दूर-सूक्ष्म विपयक उस अतीन्द्रिय ज्ञान को कहते हैं जो रूप वाले द्रव्यो तक सीमित है। आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया और वह निश्चित सीमा तक दूरवर्ती पदार्थों को देखने तथा जानने लगा।

लवण समुद्र—जैन भूगोल के अनुसार मनुष्यक्षेत्र अढाई द्वीपो तक फैला हुआ है। मध्य मे जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन लम्बा, एक लाख योजन चौडा वृत्ताकार है। उसके चारो ओर लवण समुद्र है। लवण समुद्र के चारो ओर धातकी खण्ड नामक द्वीप है। उस द्वीप को कालोदधि समुद्र घेरे हुए है। उसके चारो ओर पुष्करद्वीप है। इस द्वीप के मध्य मे मानुषोत्तर पर्वत है। मनुष्यो की बस्ती यहाँ तक ही है।

वर्षधर पर्वत—जम्बूद्वीप के बीच मेरु पर्वत है। मेरु से दक्षिण की ओर भरत आदि ६ खण्ड हैं। वर्षधर पर्वत इन खण्डो का विभाजन करता है। एतत्सम्बन्धी विस्तारार्थ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थ आदि ग्रन्थो को देखना चाहिए।

सौधर्म देवलोक—ऊर्ध्व लोक मे प्रथम देवलोक का नाम सौधर्म है।

रत्न प्रभा—पृथ्वी के अधोभाग में सात नर्क हैं। प्रथम नरक का नाम रत्नप्रभा है। उस नरक मे भी अनेक प्रकार के नारकीय जीव रहते हैं। लोलुपाच्युत नरक भी इसी पृथ्वी का स्थान विशेष है। जहाँ नारकीय जीवो की आयु चौरासी हज़ार वर्ष मानी जाती है।

भगवान महावीर का पुनरागमन—

मूलम्—**तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए, परिसा निग्गय, जाव पडिगया ॥ ७२ ॥**

छाया—**तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीर समवसृतः। परिषन्निर्गता यावत्प्रतिगता।**

शब्दार्थ—**तेणं कालेण**—उस काल चौथे आरक मे **तेणं समएण**—उसी समय मे जव वाणिज्य ग्राम मे आनन्द को अवधिज्ञान उत्पन्न हो चुका था, **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर **समोसरिए**—पधारे **परिसा निग्गया**—परिषद् धर्म श्रवणार्थ गई **जाव**—यावत् **पडिगया**—और लौट गई।

भावार्थ—उस काल उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम धर्म जागृति करते हुए वाणिज्य ग्राम के बाहर दुतिपलाश चैत्य मे पधारे नगर की परिषद् धर्म श्रवण करने के लिए गई और धर्म उपदेश सुन कर वापिस लौट आई।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे वाणिज्य ग्राम नगर के बाहिर दूतिपलाश चैत्य मे श्रमण भगवान के पुनरागमन का निर्देश किया गया है। लोगो का धर्म श्रवण के लिए आने और वापिस लौटने का भी सकेत है। इन सबका विस्तृत वर्णन पहले आ चुका है।

गौतम स्वामी का वर्णन—

मूलम्—**तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इंदभूई नामं अणगारे गोयम गोत्तेणं सत्तुस्सेहे, समचउरंससंठाण संठिए, वज्जरिसहनारायसंघयणे, कणगपुलगनिघसपम्हगोरे**

उग्गतवे, दित्ततवे, तत्तवे, घोरतवे, महातवे, उराले, घोरगुणे घोरतवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्तविउलतेउलेस्से, छट्ठं-छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ ७३ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूतिर्नाम अनगारो गौतम गोत्रः खलु सप्तोत्सेध., समचतुरस्र संस्थान सस्थितः, वज्रर्षभनाराचसंहनन., कनकपुलकनिकषपद्मगौर., उग्रतपा, दीप्ततपा., तप्ततपाः घोरतपाः, महातपाः, उदार., घोरगुण., घोरतपस्वी, घोरब्रह्मचर्यवासी, उत्सृष्टशरीर., सक्षिप्तविपुलतेजोलेश्यः, षष्ठषष्ठेन अनिक्षिप्तेन तप कर्मणा, सयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति ।

शब्दार्थ—**तेणं कालेण**—उस काल **तेण समएण**—उस समय **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर के **जेट्ठे अन्तेवासी**—प्रधान शिष्य **इदभूई नामं अणगारे**—इन्द्रभूति नामक अनगार **गोयमगोत्तेणं**—गौतम गोत्रीय **सत्तुस्सेहे**—सात हाथ ऊँचे शरीर वाले, **समचउरससठाणसंठिए**—समचतुरस्र सस्थान वाले **वज्जरिसहनारायसघयणे**—वज्रर्षभनाराचसहनन वाले **कणगपुलगनिघसपम्हगोरे**—निकष—कसौटी पर घिसे हुए सोने की रेखा और पद्म के समान गौरवर्ण वाले **उग्गतवे**—उग्र तपस्वी, **दित्ततवे**—दीप्त तपस्वी **तत्तवे**—तप से तपे हुए **घोरतवे**—घोर तपस्वी **महातवे**—महा तपस्वी **उराले**—उदार **घोरगुणे**—महान् गुणो वाले **घोरतवस्सी**—घोर तपस्वी **घोरबभचेरवासी**—उग्र ब्रह्मचर्य व्रत के धारक **उच्छूढसरीरे**—शारीरिक मोह से रहित अथवा शरीर त्यागी **संखित्तविउलतेउलेस्से**—तेजोलेश्या की विशाल शक्ति को समेटे हुए **छट्ठं छट्ठेण**—पष्ठ भक्त अर्थात् वेले-वेले के **अणिक्खित्तेणं**—निरन्तर **तवोकम्मेणं**—तपानुष्ठान **संजमेणं**—सयम, **तवसा**—तथा अनशनादि अन्य तपश्चरण के द्वारा **अप्पाणंभावेमाणे**—अपनी आत्मा को सस्कारित करते हुए **विहरइ**—विचर रहे थे ।

भावार्थ—उस काल और उस समय श्रमण भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार विचर रहे थे, वे सात हाथ ऊँचे थे, समचतुरस्रसस्थान, वज्रर्षभनाराचसहनन वाले तथा सुवर्ण पुलक निकष और पद्म के

समान गौरवर्ण वाले थे। उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, घोरतपस्वी, महातपस्वी, उदार, महा गुणवान, उत्कृष्ट तपोधन, उग्र ब्रह्मचारी, शरीर से निर्मल और संक्षिप्त की हुई विपुल तेजोलेश्या के धारक थे। निरन्तर बेले तथा अन्य प्रकार के तपोनुष्ठान द्वारा आत्मविकास कर रहे थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी का वर्णन है। यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के कुछ मुख्य शिष्य होते हैं, जिन्हे गणधर कहा जाता है। भगवान महावीर के ११ गणधर थे उनमे इन्द्रभूति प्रथम एव ज्येष्ठ थे। वे महातपस्वी तथा विनय सम्पन्न थे। प्रस्तुत पाठ में दिया गया प्रत्येक विशेषण उनके महत्वपूर्ण गुणो को प्रकट करता है।

इन्द्रभूति—गौतम स्वामी का वैयक्तिक नाम इन्द्रभूति था, गौतम उनका गोत्र था। व्यवहार मे अधिकतर गोत्र का प्रयोग होने से उनका नाम ही गौतम प्रसिद्ध हो गया। भगवान् महावीर भी उन्हे 'गोयमा' ! अर्थात् 'हे गौतम' ! शब्द द्वारा सम्बोधित करते थे।

अणगारे—इस शब्द का अर्थ है साधु एव मुनि, जैन धर्म मे साधना के २ रूप बताए गए हैं। (१) श्रावक के रूप मे जहाँ गृह-सम्पत्ति तथा सूक्ष्म हिंसादि का त्याग नही होता है। (२) साधु का इनका पूर्णतया त्याग होता है। श्रावक को सागार कहा जाता है। आगार के २ अर्थ हैं—(१) घर या (२) व्रत धारण मे अमुक छूट। इन दोनो का परित्याग होने के कारण मुनि को अनगार कहा जाता है।

सत्तुस्सेहे—(सप्तोत्सेध.) इसमे गौतम स्वामी की शारीरिक सम्पति का वर्णन है। उत्सेध का अर्थ है—ऊँचाई वे सात हाथ ऊँचे थे।

समचउरंस-संठाण-संठिए—(समचतुरस्रसस्थान सस्थित) जैन धर्म मे शरीर की रचना नामकर्म के उदय से मानी जाती है। नामकर्म की अठानवे प्रकृतियां है, उन्ही मे ६ सस्थान तथा ६ सहननो का वर्णन आता है। सस्थान का अर्थ है शरीर की रचना, इसका मुख्य सम्बन्ध बाह्य आकार से है। किसी का शरीर सुडौल होता है अर्थात् हाथ पांव आदि अग सतुलित एव सुरूप होते हैं और किसी का बेडौल। इसी आधार पर ६ सस्थान बताए गए हैं, उनमे समचतुरस्रसस्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसका

अर्थ है सिर से लेकर पैरो तक समस्त अङ्गो का एक दूसरे के अनुरूप एव सुन्दर होना ।

वज्ज-रिसह-नाराय-संघयणे--(वज्रर्षभ-नाराच-सहन) सहनन का अर्थ है--शरीर के अगो का सगठन । उदाहरण के रूप मे किसी का शारीरिक सगठन इतना दुर्वल होता है कि थोडा सा झटका लगने पर अङ्ग अपने स्थान से हट जाते हैं। और किसी के इतने मजवूत होते हैं कि किसी भी परिस्थिति मे अपना स्थान नही छोडते । इसी आधार पर ६ सहनन वताए गए हैं और इनमे शारीरिक सन्धियो की वनावट का वर्णन है जो शरीर शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वज्र-ऋपभनाराच सहनन सर्वोत्तम माना गया है, और यह तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती एव अन्य अन्य महापुरुषो के होता है । इसमे हड्डियाँ तीन प्रकार से मिली हुई होती है। (१) नाराच अर्थात् मर्कट वन्ध अर्थात् एक हड्डी दूसरी हड्डी मे कुण्डे की तरह फँसी हुई होती है, (२) ऋपभ—अर्थात् उस वन्धन पर वेष्टन पट्ट चढा रहता है, (३) कीलक—अर्थात् पूरे जोड मे कील लगी रहती है। वज्रऋषभनाराच सहनन मे ये वन्ध पूर्ण रूप मे होते हैं। इसके विपरीत अन्य सहननो मे किसी मे आधा कील होता है किसी मे होता ही नही, किसी मे वेष्टनपट्ट नही होता और किसी मे हड्डियाँ मर्कटवन्ध के स्थान पर यो ही आपस मे सटी रहती हैं और अस्थिवन्ध उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है।

कणग-गोरे--(कणकपुलकनिकषपद्मगौर) इसमे भगवान् गौतम के शरीर का वर्ण वताया गया है। वे सुवर्णपुलक निकप अर्थात् कसौटी पर खिची हुई सुवर्ण रेखा तथा पद्म अर्थात् कमल के समान गौर वर्ण के थे ।

उग्गतवे--(उग्रतपा) 'वे उग्र अर्थात् कठोर तपस्वी थे ।

घोरतवे--(घोर-तपा) 'वे घोरतपस्वी थे, घोर का अर्थ है कठोर, उन्होने तपस्या करते समय कभी अपने शरीर के प्रति ममता या दुर्वलता नही दिखाई, दूसरो के लिए जो अत्यन्त दयालु थे वे ही अपने लिए कठोर थे ।

महातवे--(महा-तपा) वे महा तपस्वी थे। उपरोक्त तीनो विशेषण इस वात को प्रकट करते हैं कि जैन परम्परा मे वाह्य एव आभ्यन्तर सभी प्रकार के तपो का महत्वपूर्ण स्थान रहा है ।

उराले—(उदार) वे उदार अर्थात् मनस्वी एव विशाल हृदय थे। प्रत्येक वात मे उनका दृष्टिकोण उच्चतम लक्ष्य की ओर रहता था।

घोरगुणे—(घोरगुण) वे तपस्या, ज्ञान, कठोर चारित्र आदि विशिष्ट गुणो के धारक थे। घोर शब्द से उन गुणो की ओर सकेत किया गया है जहाँ किसी प्रकार की शिथिलता या दुर्वलता के लिए स्थान नही होता।

घोर-तवस्सी-घोरवंभचेरवासी—(घोरतपस्वी-घोरब्रह्मचर्यवासी) इन दोनो विशेषणो मे भी यही वताया गया है, कि उनकी तपस्या एव कठोर ब्रह्मचर्य मे किसी प्रकार की शिथिलता या दुर्वलता के लिए अवकाश न था। उन्हे देख कर दूसरे आश्चर्यचकित हो जाते थे।

उच्छूढ सरीरे—(उत्सृष्टशरीर) उन्होने अपने शरीर का परित्याग कर रखा था अर्थात् खाना पीना, चलना फिरना आदि कार्य करने पर भी ममत्व छोड रखा था। उपनिषदो मे इसी अर्थ को लेकर जनक को वैदेह कहा गया है।

संखित्त-विउल-तेउ-लेस्से—(सक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य) यहाँ तेजो लेश्या का अर्थ है दूसरो को भस्म कर देने की शक्ति। यह उग्र तपस्या के फलस्वरूप अपने आप प्रकट होती है। गौतम स्वामी मे यह शक्ति विपुल अर्थात् प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थी किन्तु उन्होने इसे अपने ही शरीर में समेट रखा था। प्रचुर शक्ति होने पर भी उन्होने उसका कभी प्रयोग नही किया। जैन परम्परा मे तपोजन्य विभूतियो के लिए गौतम स्वामी को आदर्श माना जाता है।

छट्ठं-छट्ठेणं—(षष्ठषष्ठेन) एक प्रकार की तपस्या है। इसका अर्थ है छ भोजनो का परित्याग—अर्थात् पहले दिन सायकाल का भोजन न करे, दूसरे दिन तथा तीसरे दिन पूर्ण उपवास रखे। और चौथे दिन प्रात कालीन भोजन करे। इस प्रकार इसमे २ दिन का पूर्ण उपवास और दो दिन एक एक समय भोजन करना होता है। गौतम स्वामी इस प्रकार का तप निरन्तर कर रहे थे अर्थात् छट्ठ करके पारणा करते थे और फिर छट्ठ कर लेते थे। इस प्रकार दीर्घकाल से उनका तप निरन्तर चल रहा था जम्वूद्वीप प्रज्ञप्ति की शान्तिचन्द्रीया वृत्ति मे गौतम स्वामी का वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

"अनन्तरोक्त विशेषणे हीन संहननोऽपिस्यादत आह 'वज्ज' त्ति वज्रर्षभनाराच-

संहनन', तत्र नाराचम् उभयतो मर्कटवन्धः, ऋषभः तदुपरिवेष्टनपट्टः, कीलिका—अस्थित्रयस्यापि भेदकमस्थि एवं रूपं संहननं यस्य स तथा, अयं च निन्द्यवर्णोऽपिस्यादत आह–'कणग' त्ति कनकस्य-सुवर्णस्य पुलको—लवस्तस्य यो निकषः कषपट्टके रेखारूपः तद्वत् तथा 'पम्ह' त्ति अवयवे समुदायोपचारात् पद्म शब्देन पद्मकेसराण्युच्यन्ते तद्वद् गौर इति, अयं च विशिष्ट चरणरहितोऽपिस्यादत आह उग्रम्—अप्रधृष्यं तपः—अनशनादि यस्य स तथा, यदन्येन चिन्तितुमपि न शक्यते तद्विधेन तपसायुक्त इत्यर्थ., तथा दीप्तं जाज्वल्यमान दहन इव कर्मवनगहनदहन समर्थतया ज्वलितं तपोधर्मध्यानादि यस्य स तथा, तथा तप्तं तपो येन स तथा। एवं हि तेन तप्तं तपो येन सर्वाण्यशुभानि कर्माणि भस्मसात्कृतानीति, तथा महत् प्रशस्तमाशंसादि दोषरहितत्वात् तपो यस्य स तथा, तथा उदारः—प्रधानः अथवा ओरालो—भीष्मः, उग्रादि विशेषेण विशिष्ट तपः करणतः पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः, तथा घोरो निर्घृणः परीष-हेन्द्रियादिरिपुगण विनाशनमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थ., अन्येतु आत्मनिरपेक्ष घोरमाहुः, तथा घोरा—इतरैर्दुरनुचरागुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा घोरैस्तपोभिस्तपस्वी तथा घोरं—दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद् यद् ब्रह्मचर्य तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा। 'उच्छूढं'—उज्झितं सस्कारपरित्यागात् शरीरं येन स तथा। संक्षिप्ता—शरीरान्तर्ग-तत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला विस्तीर्णा अनेक योजन प्रमाण क्षेत्राश्रित वस्तु दहन समर्थत्वात् तेजोलेश्या—विशिष्टतपोजन्य लब्धिविशेष प्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा। चतुर्दश—पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य स तथा, तेन तेषा रचितत्वात्, अनेन तस्य श्रुत-केवलितामाह—स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह—चतुर्ज्ञानोपगतः, मति-श्रुतावधिमनःपर्यायरूप ज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थः। उक्त विशेषणद्वयकलितोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति, चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानपतितत्वेन श्रवणात्, अत आह सर्वे च ते अक्षर सन्निपाताश्च-अक्षरसयोगस्ते ज्ञेयतया सन्ति यस्य स तथा किमुक्तं भवति ? या काचिज्जगति पदानुपूर्वी वाक्यानुपूर्वी वा सम्भवन्ति ता सर्वा अपि जानाति अथवा श्रव्यानि—श्रुतिसुखकारीणि अक्षराणि साङ्गत्येन नितरां वदितुं शीलमस्येति स तथा एव गुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्तेन विहरतीति योगः, तत्र दूरं—विप्रकृष्टं सामन्त संनिकृष्टं तत्प्रतिषेधाददूरसामन्तं तत्र नातिदूरे नातिनिकटेत्यर्थ, कि विध सन् तत्र विहरतीति ? ऊर्ध्व जानुनी यस्य स

तथा, शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिक निषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासन इत्यर्थ, अधः शिरो—नोर्ध्व तिर्यग् वा निक्षिप्त दृष्टिः, किन्तु नियत भूभागनियमितदृष्टिरित्यर्थः, ध्यान धर्म शुक्ल वा तदेव कोष्ठः—कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपागतः। यथाहिकोष्ठके धान्यं निक्षिप्तमविप्रसृतं भवति एवं भगवानपि ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्त करण-वृत्तिरित्र्थ, सयमेन—पञ्चाश्रवनिरोधादिलक्षणेन, तपसा-अनशादिना च शब्दोऽत्र समुच्चयार्थो लुप्तो द्रष्टव्य, संयमतपसोग्रहण चानयो. प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्याप-नार्थ प्राधान्य च संयमस्य नवकर्मानुपादान हेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरा हेतुत्वेन, भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्म क्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणे मोक्ष इति, आत्मान भावयन्—वासयन् विहरीति तिष्ठतीत्यर्थ. ।"

भावार्थ—उक्त सदर्भ मे श्री गौतमस्वामी की शारीरिक एव आध्यात्मिक सम्पदा सक्षेप मे वर्णित है—"जैसे—भगवान गौतम की सहनन वज्रर्षभनाराच थी जो कि अत्यन्त दृढ एव शक्तिशाली होती है। उनके शरीर का वर्ण कसौटी पर घिसे हुए सोने की रेखा तथा पद्म कमल के पराग की भान्ति गौर और मनोहारी था। इस प्रकार विशिष्ट सौन्दर्य से युक्त होने पर भी उग्र तप करते थे जिस का साधारण व्यक्ति चिन्तन भी नही कर सकते। वे तप तथा धर्म ध्यान की जाज्वल्यमान ज्वाला से कर्म महावन को दहन कर रहे थे। वे आशसारहित तपस्तेज से उद्दीप्त थे। उनके महा-तपश्चरण को देखकर पार्श्वस्थ एव हीनसत्त्व व्यक्ति भयभीत होते थे। वे इन्द्रिय और परीषह शत्रुओ को निर्दयता से दमन कर रहे थे। उन्होने शरीर सत्कार और ममत्व को छोडकर दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया हुआ था। भगवान गौतम सदैव मूल तथा उत्तर गुण की आराधना मे तत्पर रहते थे। उग्र तप एव भीष्म ब्रह्मचर्य व्रत से योजनो परिमाण क्षेत्र मे स्थित वस्तुओ का भस्म करने मे समर्थ तेजोलेश्या लब्धि-विशेष उत्पन्न हो गई थी। जिसको उन्होने अपने आध्यात्म मे संक्षिप्त किया हुआ था।

चौदह पूर्व के रचयिता होने से वे चतुर्दश पूर्वधर थे। सभी चतुर्दश पूर्वधारी भी समग्रश्रुत के धारक नही होते, उन मे भी षाड्गुण्य हानि-वृद्धियुक्त तथा अवधि-ज्ञान के विकल होते हैं। परन्तु, गौतम मति-श्रुति अवधि और मन पर्याय चार ज्ञान सम्पन्न थे। सूत्रकर्त्ता ने 'सव्वक्खरसन्निवाई' पद दिया है अर्थात् उनका ज्ञान इतना विमल व विशिष्ट था कि ससार मे जितनी भी पदानुपूर्वी, वाक्यानुपूर्वी सम्भव हो

सकती हैं, एक पद या एक वाक्य मात्र कहने से समस्त विषय को वे सम्यक् प्रकार से जान लेते थे।

श्री गौतम ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार सम्पन्न होते हुए भी निरभिमानी और विनय की जीती जागती मूर्ति थे। अत इन विशेषताओ से युक्त, सचित्त भूमि वर्ज कर उत्कुटुक आसन ऊर्ध्वजानु और शिर कुछ झुकाए भूमिगत दृष्टि, धर्मध्यान को ध्याते हुए न अति दूर न अति समीप, मोक्ष-हेतु सयम और तप से अपनी आत्मा को सुवासित करते हुए भगवान महावीर के चरणो मे विचरण कर रहे थे।"

गौतम स्वामी का भिक्षा के लिए जाना—

मूलम्—**तए णं स भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बिइयाए पोरिसीए झाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियं अचवलं असंभंते मुहपत्ति पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता, भायण-वत्थाइं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता भायण वत्थाइं पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइ, उग्गाहेइ, उग्गाहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—"इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगंसि वाणियगामे नयरे उच्चनीय मज्झिमाइं कुलाइं घर समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडितए।" "अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबधं करेह" ॥८४॥**

छाया—तत खलु स भगवान् गौतमः षष्ठक्षपणपारणके प्रथमाया—पौरुष्यां स्वाध्यायं करोति, द्वितीयाया पौरुष्यां ध्यान ध्यायति, तृतीयायां पौरुष्यमत्वरितमचपलमसम्भ्रान्तो मुखवस्त्रिकां प्रतिलेखयति, प्रतिलिख्य भाजन वस्त्राणि प्रतिलेखयति, प्रतिलिख्य भाजनवस्त्राणि प्रमार्जयति प्रमार्ज्य भाजनान्युद्गृह्णाति, उद्गृह्य येनैव श्रमणे भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य श्रमण भगवन्त महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"इच्छामि खलु भदन्त ! युष्माभिरभ्यनुज्ञात षष्ठ-

क्षपणपारणके वाणिज्यग्रामनगरे उच्च-नीच-मध्यमानि कुलानि गृह समुदानस्य भिक्षाचर्यायै अटितुम् ।" "यथासुख देवानुप्रिय ! मा प्रतिवन्ध कुरु ।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से भगव गोयमे—भगवान गौतम ने छट्ठक्खमण-पारणगंसि—षष्ठक्षपणा के अर्थात् वेला उपवास के पारणे के दिन पढमाए पोरिसीए—प्रथम पौरुषी मे सज्झाय करेइ—स्वाध्याय किया, विइयाए पोरिसीए—दूसरी पौरुषी मे झाण झियाइ—ध्यान किया तइयाए पोरिसीए—तीसरी पौरुषी मे अतुरिय—शीघ्रता रहित अचवल—चपलता रहित असभंते—असम्भ्रान्त होकर मुहपत्ति पडिलेहेइ—मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके भायण वत्थाइ—पात्र और वस्त्रो की पडिलेहेइ—प्रतिलेखना की, पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके भायण वत्थाइ—पात्र और वस्त्रो का पमज्जइ—प्रमार्जन किया पमज्जित्ता—प्रमार्जन करके भायणाइं—पात्रो को उग्गाहेइ—उठाया, उग्गाहित्ता—उठाकर जेणेव समणे भगव महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान महावीर थे, तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आए, उवागच्छित्ता—आकर समणं भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर को वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया, वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार कहा भंते—भगवन् ! तुब्भेहिं—आपकी अब्भणुण्णाए—अनुमति प्राप्त होने पर छट्ठक्खमणपारणगसि—वेलापारणा के लिए वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे उच्चनीयमज्झिमाइकुलाइं—उच्च-नीच और मध्यम कुलो की घरसमुदाणस्स—गृह-समुदानी-सामूहिक घरो से, भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या के लिए अडित्तए—पर्यटन करना इच्छामिणं—चाहता हूँ, भगवान ने उत्तर दिया देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रिय ! अहासुहं—जैसे तुम को सुख हो मा पडिवंधकरेह—विलम्ब न करो ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान गौतम ने छट्ठखमण—वेलापारणे के दिन पहली पौरुषी मे स्वाध्याय किया दूसरी पौरुषी मे ध्यान किया, तीसरी पौरुषी मे बिना शीघ्रता के, चपलता एव उद्वेग के विना शान्त चित्त से मुख वस्त्रिका एव पात्रो वस्त्रो की प्रतिलेखना की और परिमार्जन किया। तत्पश्चात् जहा श्रमण भगवान महावीर थे वहा पहुँचे, उन्हे वन्दना नमस्कार किया और पूछा भगवन् ! आपकी अनुमति प्राप्त होने पर मैं वेलापारणे के लिए वाणिज्य

ग्राम मे उच्च, मध्यम तथा अधम सभी कुलो मे समुदानीकी भिक्षाचर्या करना चाहता हूँ। हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, विलम्ब मत करो भगवान ने उत्तर दिया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे पारणे के दिन का वर्णन किया गया है। गौतम स्वामी ने पहले प्रहर में शास्त्रो का स्वाध्याय किया दूसरे मे ध्यान और तीसरे मे मुखवस्त्रिका पात्र एव वस्त्रो की प्रतिलेखना की, तदनन्तर भगवान महावीर के पास पहुँचे। वन्दना नमस्कार के पश्चात् भिक्षार्थ वाणिज्यग्राम मे जाने की अनुमति माँगी **'पढमाए पोरिसीए-प्रथमाया पौरुष्यां'** पौरुषी शब्द का अर्थ पहर है, इसका यौगिक अर्थ है पुरुष की छाया के आधार पर निश्चित किया गया काल परिमाण। हमारी छाया प्रात काल लम्बी होती है और घटते २ मध्याह्न मे सक्षिप्त हो जाती है, दोपहर के वाद फिर बढने लगती है। इसी आधार पर जैनकाल गणना मे दिन को चार पोरिसिओ मे विभक्त किया है। आजकल भी जैन साधु एव श्रावको द्वारा काल मर्यादा स्थिर करने की परम्परा विद्यमान है। जैन शास्त्रो मे पोरिसो नाम का प्रत्याख्यान भी है, जिसमे व्यक्ति सूर्योदय के पश्चात् एक प्रहर या दो पहर तक अन्न एव जल ग्रहण न करने का निश्चय करता है। प्रथम पहर मे स्वाध्याय तथा द्वितीय पहर मे ध्यान। इसी प्रकार भगवान् गौतम स्वामी दो पहर तक आत्मचिंतन मे लगे रहे। तृतीय पहर प्रारम्भ होने पर अपना व्रत पूरा किया और प्रतिलेखना आदि दैनिक कार्यो मे लग गए। साधारणतया साधुओ के लिए यह विधान है कि प्रतिदिन प्रात सूर्योदय होने पर और साय सूर्यास्त से पहले प्रतिलेखन करनी चाहिए, किन्तु गौतम स्वामी भोजन आदि का परित्याग करके जवतक एकान्त आत्म-चिन्तन मे लीन रहे जब तक अन्य दैनिक कार्यो को स्थगित कर दिया।

साधारणतया भिक्षा का समय—पहला पहर वीतने पर होता है, किन्तु गौतम स्वामी ने छट्ठ भक्त कर रखा था, उसकी मर्यादा के अनुसार चौथे दिन भी दो पहर से पहिले भोजन नही करना चाहिए इसी लिए वे तीसरे पहर भिक्षा के लिए गए।

उच्च-नीच—भिक्षा के लिए घूमते समय गौतम स्वामी ने इस वात पर ध्यान नही दिया कि जिस घर मे वे जा रहे हैं वे सम्पन्न हैं या दरिद्र, बिना भेद भाव के वे प्रत्येक घर मे घूमने लगे।

सामुदानीकी—भिक्षा के लिए घूमते समय कई प्रकार की चर्याओं का विधान है। उदाहरण के रूप मे गोमूत्रिका नाम की एक चर्या है। इसमे साधु गली मे घूमता है। एक ओर के एक घर से भिक्षा लेकर दूसरी ओर चला जाता है और फिर उसी ओर आकर दूसरे घर से भिक्षा लेता है। सामुदानीकी चर्या मे एक ही किनारे के बीच मे विना किसी घर को छोडे भिक्षा लेता चला जाता है। गौतम स्वामी ने सामुदानीकी भिक्षा की।

अतुरिय—इत्यादि, दो दिन के उपवास का पारणा होने पर भी गौतम स्वामी ने सारे दैनिक कृत्य स्थिरता एव धैर्यपूर्वक किए, उनमे न किसी प्रकार की त्वरा थी, न चपलता और न सम्भ्रम अर्थात् घबराहट। साधक के लिए यह महत्वपूर्ण बात है कि वह अपनी साधना काल मे तथा उसके पश्चात् भी धैर्य एव दृढता से काम ले।

प्रतिलेखना आदि करके गौतम स्वामी भगवान् महावीर के पास गए। वन्दना नमस्कार किया और भिक्षार्थ वाणिज्यग्राम मे घूमने की अनुज्ञा माँगी। भगवान् ने उत्तर दिया—'अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह' अर्थात् हे देवानुप्रिय ! तुम्हे जैसा सुख हो, प्रतिबध अर्थात् रुकावट मत आने दो। भगवान महावीर का यह उत्तर जैनागमो मे सर्वत्र मिलता है, किसी भी यथाप्राप्त उचित कार्य के लिए अनुज्ञा माँगने पर वे कहा करते थे—"जैसा तुम्हे सुख हो, देर मत करो।" यह उत्तर एक ओर इस बात को प्रकट करता है कि वे शुभ कार्य के लिए भी अपनी आज्ञा किसी पर लादते नही थे, साथ ही देरी मत करो कह कर उसके उत्साह को बढाते भी थे।

मूलम्—तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए-समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतर परिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ ईरियं सोहेमाणे जेणेव वाणियगामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाणियगामे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घर समु-दाणस्स भिक्खायरियाए अडइ ॥ ७५ ॥

छाया—तत. खलु भगवान् गौतम. श्रमणेन भगवता महावीरेणाभ्यनुज्ञात सन् श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकाद् दूतिपलाशाच्चैत्यात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्र-

म्यात्वरितमचपलमसम्भ्रान्तो युगान्तरपरिलोकनया दृष्टया पुरत ईर्या शोधयन् येनैव वाणिज्यग्राम नगरं तेनैवोपागच्छति, उपागत्य वाणिज्यग्रामे नगरे उच्चनीय-मध्यमानि कुलानि गृहसमुदान-भिक्षाचर्यायै अटति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर भगवं गोयमे—भगवान् गौतम समणेण भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान् महावीर से अब्भणुण्णाए समाणे—अनुमति मिल जाने पर समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अतियाओ—पास से दूइपलासाओ—दूतिपलाश चेइयाओ—चैत्य से पडिणिक्खमइ—निकले, पडिणिक्ख-मित्ता—निकलकर, अतुरियं—विना शीघ्रता किए, अचवले—चपलता रहित असंभंते—असम्भ्रान्त होकर अर्थात् जुगंतर परिलोयणाए दिट्ठीए—युगपरिमाण अवलोकन करने वाली दृष्टि से पुरओ—आगे की ओर ईरिय—ईर्या का सोहेमाणे—शोधन करते हुए, जेणेव वाणियगामे नयरे—जहाँ वाणिज्य ग्राम नगर था, तेणेव—वहाँ उवागच्छइ पहुँचे, उवागच्छित्ता—पहुँचकर, वाणियग्गामे नयरे—वाणिज्य ग्राम नगर मे उच्च-नीयमज्झिम कुलाइं—उत्तम, मध्यम, अधम कुलो मे घरसमुदाणस्स—गृह समुदानी भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या के लिए अडइ—भ्रमण करने लगे ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम भगवान् महावीर की अनुमति मिलने रप दूतिप-लाश उद्यान से निकले, चपलता तथा घवराहट के बिना धैर्य एव शान्ति के साथ साढे तीन हाथ तक मार्ग पर दृष्टि डालते हुए वाणिज्य ग्राम नगर मे आए, और उच्च, नीच एव मध्यम कुलो मे यथा क्रम भिक्षाचर्या के लिए घूमने लगे ।

टीका—प्रस्तुत सुत्र मे गौतम स्वामी के भिक्षार्थ पर्यटन का वर्णन है । पिछले पाठ मे प्रतिलेखना से पहले जो तीन क्रियाविशेषण दिए गए थे वे यहा पुन दिए गए हैं अर्थात् भिक्षा के लिए घूमते समय भी गौतम स्वामी मे किसी प्रकार की त्वरा, चपलता या घवराहट नही थी ।

जुगन्तर—युग का अर्थ है गाडी का जुवा जो वैलो के कन्धे पर रखा जाता है, उसकी लम्बाई साढे तीन हाथ मानी जाती है । साधु के लिए यह विधान है कि वह चलते समय सामने की ओर साढे तीन हाथ तक भूमि देखता चले, इधर-उधर या वहुत दूर न देखे ।

ईरियं सोहेमाणे—साधु के आचार मे सत्रह प्रकार का सयम वताया गया है—पॉच महाव्रत, पॉच समिति, तीन गुप्ति और चार कपायो का दमन। समिति का अर्थ है—चलने, फिरने, बोलने, भिक्षा करने तथा वस्त्र पात्र आदि को उठाने, रखने मे सावधानी। सर्व प्रथम ईर्यासमिति है इसका अर्थ है—चलने मे सावधानी। प्रस्तुत पक्ति मे यह वताया गया है कि गौतम स्वामी ईर्यासमिति का शोधन या पालन करते हुए घूमने लगे। वाणिज्य ग्राम मे वे उच्च-नीच तथा मध्यम समस्त कुलो मे सामुदानीकी भिक्षाचर्या करने लगे।

गौतम द्वारा आनन्द की चर्याविषयक समाचार का श्रवण—

मूलम्—**तए णं से भगवं गोयमे वाणियगामे नयरे, जहा पण्णत्तीए तहा, जाव भिक्खायरियाए अडमाणे अहापज्जत्तं भत्तपाणं सम्मं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहित्ता वाणियगामाओ पडिणिग्गच्छइ, पडिणिग्गच्छित्ता कोल्लायस्स सन्निवेसस्स अदूरसामतेणं वीईवयमाणे, वहुजण सद्दं निसामेइ, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४—"एवं खलु देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे नामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम जाव अणवकंखमाणे विहरइ ॥ ७६ ॥**

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमो वाणिज्यग्रामे नगरे—यथाप्रज्ञप्त्यां यावद् भिक्षाचर्यायै अटन् यथा-पर्याप्तं भक्तपानं सम्यक् प्रतिगृह्णाति, प्रतिगृह्य वाणिज्य-ग्रामात् प्रतिनिर्गच्छति, प्रतिनिर्गत्य कोल्लाकस्य सन्निवेशस्याऽदूरसामन्ते व्यतिव्रजन् वहुजनशब्दं निशाम्यति। वहुजनोऽन्यान्यस्मै एवमाख्याति ४—"एवं खलु देवानु-प्रियाः! श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तेवासी आनन्दो नाम श्रमणोपासकः पौषधशालायामपश्चिम यावत् अनवकांक्षन् विहरति।

भावार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **से**—उस **भगवं गोयमे**—भगवान् गौतम ने **वाणिय-गामे नयरे**—वाणिज्यग्राम नगर मे **जहापण्णत्तीय तहा**—यथा व्याख्या प्रज्ञप्ति मे कल्प है, उसी प्रकार **जाव**—यावत् **भिक्खायरियाए**—भिक्षाचर्या के लिए **अडमाणे**—भ्रमण करते हुए **अहापज्जत्तं**—यथापर्याप्त **भत्तपाणं**—भक्तपान **सम्मं**—सम्यक् रूप से

पडिग्गाहेइ—ग्रहण किया, **पडिग्गाहित्ता**—ग्रहण करके **वाणियगामाओ**—वाणिज्यग्राम नगर से **पडिणिगच्छइ**—निकले, **पडिणिग्गच्छित्ता**—निकल करके **कोल्लायस्स सन्निवेसस्स**—जब वे कोल्लाक सन्निवेश के **अदूरसामतेण**—पास से **वीइवयमाणे**—जा रहे थे तो **बहुजण सद्द**—बहुत से मनुष्यो को **निसामेइ**—यह कहते हुए सुना, **बहुजणो**—बहुत मनुष्य **अन्नमन्नस्स**—परस्पर **एवमाइक्खइ**—इस प्रकार कह रहे थे—**देवाणुप्पिया**—हे देवानुप्रियो ! **एवं खलु**—इस प्रकार **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर का **अंतेवासी**—शिष्य **आणदे नामं**—आनन्द नामक श्रावक **पोसहसालाए**—पौषध शाला मे **अपच्छिम जाव अणवकंखमाणे**—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना किए हुए यावत् मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए **विहरइ**—विचर रहा है ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम ने वाणिज्यग्राम नगर मे व्याख्या प्रज्ञप्ति मे वर्णित साधुजनोचित कल्प के अनुसार भिक्षाचर्या के लिए भ्रमण करते हुए यथापर्याप्त अन्नजल ग्रहण किया और वाणिज्यग्राम नगर से बाहर निकल कर कोल्लाक सन्निवेश के पास पहुँचे । बहुत से मनुष्यो को बात करते हुए सुना कि—हे देवानुप्रियो ! श्रमण भगवान् महावीर का शिष्य आनन्द श्रमणोपासक पौषधशाला मे अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना किए हुए यावत् जीवन मरण की आकाक्षा न रखते हुए विचर रहा है ।

गौतम का आनन्द के पास पहुँचना—

मूलम्—**तए णं तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म अयमेयारूवे अज्झत्थिय ४ "तं गच्छामि ण आणंदं समणोवासयं पासामि ।" एवं संपेहेइ, संपेहित्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे जेणेव आणंदे समणोवासए, जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ ॥ ७७ ॥**

छाया—ततः खलु तस्य गौतमस्य बहूजनस्यान्तिके एतदर्थ श्रुत्वा एतद्रूप अध्यात्मिकः ४—तद् गच्छामि खलु आनन्द श्रमणोपासकं पश्यामि, एव सप्रेक्षते, सप्रेक्ष्य येनैव कोल्लाकः सन्निवेशो येनैव आनन्द. श्रमणोपासकः येनैव पौषधशाला तेनैव उपागच्छति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स गोयमस्स—गौतम स्वामी को बहुजणस्स अतिए—बहुत लोगो से एय—यह बात सोच्चा—सुनकर निसम्म—ग्रहण करके अयमेयारूवे—इस प्रकार अज्झत्थिए—विचार आया कि त गच्छामिण—मै जाऊँ और आणंद समणोवासय—आनन्द श्रमणोपासक को पासामि—देखूँ, एव सपेहेइ—इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता—विचार करके जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे—जिस ओर कोल्लाक सन्निवेश था, जेणेव पोसहसाला—और जिस ओर पौषधशाला थी, जेणेव आणदे समणोवासए—जहाँ आनन्द श्रावक था तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आए।

भावार्थ—अनेक मनुष्यो से यह बात सुनकर गौतमजी के मन मे यह विचार आया कि मैं इधर का इधर ही जाऊँ, और आनन्द श्रमणोपासक को देखूँ। यह विचार कर वे कोल्लाक सन्निवेश मे स्थित पौषधशाला मे बैठे हुए आनन्द श्रावक के पास आए।

टीका—भिक्षार्थ घूमते हुए गौतम स्वामी कोल्लाक सन्निवेश मे पहुँचे वहाँ उन्होने परस्पर चर्चा करते हुए लोगो से आनन्द के विषय मे सुना कि किस प्रकार उसने सलेखना व्रत ले रखा है, और आमरण भोजन तथा पानी का परित्याग कर दिया है। उनके मन मे भी आनन्द के पास जाने की उत्कठा जागृत हुई।

आनन्द को गौतम स्वामी का अपने पास आने का निमन्त्रण—

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—"एवं खलु भन्ते! अहं इमेणं उरालेणं जाव धमणिसंतए जाए, नो संचाएमि देवाणुप्पियस्स अतियं पाउब्भवित्ता णं तिक्खुत्तोमु द्धाणेण पाए अभिवंदित्तए, तुब्भे णं भन्ते! इच्छाकारेणं अणभिओगेणं इओ चेव एह, जा णं देवाणुप्पियाणं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदामि नमसामि" ॥ ७८ ॥

छाया—तत खलु स आनन्द श्रमणोपासको भगवन्त गौतम ईर्यमाण पश्यति। दृष्ट्वा हृष्ट-यावद् हृदयो भगवन्त गौतम वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवम-

वादीत्—"एव खलु भदन्त ! अहमनेनोदारेण यावद् धमनिसन्ततो जात., नो शक्नोमि देवानुप्रियस्यान्तिकं प्रादुर्भूय त्रि कृत्वो मूर्ध्ना पादावभिवन्दितुम् । यूयं भदन्त ! इच्छाकारेणानभियोगेनेतश्चैव एत, यस्मात् खलु देवानुप्रियाणां त्रि कृत्वो मूर्ध्ना पादयोर्वन्दे नमस्यामि ।

शब्दार्थ—तए णं–तदनन्तर से आणदे समणोवासए—उस आनन्द श्रमणोपासक ने भगवं गोयम—भगवान् गौतम को एज्जमाण—आते हुए पासइ—देखा, पासित्ता—देख कर हट्ठ जाव हियए—हृष्ट तुष्ट यावत् प्रसन्न हृदय होकर भगव गोयम—भगवान गौतम को वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया वंदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार कहा भते !—हे भगवन् ! एव खलु—इस प्रकार अहं—मैं इमेणं उरालेणं—इस उदार तपस्या से जाव—यावत् धमणिसतए—धमनियो से व्याप्त जाए—हो गया हूँ, अत देवाणुप्पियस्स—देवानुप्रिय के अतियं—पास मे पाउब्भवित्ता ण—आकर तिक्खुत्तो—तीन वार मुद्धाणेणं—मस्तक से पाए—पैरो को अभिवदित्तए—वन्दना करने मे नो संचाएमि—समर्थ नही हूँ भते !—हे भगवन् आप ही इच्छाकारेणं—स्वेच्छापूर्वक अणभिओगेणं—और विना किसी दवाव के इओ चेव—यहाँ एह—पधारिए, जा णं—जिससे मैं देवाणुप्पियाणं—देवानुप्रिय को तिक्खुत्तो—तीन वार मुद्धाणेणं—मस्तक द्वारा पाएसु—चरणो मे वदामि नमंसामि—वन्दना नमस्कार करूँ ।

भावार्थ—आनन्द श्रावक ने भगवान् गौतम को आते हुए देखा और अतीव प्रसन्न हो कर उन्हे नमस्कार कर इस प्रकार कहा—"हे भगवन् ! मैं उग्रतपस्या के कारण अतीव कृश हो गया हूँ कि वहुना, सारा शरीर उभरी हुई नाडियो मे व्याप्त हो गया है । अत देवानुप्रिय के समीप आने तथा तीन वार मस्तक झुका कर चरणो में वन्दना करने मे असमर्थ हूँ । भगवन् ! आप ही स्वेच्छापूर्वक विना किसी दवाव के मेरे पास पधारिए, जिससे देवानुप्रिय के चरणो मे तीन वार मस्तक झुका कर वन्दना कर सकूँ ।

टीका—गौतम स्वामी को आया जान कर आनन्द अत्यन्त प्रसन्न हुआ । किन्तु उसमे इतनी शक्ति नही थी कि उठकर उनके सामने जाता और वन्दना नमस्कार

करता। आनन्द उपासकने लेटे ही लेटे प्रसन्नता प्रकट की और चरण स्पर्श करने के लिए उन्हे समीप आने की प्रार्थना की।

इच्छाकारेणं—इसका अर्थ है स्वेच्छापूर्वक, जैन आगमो मे गुरुजनो से किसी प्रकार का अनुरोध करते समय इस शब्द का प्रयोग मिलता है। अनभियोगेणं—अभियोग का अर्थ है—बलप्रयोग या बाध्य करना। प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द गौतम स्वामी से प्रार्थना करते समय अनभियोग शब्द का प्रयोग करता है। इस पाठ से तीन बातें प्रकट होती हैं—१ गौतम स्वामी के आने पर आनन्द का प्रसन्न होना, वह तपस्या से कृश हो गया था, और सारे शरीर पर नसे उभर आई थी, फिर भी उसके मन मे शान्ति थी और गुरुजन के आने पर उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा। २ वह इतना कृश हो गया था कि शय्या से उठने की सामर्थ्य ही नही रही, फिर भी गौतम स्वामी के प्रति आदर एव भक्ति प्रकट करने की पूरी भावना थी। इसीलिए उसने सकोच के साथ उन्हे अपने पास आने की प्रार्थना की। इसका अर्थ है श्रावक को सामान्यत गुरूजनो के समीप जाकर ही वन्दना नमस्कारादि करना चाहिए किन्तु अशक्ति आदि के कारण अपवाद रूप मे इस प्रकार की प्रार्थना कर सकते हैं। ३ गुरुजनो से प्रार्थना आदेश के रूप मे नही की जाती इसी लिए यहाँ 'इच्छाकारेण और अनभियोगेण' शब्दो का प्रयोग है।

आनन्द द्वारा अपने अवधि ज्ञान की सूचना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे जेणेव आणंदे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ ७९ ॥

तए णं से आणंदे भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—"अत्थि णं भंते ! गिहिणो गिहमज्झावसंतस्स ओहिनाणं समुपज्जइ ?" "हंता अत्थि", "जइ णं भंते ! गिहिणो जाव समुपज्जइ, एवं खलु भंते ! ममवि गिहिणो गिहमज्झावसंतस्स ओहिनाणे समुप्पण्णे—पुरत्थिमे णं लवणसमुद्दे पंचजोयण-सयाइं जाव लोलुयच्चुयं नरयं जाणामि पासामि ॥ ८० ॥

छाया—तत· खलु स भगवान् गौतम· येनैव आनन्द श्रमणोपासक तेनैव उपागच्छति ।

तत खलु स आनन्दो भगवतो गौतमस्य त्रि·कृत्वो मूर्ध्ना पादौ वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"अस्ति खलु भदन्त ! गृहिणो गृहमध्यावसतोऽवधिज्ञान समुत्पद्यते ?" "हन्त ! अस्ति ।"

"यदि खलु भदन्त ! गृहिणो यावत्समुत्पद्यते, एव खलु भदन्त ! ममापि गृहिणो गृहमध्याऽऽवसतोऽवधिज्ञानं समुत्पन्नम्—पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे पञ्चयोजन-शतानि यावत् लोलुपाच्युतं नरकं जानामि पश्यामि ।

शब्दार्थ—तए ण—तत्पश्चात् से भगवं गोयमे—भगवान् गौतम जेणेव आणदे समणोवासए—जहाँ आनन्द श्रमणोपासक था तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आए ।

तए णं—तदन्तर से आणंदे—आनन्द ने भगवओ गोयमस्स—भगवान् गौतम को तिक्खुत्तो—तीन वार मुद्धाणेण—मस्तक से पाएसु—पैरो मे वदइ—वन्दना की नमंसइ—नमस्कार किया, वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार कहा—अत्थि ण भंते—भगवन् ! क्या गिहिणो—गृहस्थ को गिहमज्झावसंतस्स—घर मे रहते हुए ओहिनाणं—अवधिज्ञान समुपज्जइ ?—उत्पन्न हो सकता है ? गौतम ने उत्तर दिया हता अत्थि—हाँ हो सकता है, पुन आनन्द ने कहा—भते !—हे भगवन् जइ ण—यदि गिहिणो जाव समुपज्जइ—गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है तो भंते !—हे भगवन् एवं खलु—इस प्रकार मम वि गिहिणो—मुझ गृहस्थ को भी गिहमज्झावसंतस्स—घर मे रहते हुए को ओहिनाणे समुप्पन्ने—अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, पुरत्थिमेणं—पूर्व की ओर लवण समुद्दे—लवण समुद्र पंच जोयण—सयाइ—पाँच सौ योजन जाव—यावत् लोलुयच्चुय—लोलुपाच्युत नरयं—नरक को जाणामि पासामि—जानता हूँ, देखता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के पास आए ।

उसने उन्हे तीन वार मस्तक झुका कर वन्दना नमस्कार किया और पूछा—भगवन् ! क्या गृहस्थ को घर मे रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ? गौतम—"हाँ आनन्द हो सकता है ।" आनन्द—"भगवन् यदि गृहस्थ को अवधिज्ञान

उत्पन्न हो सकता है, तो मुझे भी अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। उसके द्वारा मैं पूर्व की ओर लवणसमुद्र मे पाँच सौ योजन तक, अधोलोक मे लोलुपाच्युत नरक तक जानने तथा देखने लगा हूँ।

गौतम का संदेह और आनन्द का उत्तर—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे आणंदं समणोवासयं एवं वयासी—"अत्थि णं, आणंदा! गिहिणो जाव समुप्पज्जइ। नो चेव णं एअमहालए। त णं तुमं, आणंदा! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव तवोकम्मं पडिवज्जाहि"॥ ८१॥

तए णं से आणंदे भगवं गोयमं एवं वयासी—"अत्थि णं, भंते! जिण-वयणे संताणं तच्चाणं तहियाणं सब्भूयाणं भावाणं आलोइज्जइ जाव पडिवज्जिजज्जइ?" "नो इणट्ठे समट्ठे।"

"जइ ण भंते! जिण-वयणे संताणं जाव भावाणं नो आलोइज्जइ जाव तवो कम्मं नो पडिवज्जिजज्जइ, तं णं भंते! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह जाव पडिवज्जह।" ॥८२॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"अस्ति खलु आनन्द! गृहिणो यावत्समुत्पद्यते, नो चैव खलु एतन्महालयं, तत् खलु त्वमानन्द! एतस्य स्थानस्य (विषये) आलोचय यावत्तपः कर्म प्रतिपद्यस्व।"

ततः खलु स आनन्दो भगवन्तं गौतमेवमवादीत्—"अस्ति खलु भदन्त! जिन-वचने सता तत्त्वानां तथ्याना सद्भूतानां भावानां (विषये) आलोच्यते यावत् प्रतिपद्यते?" गौतम.—"नायमर्थः समर्थ.।"

(आनन्द.) "यदि खलु भदन्त! जिनवचने सतां यावद् भावानां (विषये) नो आलोच्यते यावत् तप कर्म नो प्रतिपद्यते, तत् खलु भदन्त! यूयमेवैतस्य स्थानस्य (विषये) आलोचयत यावत् प्रतिपद्यध्वम्।"

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **से भगवं गोयमे**—भगवान् गौतम **आणदं समणोवासय**—आनन्द श्रमणोपासक को **एव वयासी**—इस प्रकार बोले—**आणदा** ! हे आनन्द ! **अत्थि णं गिहिणो जाव समुप्पज्जइ**—यह ठीक है कि गृहस्थ को घर मे रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ! **नो चेव णं एअ महालए**—किन्तु इतना विशाल नही, **तं णं**—इसलिए **आणंदा** ! हे आनन्द ! **तुमं**—तुम **एयस्स ठाणस्स**—मृषावादरूप इस स्थान की **आलोएहि**—आलोचना करो **जाव**—यावत् उसे शुद्ध करने के लिए **तवोकम्मं**—तपस्या **पडिवज्जहि**—स्वीकार करो ।

तए णं—तत्पश्चात् **से आणंदो**—वह आनन्द **समणोवासए**—श्रमणोपसक **भगव गोयमं**—भगवान् गौतम को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला **भंते** !—हे भगवन् ! **अत्थि ण**—क्या **जिणवयणे**—जिन शासन मे **सताणं**—सत्य, **तच्चाण**—तात्त्विक, **तहियाण**—तथ्य तथा **सब्भूयाण**—सद्भूत **भावाणं**—भावो के लिए भी **आलोइज्जइ**—आलोचना की जाती है ? **जाव**—और यावत् **पडिवज्जिज्जइ**—तप कर्म स्वीकार किया जाता है ? गौतम ने उत्तर दिया—**नो इणट्ठे समट्ठे**—ऐसा नही है, तब आनन्द ने कहा—**भंते!** —हे भगवन् ! **जइण**—यदि **जिणवयणे**—जिन प्रवचन मे **संताण जाव भावाणं**—सत्य आदि भावो की **नो आलोइज्जइ**—आलोचना नही होती **जाव**—यावत् उनके लिए **तवोकम्मं**—तप कर्म **नो पडिवज्जिज्जइ**—नही स्वीकार किया जाता, **तं ण**—तो **भते** !—हे भगवन् ! **तुब्भ चेव**—आप ही—**एयस्स ठाणस्स**—इस स्थान के लिए **आलोएह**—आलोचना कीजिए **जाव**—यावत् **पडिवज्जह**—तप कर्म स्वीकार कीजिए ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम ने आनन्द श्रावक से यह कहा कि—"हे आनन्द ! गृहस्थ अवस्थ मे रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान तो उत्पन्न हो सकता है, परन्तु इतना विशाल नही । अत हे आनन्द ! इस असत्य भाषण की आलोचना करो यावत् आत्म शुद्धि के लिए उचित तपश्चरण स्वीकार करो ।"

इसके पश्चात् आनन्द भगवान् गौतम से बोला—"हे भगवन् ! क्या जिन प्रवचन मे सत्य, तात्त्विक, तथ्य और सद्भूत भावो के लिए भी आलोचना की जाती है ? यावत् तप कर्म स्वीकार किया जाता है ?"

भगवान् गौतम ने उत्तर दिया—"आनन्द ! ऐसा नही हो सकता ।"

आनन्द ने कहा—"भगवन् ! यदि जिन प्रवचन मे सत्य आदि भावो की आलोचना नही होती और उनके लिए तप कर्म स्वीकार नही किया जाता तो भगवन् ! आप ही इस विषय मे आलोचना कीजिए और तप कर्म ग्रहण कीजिए।"

टीका—आनन्द के पूछने पर गौतम स्वामी ने बताया कि गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है। किन्तु आनन्द ने जब अपने ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र का निरूपण किया तो गौतम स्वामी को सदेह हो गया उनकी यह धारणा थी कि गृहस्थ को इतना विशाल ज्ञान नही हो सकता। उन्हे आनन्द का कथन मिथ्या प्रतीत हुआ, परिणामस्वरूप उसे आलोचना तथा प्रायश्चित्त स्वरूप तपश्चरण के लिए कहा। आनन्द ने नम्रता किन्तु दृढतापूर्वक उत्तर दिया "भगवन् ! क्या सच्ची बात के लिए भी आलोचना तथा प्रायश्चित्त होता है ? यदि ऐसा नही है तो आप ही आलोचना तथा प्रायश्चित्त कीजिए।"

इस वक्तव्य मे कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। आनन्द ने मुनिव्रत स्वीकार नही किया था वह गृहस्थ था, उसका वेश भी गृहस्थ का ही था। फिर भी वह साधना की दृष्टि से उस अवस्था पर पहुँच गया था, जिसे हम आगम की भाषा मे श्रमणभूत कहते ह। जैन परम्परा मे वेश का उतना महत्व नही, जितना कि आध्यात्मिक भावो का महत्व है। यही कारण है कि सिद्धो के पन्द्रह भेदो में जैन साधु ही नही, गृहस्थ एव परिव्राजक, सन्यासी आदि जैनेतर साधुओ को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है। परन्तु उपर्युक्त विचार चर्चा से ध्वनित होता है कि गौतम स्वामी की धारणा कुछ विलक्षण भूमिका पर पहुँच गई थी। उनकी दृष्टि मे इस प्रकार का उच्च ज्ञान मुनि को ही उत्पन्न हो सकता है, गृहस्थ को नही, इसी धारणा के कारण उन्होने आनन्द को आत्म विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेने की प्रेरणा दी।

यहाँ मिथ्या भाषण रूप दोष के लिए गौतम स्वामी ने आनन्द को आलोचना तथा तप कर्म के लिए कहा और आनन्द ने गौतम स्वामी को। आलोचना का अर्थ है—अपने दोष को अच्छी तरह देखना या समझना और उसे पुन न करने का निश्चय करना, तप कर्म आन्तरिक शुद्धि के लिए किया जाता है, किसी प्रकार की भूल होने पर या दोष लगने पर यदि मनुष्य उस पर अच्छी तरह विचार करे, दोष के रूप मे समझ ले, पुन न करने का दृढ सकल्प करे और साथ ही भूल की तरत-

मता के अनुसार एक उपवास दो उपवास आदि छोटा-वडा तपश्चरण प्रायश्चित्त के रूप मे करले तो उस भूल के पुन होने की सभावना नही रहती। आत्म शुद्धि का यह मार्ग जैन परम्परा मे अब भी प्रचलित है। जैन साधु एव श्रावक अपनी भूलो के लिए प्रतिदिन चिन्तन एव पश्चात्ताप करते हैं और छोटी-वडी तपस्या अगीकार करते हैं।

गौतम स्वामी महातपस्वी, महाज्ञानी तथा कठोर चर्या वाले साधु थे। आनन्द ने उनके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी जिस प्रकार उत्तर दिया, वह ध्यान देने योग्य है। वह पूछता है—"क्या जैन शासन मे सत्य, तथ्य, तात्त्विक एव सद्भूत वस्तु के लिए भी आलोचना तथा प्रायश्चित्त करना होता है ?" उसका यह वाक्य वैदिक परम्परा से जैन परम्परा का भेद प्रकट करता है, उसका अभिप्राय है कि जैन परम्परा किसी की आज्ञा के कथन या शब्द पर आधारित नही है अर्थात् यहाँ किसी के कथन मात्र से कोई वात भली या बुरी नही होती, यहाँ तो सत्य ही एकमात्र कसौटी है।

गौतम का शंकित होकर भगवान् के पास आना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे, संकिए कंखिए विइगिच्छा समावन्ने, आणदस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, २ त्ता जेणेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ, २ त्ता एसणमणेसणं आलोएइ, आलोइत्ता भत्तपाणं पडिदंसइ, पडिदंसित्ता समणं भगवं वंदइ नमंसइ, २ त्ता एवं वयासी—"एवं खलु भंते! अहं तुब्भेहि अब्भणुण्णाए तं चेव सव्वं कहेइ, जाव तए णं अहं संकिए ३ आणंदस्स समणोवासगस्स अंतियाओ पडिणिक्खमामि, २ त्ता जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, तं णं भंते! कि आणंदेणं समणोवासएण तस्स ठाणस्स आलोएयव्वं जाव पडिवज्जेयव्व उदाहु मए ?"

"गोयमा!" इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-गोयमा! तुमं चेव णं तस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि, आणंदं च समणोवासय एयमट्ठं खामेहि ॥ ८१ ॥"

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतम आनन्देन श्रमणोपासकेनैवमुक्त. सन् शङ्कितः काक्षितो विचिकित्सा समापन्न आनन्दस्यान्तिकात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य येनैव दूतिपलाशश्चैत्यो येनैव श्रमणो भगवान् महावीर तेनैव उपागच्छति, उपागत्य श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्ते गमनागमनस्य प्रतिक्रामति, प्रतिक्रम्य एषणमनेषणमालोचयति, आलोच्य भक्तपानं प्रतिदर्शयति, प्रतिदर्श्य श्रमण भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"एव खलु भदन्त ! अह युष्माभिरभ्यनुज्ञात. तदेव सर्व कथयति यावत् ततः खल्वहं शङ्कित' ३ आनन्दस्य श्रमणोपासकस्य अन्तिकात् प्रतिनिष्क्रामामि प्रतिनिष्क्रम्य येनेवैह तेनेव हव्यमागत', तत्खलु भदन्त ! किमानन्देन श्रमणोपासकेन तस्य स्थानस्यऽऽलोचितव्य यावत् प्रतिपत्तव्यमुताहो मया ? "हे गौतम !" इति श्रमणो भगवान् महावीरो भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—"गौतम त्वमेव खलु तस्य स्थानस्य आलोचय यावत्प्रतिपद्यस्व आनन्दं च श्रमणोपासकमेतस्मै अर्थाय क्षमापय ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से भगव गोयमे**—भगवान् गौतम **आणदेणं समणोवासएण**—आनन्द श्रमणोपासक के द्वारा **एव वुत्ते समाणे**—इस प्रकार कहे जाने पर **संकिए**—शकित **कखिए**—काक्षित **विइगिच्छासमावन्ने**—और विचिकित्सा युक्त होकर **आणदस्स अतियाओ**—आनन्द के पास से **पडिणिक्खमइ**—निकले, **पडिणिक्खमित्ता**—निकल कर **जेणेव दूइपलासे चेइए**—जहाँ दूतिपलाश चैत्य था, **जेणेव समणे भगव महावीरे**—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ पहुँचे, **उवागच्छित्ता**—पहुँच कर **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर के **अदूरसामन्ते**—पास मे **गमणागमणाए**—गमनागमन का **पडिक्कमइ**—प्रतिक्रमण किया, **पडिक्कमित्ता**—प्रतिक्रमण करके **एसणमणेसणे**—एषणीय एव अनेपणीय की **आलोएइ**—आलोचना की, **आलोइत्ता**—आलोचना करके, **भत्तपाण**—आहार पानी **पडिदसेइ**—दिखलाया **पडिदसित्ता**—दिखाकर **समण भगव महावीर**—श्रमण भगवान् महावीर को **वदइ**—वन्दना की, **नमसइ**— नमस्कार किया, **वदित्ता नमसित्ता**—वदना नमस्कार करके **एवं वयासी**—इस प्रकार बोले **भंते !**—हे भगवन् ! **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही **अहं**—मै, **तुब्भेहि अब्भणुण्णाए**—आपकी अनुमति मिलने पर इत्यादि **त चेव सव्वं कहेइ**—सारी घटनाएँ कह सुनाई **जाव**—यावत् **तए णं**—उससे **अह**—मैं **सङ्किए**—शकित होकर **आणदस्स समणोवासगस्स**—आनन्द श्रमणोपासक के **अतियाओ**—पास

से **पडिणिक्खमामि**—निकला, **पडिणिक्खमित्ता**—निकल कर **जेणेव इहं**—यहाँ आप विराजमान हैं, **तेणेव**—वहाँ **हव्वमागए**—शीघ्रतापूर्वक आया हूँ, **त णं**—तो क्या **भंते**—भगवन् ! **किं**—क्या **तस्स ठाणस्स**—उस स्थान के लिए **आणंदेण समणोवासएणं**—आनन्द श्रमणोपासक को **आलोएयव्वं**—आलोचना करनी चाहिए, **जाव पडिवज्जेयव्व**—यावत् ग्रहण करना चाहिए **उदाहु**—अथवा **मए**—मुझे, **गोयमाइ**—'गौतम !' यह सम्बोधन करते हुए—**समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **भगवं गोयमं**—भगवान् गौतम को **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**गोयमा**—हे गौतम ! **तुमं चेव णं**—तुम ही **तस्स ठाणस्स**—उस स्थान की **आलोएहि**—आलोचना करो, **जाव**—यावत् **पडिवज्जाहि**—तप कर्म स्वीकार करो **आणंदं च समणोवासयं**—और आनन्द श्रमणोपासक से **एयमट्ठं**—इस बात के लिए **खामेहि**—क्षमा प्रार्थना करो।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के इस प्रकार कहने पर शका, काक्षा, एव विचिकित्सा से युक्त होकर आनन्द के पास से बाहर निकले, और दूतिपलाश चैत्य मे श्रमण भगवान् महावीर के पास पहुँचे। वहाँ भगवान् के समीप गमनागमन का प्रतिक्रमण किया। एपणीय और अनेपणीय की आलोचना की। भगवान् को भोजन पानी दिखलाया, वन्दना नमस्कार किया और कहा—"मैं आपकी अनुमति प्राप्त कर के इत्यादि गौतम ने पूर्वोक्त समस्त घटनाएँ कह सुनाई, अन्त मे कहा मैं शकित होकर आपकी सेवा मे आया हूँ।" भगवन् ! उस पाप स्थान की आलोचना तथा तपस्या आनन्द को करनी चाहिए अथवा मुझ को ?" 'गौतम'! इस प्रकार सम्बोधन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने उत्तर दिया, "हे गौतम ! तुम ही उस असत्य भाषण रूप पाप स्थान के लिए आलोचना यावत् तप कर्म स्वीकार करो तथा आनन्द श्रावक से इस अपराध के लिए क्षमा याचना करो।"

टीका—आनन्द का उत्तर सुनकर गौतम स्वामी विचार मे पड गए। इस विपय मे भगवान् से पूछने का निश्चय किया।

यहाँ सूत्रकार ने तीन शब्द दिए हैं—'सकिए कंखिए और विइगिच्छे', इन शब्दो का निरूपण पहले किया जा चुका है। गौतम स्वामी के मन मे सदेह उत्पन्न हो गया, और वह डाँवाडोल होने लगा।

वे भगवान् के पास पहुँचे और मुनि की आचार मर्यादा के अनुसार सर्वप्रथम एषणीय और अनेषणीय की आलोचना की। एषणीय का अर्थ है मुनि द्वारा ग्रहण करने योग्य वस्तुएँ और अनेषणीय का अर्थ है ग्रहण न करने योग्य वस्तुएँ। गौतम स्वामी ने शान्त चित्त से बैठ कर इस बात की आलोचना की कि मैंने कोई ऐसी वस्तु तो नही ली जो ग्रहण करने योग्य नही थी या भिक्षा के लिए घूमते समय एव उसे ग्रहण करते समय कोई मर्यादा विरुद्ध कार्य तो नही किया।

एषणीय, अनेषणीय की आलोचना के पश्चात् उन्हो ने भिक्षा मे लाया हुआ भोजन एव पानी भगवान् को दिखाया। जैन मुनियो की मर्यादा मे यह भी आवश्यक माना गया है कि वह भिक्षा मे भोजन वस्त्र आदि जो कुछ लाए सर्वप्रथम गुरु को दिखाए और उनके आदेशानुसार सेवन करे, यह मर्यादा मुनि को अनेक दोषो से बचाती है।

तदनन्तर गौतम स्वामी ने सारा वृत्तान्त भगवान् को सुनाया और पूछा कि आलोचना एव प्रायश्चित्त किसे करना चाहिए ? भगवान् ने उत्तर दिया—'गौतम ! तुम ही आलोचना एव प्रायश्चित्त करो, इतना ही नही उन्होने यह भी कहा कि इस बात के लिए आनन्द से क्षमा याचना करो। इससे ज्ञात होता है कि महावीर के शासन मे दोष किसी का हो उसे क्षमा नही किया जाता था। गौतम महावीर के प्रधान शिष्य थे। सघ मे उनका सर्वोच्च स्थान था, फिर भी भगवान् ने उनसे कहा, 'आनन्द से क्षमा याचना करो।'

गौतम द्वारा क्षमा याचना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे, समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, २ त्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ—जाव—पडिवज्जइ, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ ॥ ८४ ॥

तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जणवय विहारं विहरइ ॥ ८५ ॥

छाया—तत खलु स भगवान् गौतम श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य तस्य स्थानस्याऽऽलोचयति, यावत्प्रतिपद्यते, आनन्दं च श्रमणोपासकमेतदर्थं क्षमापयति।

ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचिद् बहिर्जनपदविहारं विहरति।

शब्दार्थ--तए णं—तदनन्तर से भगवं गोयमे—भगवान् गौतम ने समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के एयमट्ठं—उक्त कथन को तहत्ति—तथेति कह कर विणएणं—विनयपूर्वक पडिसुणेइ—स्वीकार किया, पडिसुणित्ता—स्वीकार करके तस्स ठाणस्स—उस स्थान की आलोएइ—आलोचना की जाव—यावत् पडिवज्जइ—तप कर्म स्वीकार किया, आणदं च समणोवासयं—और आनन्द श्रमणोपासक से एयमट्ठ—इस बात के लिए खामेइ—क्षमा याचना की।

तए णं—तत्पश्चात् समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित् बहिया जणवयविहार—दूसरे देशो मे विहरइ—विचरने लगे।

भावार्थ--गौतम ने भगवान् महावीर के उक्त कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया और उस दोष की आलोचना की तथा प्रायश्चित्त के रूप मे आनन्द श्रावक से क्षमा याचना की।

कुछ समय पश्चात् भगवान् महावीर दूसरे देशो को विहार कर गए और धर्म प्रचार करते हुए विचरने लगे।

टीका--गौतम स्वामी ने भगवान् के आदेश को 'तथेति' कहकर स्वीकार किया और आनन्द से क्षमा याचना की। यह बात उनके उदात्त चारित्र को प्रकट करती है। महातपस्वी, महाज्ञानी तथा प्रधान गणधर होने पर भी उन्हे श्रावक से क्षमा याचना करने मे सकोच नही हुआ। सघ मे सर्वमान्य होने पर भी उनके मन मे किसी प्रकार का अभिमान नही था।

तदनन्तर, भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम से प्रस्थान कर गए और धर्मोपदेश करते हुए विभिन्न जनपदो मे विचरने लगे।

आनन्द के जीवन का उपसहार—

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए बहूहिं सील-व्वएहिं जाव अप्पाणं भावेत्ता, वीसं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता, एक्कारस य उवा-

सग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइए-पडिक्कंते, समाहि-पत्ते, काल-मासे कालं किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिसगस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं अरुणे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥ ८६ ॥

छाया—तत खलु स आनन्द. श्रमणोपासको बहुभिः शीलव्रतैर्यावदात्मानं भावयित्वा विंशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयित्वा एकादश चोपासकप्रतिमा. सम्यक् कायेनस्पृष्ट्वा मासिक्या सलेखनयाऽऽत्मानं जोषयित्वा सप्टि भक्तान्यनशनेन-छित्वा आलोचित प्रतिक्रान्त. समाधिप्राप्त· कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मावतंसकस्य महाविमानस्योत्तरपौरस्त्ये खलु अरुणेविमाने देवत्वेनोपपन्नः, तत्र खलु अस्त्यकेषां देवानां चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, तत्र खलु आनन्दस्यापि देवस्य चत्वारि पल्योपमानि स्थिति. प्रज्ञप्ता ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से आणदे समणोवासए—वह आनन्द श्रमणोपासक बहूहिं सीलव्वएहिं—अनेक प्रकार के शील एव व्रतो के द्वारा जाव—यावत् अप्पाण—अपनी आत्मा को भावेत्ता—सस्कारित करके वीसं वासाइं—वीस वर्ष तक समणोवासग परियाग—श्रमणोपासक पर्याय को पाउणित्ता—पालन करके मासियाए सलेहणाए—एक महिने की सलेखना द्वारा अत्ताणं—अपनी आत्मा को झूसित्ता—शुद्ध करके सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता—साठ वार का अनशन पूरा करके आलोइए पडिक्कते—आलोचना प्रतिक्रमण करके समाहिपत्ते—समाधि मे लीन रहता हुआ, कालमासे कालकिच्चा—अन्तिम समय आने पर सोहम्मेकप्पे—सौधर्म कल्प मे सोहम्मवडिसगस्स—सौधर्मावतसक महाविमाणस्स—महाविमान के उत्तरपुरत्थिमेणं—उत्तरपूर्व अर्थात् ईशानकोण मे अरुणे विमाणे—अरुण विमान मे देवत्ताए—देवरूप मे उववन्ने—उत्पन्न हुआ, तत्थ णं—वहाँ अत्थेगइयाण देवाणं—अनेक देवो की चत्तारि पलिओवमाइं—चार पल्योपम की ठिई—स्थिति पण्णत्ता—कही गई है, तत्थ णं—वहाँ आणंदस्सवि देवस्स—आनन्द देव की भी चत्तारिपलिओवमाइं—चार पल्योपम की ठिई—स्थिति पण्णत्ता—कही गई है ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक वहुत से शीलव्रत आदि के द्वारा आत्मा को सस्कारित करता रहा, उसने श्रावक व्रतो का पालन किया। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की। अन्त मे एक मास की सलेखना ली और साठ वार के भोजन अर्थात् तीस दिन का अनशन करके मृत्युकाल आने पर समाधिमरण को प्राप्त हुआ। मर कर वह सौधर्म देवलोक, सौधर्मावतसक महाविमान के ईशानकोण मे स्थित अरुण विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ वहुत से देवताओ की आयु मर्यादा चार पल्योपम की वताई गई है। आनन्द की आयु मर्यादा भी चार पल्योपम है।

टीका—प्रस्तुत पाठ मे आनन्द के जीवन का उपसहार किया गया है। वह वीस वर्ष तक श्रमणोपासक रहा, साढे चौदह वर्ष वीतने पर घर छोड कर पौषधशाला मे रहने लगा। वहाँ उसने क्रमश ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ स्वीकार की और ग्यारहवी श्रमणभूत प्रतिमा मे साधु के समान जीवन व्यतीत करने लगा। ज्यो २ आत्म-शुद्धि होती गई उसका उत्साह वढता चला गया, क्रमश उसने अन्तिम सलेखना व्रत ले लिया और जीवन एव मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए शान्तचित्त होकर आत्म चिन्तन मे लीन रहने लगा। एक महीने के उपवास के पश्चात् शरीरान्त हो गया और सौधर्म देवलोक मे उत्पन्न हुआ।

उसके विचारो मे उत्तरोत्तर दृढता आती गई, उत्साह वढता गया और अन्त तक चित्त शान्त रहा। एक महीने का उपवास होने पर भी मनोदशा मे परिवर्तन नही हुआ। शास्त्रकार ने इस वात का पुन पुन उल्लेख किया है।

आनन्द का भविष्य—

मूलम्—**"आणंदेणं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गच्छिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ ?"**

"गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ" ॥ निक्खेवो ॥ ८७ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं पढमं आणंदज्झयणं समत्तं ॥

छाया—आनन्दः खलु भदन्त ! देवस्तस्माद्देवलोकादायुः क्षयेण, भवक्षयेण, स्थितिक्षयेण अनन्तरं चयं च्युत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोत्पत्स्येते ? गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेपः ।

शब्दार्थ—गौतम ने प्रश्न किया भंते !—हे भगवन् ! आणंदेणं—आनन्द देवे—देव ताओ—उस देवलोगाओ—देवलोक से आउक्खएणं—आयुक्षय होने पर, भवक्खएण—भवक्षय होने पर, ठिइक्खएणं स्थिति क्षय होने पर, अणंतरं—अनन्तर चयं चइत्ता—वहाँ से च्यवन करके कहिं—कहाँ गच्छिहिइ—जायगा ? कहिं—और कहाँ उववज्जिहिइ—उत्पन्न होगा ? भगवान् ने उत्तर दिया गोयमा—हे गौतम ! महाविदेहेवासे—महाविदेह वर्ष मे सिज्झिहिइ—सिद्ध होगा ।

भावार्थ—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! आनन्द देव आयु, भव तथा स्थिति के क्षय होने पर देव शरीर का परित्याग कर कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—हे गौतम ! आनन्द महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और वहाँ से सिद्धगति प्राप्त करेगा ।

निक्षेप–सुधर्मा स्वामी ने कहा—"हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथम अध्ययन का यह भाव बतलाया है, वैसा ही मै तुमसे कहता हूँ ।"

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द के भविष्य का कथन है । गौतम स्वामी ने पूछा भगवन् ! देवत्व की अवधि समाप्त होने पर आनन्द कहाँ उत्पन्न होगा ? भगवान् ने उत्तर दिया 'महा विदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा ।'

यहाँ दो बाते उल्लेखनीय है । पहली बात यह है कि जैन परम्परा मे देवत्व कोई शाश्वत् अवस्था नही है । मनुष्य तपस्या एव अन्य शुभ कर्मो द्वारा उसे प्राप्त करता है और उपार्जित पुण्य समाप्त हो जाने पर पुन मर्त्यलोक मे आ जाता है । ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में देवता शाश्वत् शक्ति के प्रतीक हैं, इतना ही नही जीवो के शुभाशुभ कर्मो के फल एव भविष्य पर उनका नियन्त्रण है । किन्तु उपनिषदो मे

देवत्व का वह स्थान नही रहा। वहाँ जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष या अमृतत्व की प्राप्ति हो गया और देव अवस्था को नश्वर वताया गया। वहाँ स्पष्ट रूप से वताया गया है—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" अर्थात् देवता भी पुण्यक्षीण हो जाने पर मर्त्यलोक मे आ जाते हैं। इतना ही नही वहाँ देवत्व प्राप्ति के साधन रूप यज्ञ आदि कर्मानुष्ठान को दुर्वल नौकाएँ वताया गया है, अर्थात् वे मानव को जीवन के चरम लक्ष्य तक नही पहुँचा सकती "प्लावह्येते अदृढाः यज्ञरूपा. अष्टादशोक्तमवरमेषु कर्म।" अर्थात् यज्ञ रूपी नौकाएँ जिनमे अठारह प्रकार का कर्म वताया गया है दृढ नही हैं।

दूसरी वात महाविदेह क्षेत्र की है, पहले यह वताया जा चुका है कि विश्व एक कालचक्र के अनुसार घूमता रहता है। उत्थान के पश्चात् पतन और पतन के पश्चात् उत्थान का अनवरत क्रम चल रहा है। जैन परम्परा मे उत्थान काल उत्सर्पिणी और पतन काल को अवसर्पिणी काल कहा गया है। प्रत्येक काल के छ विभाग किए गए हैं, जिन्हे आरा कहा जाता है। उत्सर्पिणी काल में प्रथम आरा अत्यन्त पाप पूर्ण होता है। उस समय मनुष्यो के विचार अत्यन्त क्रूर होते हैं, श्रावक अथवा साधु किसी प्रकार की धार्मिक मर्यादा का अस्तित्व नही होता। द्वितीय आरे मे पापवृत्ति अपेक्षाकृत न्यून होती है फिर भी उस समय कोई जीव मोक्ष का अधिकारी नही होता। तृतीय तथा चतुर्थ आरे मे उत्तरोत्तर धार्मिक भावना वढती जाती है। उसी समय तीर्थङ्कर एव अन्य महापुरुष उत्पन्न होते हैं और वे मोक्ष मार्ग का उपदेश करते हैं। पाँचवा आरा आने पर यह क्षेत्र कर्मभूमि के स्थान पर भोग भूमि वन जाता है अर्थात् उस समय लोग कल्पवृक्षो से स्वय प्राप्त वस्तुओ पर अपना निर्वाह करते हैं आजीविका के लिए खेती, युद्ध आदि किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता नही रहती। परिणामस्वरूप पापवृत्ति भी उत्तरोत्तर घटती चली जाती है। छठे आरे मे यह और भी कम हो जाती है। अवसर्पिणी के छठे के समान होता है। इसी प्रकार अवसर्पिणी का द्वितीय उत्सर्पिणी के पचम के समान अर्थात् अवसर्पिणी के प्रथम दोनो आरे भोग भूमि के माने जाते हैं। तृतीय, चतुर्थ मे ही तीर्थङ्करादि उत्पन्न होते हैं और धर्मोपदेश होता है। पञ्चम मे पुन धर्म का ह्रास होने लगता है और छठे मे वह सर्वथा लुप्त हो जाता है। वर्तमान समय अवसर्पिणी का पचम आरा माना जाता है, इस समय भरत क्षेत्र से कोई व्यक्ति मोक्ष नही प्राप्त कर सकता।

किन्तु महाविदेह क्षेत्र मे इस प्रकार परिवर्तन नही होता। वहाँ सदा चौथा आरा वना रहता है। तीर्थङ्कर विचरते रहते हैं, जिन्हे विहरमाण कहा जाता है और मोक्ष का द्वार सदा खुला रहता है। भरत क्षेत्र मे धर्मानुष्ठान द्वारा आत्म विकास करने वाले अनेक व्यक्तियो के लिए शास्त्रो मे वताया गया है कि वे स्वर्ग लोक मे जीवन पूरा करके महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगे और वहाँ मोक्ष प्राप्त करेगे। आनन्द श्रमणोपासक भी महाविदेह क्षेत्र मे सिद्धि-मोक्ष को प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत अध्यन की समाप्ति पर सुधर्मास्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—"हे जम्बू! मैंने भगवान् से जैसा सुना वैसा तुम्हे वता रहा हूँ। जिस प्रकार उपनिषदो मे याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी, जनक, श्वेतकेतु, जावाल, यमनचिकेता सवाद मिलते हैं और उनमे आत्म तत्त्व एव जगत् के गम्भीर रहस्यो का प्रतिपादन किया गया है, तथा वौद्ध साहित्य मे भगवान् वुद्ध तथा उनके प्रधान शिष्य आनन्द के परस्पर सवाद मिलते हैं। उसी प्रकार जैन आगमो मे सर्वप्रथम भगवान् महावीर तथा गौतम स्वामी के परस्पर संवाद हैं। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं और भगवान् उत्तर के रूप मे सिद्धान्तो का निरूपण करते हैं। दूसरे सवाद, सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी के वीच हैं, भगवान् महावीर की परम्परा सुधर्मा स्वामी से प्रारम्भ होती है। वे श्रुतकेवली और चौथे गणधर थे, उनके शिष्य जम्बू स्वामी के शिष्य प्रभव स्वामी हुए। वर्तमान जैन आगम सुधर्मास्वामी की रचना माने जाते हैं क्योकि उन्होने ही भगवान् महावीर से उन्हे अर्थ के रूप मे सुना और शब्दो के रूप मे स्वय गुम्फन करके जम्बू स्वामी को उपदेश किया।

॥ सप्तम उपासकदशाङ्ग-सूत्र का आनन्द अध्ययन समाप्त ॥

बीयं अज्झयणं

द्वितीय अध्ययन

द्वितीय अध्ययन के विषय में प्रश्न—

मूलम्—**जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते दोच्चस्स णं, भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ॥ ८६ ॥**

छाया—यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां प्रथमाध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः, द्वितीयस्य खलु भदन्त ! अध्ययनस्य कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ?

शब्दार्थ—**जइ णं**—यदि **भंते !**—भगवन् ! **समणेणं भगवया महावीरेण**—श्रमण भगवान् महावीर ने **जाव**—यावत् **संपत्तेण**—जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, **सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं**—उपासकदशा नामक सातवें अंग के **पढमस्स अज्झयणस्स**—प्रथम अध्ययन का **अयमट्ठे**—यह अर्थ **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया है तो **भंते !**—हे भगवन् ! **दोच्चस्स ण अज्झयणस्स**—द्वितीय अध्ययन का **के अट्ठे**—क्या अर्थ **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया है ?

भावार्थ—आर्य जम्बूस्वामी ने पूछा—भगवन् ! यावत् मोक्ष के प्राप्त हुए श्रमण भगवान् महावीर ने यदि सातवें अंग उपासकदशा के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है तो हे भगवन् ! दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ बताया है ?

टीका—प्रस्तुत सूत्र द्वितीय अध्ययन की उत्थानिका है जिस मे कामदेव श्रावक का वर्णन है। आर्य जम्बूस्वामी प्रथम आनन्द विषयक अध्ययन समाप्त होने पर द्वितीय अध्ययन के विषय मे पूछते हैं।

वीय कामदेवज्झयण

कामदेव का जीवनवृत और पौषधशाला गमन—

मूलम्—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नाम नयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए। जियसत्तू राया। कामदेवे गाहावई। भद्दा भारिया। छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। समोसरणं। जहा आणंदो तहा निग्गओ, तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ।

सा चेव वत्तव्वया जाव जेट्ठ-पुत्तं-मित्त-नाइं आपुच्छित्ता, जेणेव पोसहसाला, तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता जहा आणंदो जाव समणस्स भगवओ महावोरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताण विहरइ॥ ६०॥

छाया—एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगर्यासीत्। पूर्णभद्रश्चैत्य। जितशत्रू राजा। कामदेवो गाथापति। भद्रा भार्या। षड् हिरण्यकोटचो निधानप्रयुक्ता षड् वृद्धिप्रयुक्ता, षट् प्रविस्तरप्रयुक्ता, षड् व्रजा दश गोसाहस्त्रिकेण व्रजेन। समवसरणम्। यथानन्दस्तथानिर्गत। तथैव श्रावक धर्म प्रतिपद्यते, सा चे वक्तव्यता। यावज्ज्येष्ठपुत्र-मित्र-ज्ञातिमापृच्छ्य येनैव पौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य यथानन्दो यावत् श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकी धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—एव खलु जम्बू !—हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेण—उस काल तेणं समएण—उस समय चम्पा नामं—चम्पा नामक नयरी—नगरी होत्था—थी, पुण्णभद्दे चेइए—पूर्णभद्र नामक चैत्य था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था। कामदेवे गाहावई—कामदेव गाथापति था और उनकी भद्दा भारिया—भद्रा भार्या थी। छ हिरण्ण कोडीओ—छ हिरण्य कोटि अर्थात् सुवर्ण मुद्राएँ निहाण पउत्ताओ—उसके खजने मे रखे थे छ वुड्ढि पउत्ताओ—छह करोड व्यापार मे लगे थे छ पवित्थर पउत्ताओ—छह करोड प्रविस्तर अर्थात् गृह एव तत्सम्बन्धी उपकरणो मे लगे हुए थे, छ व्वया—छह व्रज थे दसगोसाहस्सिएणं वएण—एक व्रज मे दस हजार गौएँ थीं, अर्थात् साठ हजार गौएँ थी। समोसरण—भमवान् आए और उनका समव-

सरण हुआ। जहा—जिस प्रकार आणदे—आनन्द घर से निकला था वह भी घर से उसी प्रकार निग्गए—निकला, तहेव—उसी तरह सावय धम्म—श्रावक धर्म को पडिवज्जइ—ग्रहण किया, सा चेव—वही वत्तव्वया—वक्तव्यता यहाँ भी समझनी चाहिए, जाव—यावत् जेट्ठपुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र मित्तनाइं—और मित्रो तथा ज्ञातिजनो को आपुच्छित्ता—पूछकर जेणेव—जहाँ पोसहसाला—पौषधशाला थी तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आया, उवागच्छित्ता—आकर जहा आणंदो—आनन्द के समान जाव—यावत् समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के अंतियं—समीपस्वीकृत धम्मपण्णत्ति—धर्म प्रज्ञप्ति को उवसंपज्जित्ताणं—ग्रहण करके विहरइ—विचरने लगा।

भावार्थ—सुधर्मास्वामी जी ने उत्तर दिया हे जम्बू! उस काल उस समय चम्पा नामक नगरी थी, वहाँ पूर्णभद्र चैत्य और जितशत्रु राजा था। वही कामदेव गाथापति था और उसकी भद्रा नाम वाली भार्या थी। छह करोड हिरण्य उसके खजाने मे थे। छह करोड़ व्यापार मे लगे थे। छह करोड गृह, तत्सम्बन्धी उपकरण, वस्त्र रथ, पोत आदि मे लगे हुए थे। छह व्रज थे, प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाए थी, अर्थात् साठ हजार पशुधन था। भगवान् महावीर पधारे और उनका समवसरण हुआ। कामदेव भी आनन्द की तरह घर से निकला और श्रमण भगवान् महावीर के पास आया। उसी प्रकार श्रावकधर्म स्वीकार किया। यह सब वृत्तान्त आनन्द के समान समझना चाहिए यावत् कामदेव भी ज्येष्ठ पुत्र, मित्रवर्ग तथा जाति बन्धुओ से पूछ कर पौषधशाला मे गया। वहाँ जाकर आनन्द की तरह श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्मप्रज्ञप्ति अङ्गीकार करके विचरने लगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे कामदेव गाथापति का वर्णन है, व्रत ग्रहण से लेकर पौषधशाला मे जाकर निरन्तर धर्मानुष्ठान तक की घटनाएँ इसकी भी आनन्द के समान हैं।

मिथ्यादृष्टि देव का उपसर्ग—

मूलम्—**तए णं तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स पुव्वरत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे मायी मिच्छ-दिट्ठी अंतियं पाउब्भूए ॥ ९० ॥**

छाया—तत खलु तस्य कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्रकालसमये एको देवो मायी मिथ्यादृष्टिरन्तिकं प्रादुरभूत् ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स—उस कामदेव श्रमणोपासक के अंतिय—समीप पुव्वरत्तावरत्ताकाल समयंसि—मध्य रात्रि मे एगे देवे—मायीमिच्छदिट्ठी—जो कि मायावी और मिथ्या दृष्टि था पाउब्भूए—प्रकट हुआ ।

भावार्थ—तदनन्तर मध्यरात्रि मे कामदेव श्रमणोपासक के समीप एक मायावी और मिथ्यादृष्टि देव प्रकट हुआ ।

टीका—धर्म निष्ठ पुरुषो को साधना से विचलित करने तथा उनके अनुष्ठान मे विघ्न डालने के लिए दुष्ट प्रकृति वाले यक्ष-राक्षस आदि का प्रकट होना भारत की समस्त परम्पराओ मे मिलता है। वैदिक परम्परा मे ऋषियो द्वारा किए गए यज्ञो मे विघ्न डालने के लिए राक्षस आते हैं। इसी प्रकार विविध व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली तपस्या मे भी यक्ष, राक्षस असुर आदि विघ्न डालते हैं। इसी प्रकार जैन परम्परा मे भी इनका वर्णन मिलता है।

प्रस्तुत पाठ मे देवता को मिथ्यात्वी अर्थात् मिथ्यादृष्टि बताया गया है। इसका अर्थ है वह जैन धर्म का विरोधी था। जैन शास्त्रो मे बताया गया है कि बहुत से तापस जैन धर्म न मानने पर भी तपस्या के कारण अमुक जाति के देव बन जाते हैं और उनकी धर्म सम्बन्धी विद्वेष भावना वहाँ भी बनी रहती है।

देव द्वारा विकराल रूप धारण—

मूलम्—तए णं से देवे एगं महं पिसाय-रूवं-विउव्वइ । तस्स णं देवस्स पिसाय-रूवस्स इम एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—सीसंसे गो-कलिंज-संठाण-संठियं, सालिभसेल्लसरिसा सेसा कविलतेएणं दिप्पमाणा, महल्ल-उट्टिया-कभल्ल-संठाण-संठियं निडालं, मुगुंस पुञ्छं व तस्स भुमगाओ फुग्ग-फुग्गाओ विगय-बीभच्छ-दंसणाओ, सीस-घडि-विणिग्गयाइं अच्छीणी विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, कण्णा जह सुप्प-कत्तरं चेव विगय-बीभच्छ-दंसणिज्जा,

उरब्भ-पुड-संन्निभा से नासा, झुसिरा-जमल-चुल्ली-संठाण-संठिया दोवि तस्स नासा पुडया, घोडय-पुञ्छं व तस्स मंसूइं कविल-कविलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं उट्ठा उट्टस्स चेव लंबा, फालसरिसा से दंता, जिब्भा जह सुप्प-कत्तरं चेव-विगय-बीभच्छ-दंसणिज्जा, हल-कुद्दाल-संठिया से हणुया, गल्ल-कडिल्लं च तस्स खड्डुं फुट्टं कविलं फरुसं महल्लं, मुइंगाकारोवमे से खंधे, पुर-वर-कवाडोवमे से वच्छे, कोट्ठिया-संठाण-संठिया दोवि तस्स बाहा, निसा-पाहाण-संठाण-संठिया दो वि तस्स अग्ग-हत्था, निसा-लोढ-संठाण-संठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडग-संठिया से नक्खा, ण्हाविय-पसेवओ व्व उरंसि लंबंति दो वि तस्स थणया, पोट्टं अयकोट्ठओ व्व वट्टं, पाण-कलंद सरिसा से नाही, सिक्कग संठाण संठिया से नेत्ते, किण्ण पुड संठाण संठिया दो वि तस्स वसणा, जमल कोट्ठिया-संठाण-संठिया दो वि तस्स ऊरू, अज्जुण-गुट्ठं व तस्स जाणूइं कुडिल-कुडिलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, जंघाओ कक्खडीओ लोमेहि उवचियाओ, अहरी-संठाण-संठिया दोऽवि तस्स पाया, अहरी-लोढ-संठाण-संठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पि-पुड-संठिया से नक्खा ।। ९१ ।।

छाया—ततः खलु स देव एक महान्त पिशाचरूप विकुरुते । तस्य खलु देवस्य पिशाच रूपस्यायमेतद्रूपो वर्णकव्यास प्रज्ञप्तः,–शीर्ष तस्य गोकलिञ्ज सस्थान सस्थित· शालिभसेल्लसदृशास्तस्य केशा कपिलतेजसादीप्यमानाः, महदुष्ट्रिकाकभल्ल संस्थान सस्थित ललाटं, मुगुंसपुच्छ वत्तस्य भुवौ फुग्गफुग्गौ विकृत बीभत्सदर्शनौ, शीर्षघटी विनिर्गते अक्षिणी विकृतबीभत्सदर्शने, कर्णौं यथा शूर्प कर्त्तरे इव विकृतबीभत्स दर्शनीयौ, उरभ्रपुट्टसन्निभा तस्य नासा शुषिरा, यमलचुल्ली संस्थान सस्थिते द्वे अपि तस्य नासापुटे, घोटकपुच्छ वत्तस्य श्मश्रूणि कपिलकपिलानि विकृत बीभत्सदर्शनानि, ओष्ठौ उष्ट्रस्येव लम्बौ, फालसदृशास्तस्य दन्ता·, जिह्वा यथा सूर्पकर्त्तरमेव विकृत बीभत्सदर्शनीया, हलकुदाल संस्थिता तस्य हनुका, गल्लकडिल्ल च तस्य गर्त स्फुटं कपिलं परुष महत् मृदङ्गाकारोपमौ तस्य स्कन्धौ, पुरवरकपाटोपम तस्य वक्षः, कोष्टिकासंस्थानसस्थितौ द्वावपि बाहू, निशापाषाण-सस्थान-सस्थितौ द्वावपि तस्या-

ग्रहस्तौ, निशालोष्ट संस्थानसंस्थिता हस्तयोरंगुल्यः, शुक्तिपुटक संस्थितास्तस्य नखाः, नापितप्रसेवकाविवोरसि लम्बेते द्वावपि स्तनकौ, उदरमय.कोष्ठकवद्वृत्तं, पानकलन्दसदृशी तस्य नाभिः, शिक्यक संस्थानसंस्थिते तस्य नेत्रे, किण्वपुट संस्थान संस्थितौ द्वावपि तस्य वृषणौ, यमल कोष्ठिका संस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्योरू, अर्जुनगुच्छ वत्तस्य जानुनी कुटिल कुटिले विकृतवीभत्सदर्शने, जंघे करकटी रोमभिरुपचिते, अधरी संस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्य पादौ, अधरी लोष्टसंस्थानसंस्थिताः पादेष्वंगुल्य', शुक्तिपुटसंस्थितास्तस्य नखाः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे—उस देव ने एगं महं—एक महान् विकराल पिसायरूवं—पिशाच रूप धारण किया, तस्सणं—उस देवस्स—देव के पिसायरूवस्स—पिशाच रूप का इमे एयारूवे—इस प्रकार से वण्णावासे—सविस्तर वर्णन पण्णत्ते—किया गया है—से—उसका सीसं—सिर गोकलिजसंठाण संठियं—गोकलिज—(बांस की टोकरी अथवा धातु आदि से बना हुआ पात्र जिसमे गाय को चारा दिया जाता है) के समान था, सालिभसेल्ल सरिसा—शालिभसेल्ल अर्थात् चावल आदि की मंजरी के तन्तुओ के समान रूखे और मोटे कविल तेएणं दिप्पमाणा—भूरे रंग के चमक वाले से—उसके केसा—केश थे, महल्ल-उट्टिया-कभल्ल-संठाण-संठियं निडालं—उसका ललाट बडे मटके के कपाल जैसा था, तस्स—उसकी भुमगाओ—भौहे मुगुंस पुञ्छं वा—गिलहरी की पून्छ के समान फुग्गफुग्गाओ—बिखरी हुई और विगयबीभच्छदंसणिज्जा—विकृत और वीभत्स दिखाई देती थी, अच्छीणि—आखे सीसघडिविणिग्गयाइं—मटकी के समान सिर से बाहर निकली हुई थी, विगयबीभच्छदंसणाइं—विकृत और वीभत्स दीखती थी, कण्णा—कान जह सुप्प कत्तरं चेव—टूटे हुए छाज के समान विगयबीभच्छदंसणिज्जा—देखने मे विकृत और भयकर थे, से नासा—उसकी नाक उरब्भपुडसन्निभा—मेढे की नाक जैसी थी। दोवि तस्स नासा पुडया—उसकी नाक के दोनो छेद झूसिरा—गड्ढे समान और जमलचुल्लीसंठाणसंठिया—जुड़े हुए दो चूल्हों के समान थे तस्स मंसूइं—उसकी मून्छे घोडय-पुन्छ व—घोड़े की पून्छ जैसी और कविल कविलाइं—भूरे रग की तथा विगयबीभच्छदंसणाइं—विकृत और वीभत्स थी, उट्ठा—ओष्ठ उट्टस्स चेव—ऊण्ट के ओठ की तरह लंबा—लम्बे थे से—उसके दंता—दान्त फालसरिसा—हल की लोहे की फाल के समान तीखे थे। जिब्भा—जिह्वा जह सुप्पकत्तरं चेव—छाज के टुकडे के समान किगयबीभच्छदंसणिज्जा—विकृत

और देखने मे वीभत्स थी, **से हणुया**—उसकी ठुड्डी **हलकुद्दालसठिया**—हल के अग्र भाग के समान वाहर उभरी हुए थी **गल्लकडिल्लं च तस्स**—कढाही के समान अन्दर धँसे हुए उसके गाल **खड्डं**—गड्ढे वाले **फुट्टं**—फटे हुए अर्थात् घाव वाले **कविलं फरुस**—भूरे कठोर **महल्लं**—तथा विकराल थे। **से खंधे**—उसके कधे **मुइंगाकारोवमे**—मृदङ्ग के समान थे, **से वच्छे**—उसका वक्ष स्थल छाती **पुरवरकवाडोवमे**—नगर के फाटक के समान चौडा था, **दो वि तस्स वाहा**—उसकी दोनो भुजाएँ **कोट्ठिया संठाण सठिया**—कोष्ठिका (हवा रोकने के या इकट्ठी करने के लिए भस्त्रा-धौकनी के मुँह के सामने वनी हुइ मिट्टी की कोठी) के समान थी, **दोवि तस्स अग्गहत्था**—उसकी दोनो हथेलियाँ **निसापाहाणसंठाणसंठिया**—चक्की के पाट के समान मोटी थी, **हत्थेसु-अंगुलीओ**—हाथो की अगुलियाँ **निसालोढ संठाणसंठियाओ**—लौढी के समान थी **से नखा**—उसके नख **सिप्प पुडगसंठिया**—सीपियो के समान थे **दोवि तस्स थणया**—उसके दोनों स्तन **ण्हावियपसेवओ व्व**—नाई की गुच्छी (उस्तरे आदि रखने के चमडे की थैलियो) के समान **उरंसि लंबंति**—छाती से लटक रहे थे **पोट्टं**—पेट **अयकोट्ठओ व्व वट्टं**—लोहे के कुसूल **कोठे**—के समान गोल था, **से नाही**—उसकी नाभि **पाणकलदसरिसा**—जुलाहो द्वारा वस्त्र मे लगाए जाने वाले आटे के जल (माँड वनाने के बर्तन के समान गहरी थी, **से नेत्ते**—उसके नेत्र **सिक्कगसंठाण संठिए**—छीके के समान थे **दोवि तस्स-वसणा**—उसके दोनो अण्डकोष **किण्ण पुडसठाणसठिया**—विखरे हुए दो थैलो के समान थे। **दोवि तस्स ऊरू**—उसकी दोनो जघाएँ **जमल कोट्ठियासंठाणसठिया**—समान आकार वाली दो कोठियो के समान थी, **तस्स जाणूइं**—उसके घुटने **अज्जुणगुट्ठ व**—अर्जुन वृक्ष के गुच्छे के समान **कुडिल कुडिलाइ विगयबीभच्छदसणाइ**—टेढे-मेढे विकृत और वीभत्स भयानक दर्शन वाले थे। **जंघाओ**—उसकी पिण्डलियाँ **कक्खडीओ**—कठोर और **लोमेहिं उवचियाओ**—वालो से भरी हुई थी। **दोवि तस्स पाया**—उसके दोनो पैर **अहरी सठाण सठिया**—दाल पीसने की शिला की तरह थे। **पाएसु अगुलीओ**—पैरो की अगुलियाँ **अहरी लोढ सठाण संठियाओ**—लोढी की आकृति वाली थी। **से नक्खा**—उन अगुलियो के नख **सिप्पिपुडसठिया**—सीपियो के समान थे।

भावार्थ—उस मायावी, मिथ्यादृष्टि देव ने एक विकराल पिशाच का रूप धारण किया। उसका मस्तक गोकलिज अर्थात् गाय को चारा डालने के उपयोग मे आने

वाली टोकरी या कुण्ड के सदृश था। शालिभसेल्ल—अर्थात् धान्य आदि की मजरी के तन्तुओ के समान रूखे और मोटे भूरे रग के केश थे। ललाट मटके के समान लम्बा-चौडा था। भौहे गुलहरी की पून्छ के समान बिखरी हुई, और वीभत्स थी। आँखे अत्यन्त विकृत टेढी-मेढी थी, ऐसा प्रतीत होता था जैसे मटके मे दो छेद हो। कान टूटे हुए छाज के समान थे। नाक मेढे जैसी थी और उसमे गड्ढे के समान छेद थे। नाक के छेद जुडे हुए दो चूल्हो के समान थे। मून्छे घोडे की पून्छ के समान रूखी, भूरी तथा विकृत थी। होंट ऊँट के होटो के समान लम्बे थे। दाँत फाल के समान तीखे थे। जीभ छाज के टुकड़े के समान विकृत और बीभत्स थी। उसकी ठुड्डी (जबडे) हल कुद्दाल के समान उभरी थी। गाल कडाही के समान अन्दर को धँसे हुए गढे जैसे थे और फटे हुए भूरे और वीभत्स थे। कधे ढोल के समान थे। छाती नगर-कपाट के समान चौडी थी। भुजाएँ कोष्ठिका (फूँकनी) के समान थी। हथेलियाँ चक्की के पाट के समान मोटी थी। हाथो की अंगुलियाँ लोढी के समान थी। नाखून सीप के समान थे। स्तन छाती पर से लटक रहे थे, जैसे नाई के उपकरण रखने की थैलियाँ हो। पेट लोहे के कोठे (कुसूल) के समान गोल था। नाभि ऐसी गहरी थी जैसी जुलाहे का आटा–माड घोलने का कुडा हो। नेत्र छीके के समान थे। अण्डकोष भरे हुए दो थैलो (बोरियो) के समान थे। जघाएँ समान आकार वाली दो कोठियो के समान थी। घुटने अर्जुन वृक्ष के गुच्छ के समान टेढे-मेढे, विकृत और वीभत्स थे। पिण्डलियाँ कठोर और बालो से भरी थी, पैर दाल पीसने की शिला की तरह थे। पैरो की अगुलियो लोढी जैसी आकृतिवाली और पैरो के नख सीप के समान थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे पिशाच के भयकर रूप का वर्णन है। उसके प्रत्येक अङ्ग की जो उपमाएँ दी गई हैं वे बडी विचित्र हैं। साहित्य शास्त्र मे प्राय ऐसी नही मिलती। रामायण तथा अन्य काव्यो मे राक्षसो के भयकर रूप का वर्णन है। ताडका, शूर्पनखा आदि राक्षसियो ने भी अनेक विकराल रूप धारण किए थे किन्तु वह वर्णन दूसरे प्रकार का है। प्रस्तुत वर्णन मे जो चित्रण है वह मानव वश विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पिशाच का रूप धारण करने वाले इस देवता को मिथ्यात्वी कहा गया है, जो जैन साधक कामदेव को उसकी साधना से विचलित

करने आया है। जैन परम्परा के साथ इस प्रकार का धार्मिक विद्वेष किस परम्परा मे था, यह भी विचारणीय है। प्रतीत होता है पिशाच का सम्बन्ध किसी तापस परम्परा से है जिसका विरोध भगवान् पार्श्वनाथ ने किया था। उनके जीवन मे भी कमठ नाम के तापस का वर्णन मिलता है।

पिशाच का विकराल रूप और कामदेव को तर्जना—

मूलम्—लडह-मडह-जाणुए विगय-भग्ग-भुग्ग-भुमए अवदालिय-वयण-विवर-निल्लालियग्गजीहे, सरड-कय-मालियाए, उंदुर-माला-परिणद्ध-सुकय चिंधे, नउल-कय-कण्ण-पूरे, सप्प-कय-वेगच्छे, अप्फोडंते, अभिगज्जंते, भीम-मुक्कट्टहासे, नाणा-विह-पंच-वण्णेहि लोमेहि उवचिए एगं मह नीलुप्पल-गवल-गुलिय-अयसि-कुसुम-प्पगासं असिं खुर-धारं गहाय, जेणेव पोसह-साला, जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता आसु-रत्ते रुट्ठे-कुविए चंडिक्किए मिसिमिसियमाणे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"हं भो कामदेवा! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थिया! दुरंत-पंत-लक्खणा! हीण - पुण्ण - चाउद्दसिया! हिरि-सिरी-धिइ-कित्ति-परिवज्जिया! धम्मकामया! पुण्णकामया! सग्गकामया! मोक्ख-कामया! धम्मकंखिया! पुण्णकंखिया! सग्गकंखिया! मोक्खकंखिया! धम्म पिवासिया! पुण्ण पिवासिया! सग्गपिवासिया! मोक्ख-पिवासिया! नो खलु कप्पइ तव देवाणुप्पिया! जं सीलाइं वयाइं वेरमणाइं पच्चक्खाणाइं पोसहोववासाइं चालित्तए वा, खोभित्तए वा, खंडित्तए वा, भंजित्तए वा, उज्झित्तए वा, परिच्चइत्तए वा, तं जइ णं तुमं अज्ज सीलाइं जाव पोसहोववासाइं न छड्डेसि न भंजेसि, तो तं अहं अज्ज इमेणं नीलुप्पल जाव असिणा खंडा-खंडिं करेमि, जहा ण तुमं देवाणु-प्पिया, अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ ९२ ॥"

छाया—लडह-मडह-जानुक, विकृतभग्न-भुग्न भ्रू., अवदारित-वदन-विवर-निर्लालिताग्र जिह्व., सरटकृतमालिक., उन्दुरमाला परिणद्धसुकृतचिन्ह, नकुलकृत-

कर्णपूरः, सर्पकृतवैकक्ष, आस्फोटयन्, अभिगर्जन्, भीममुक्ताट्टाट्टहास, नानाविधि-पञ्चवर्ण रोमैरूपचितः, एकं महान्तं नीलोत्पलगवल गुलिकाऽतसी कुसुमप्रकाशमसिं क्षुर-धारं गृहीत्वा येनैव पौषधशाला येनैव कामदेवः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति। उपागत्य आशुरक्तः, रुष्टः, कुपितः, चण्डितः, मिसमिसायमानः कामदेवं श्रमणोपासक-मेवमवादीत्—"हं भो कामदेव! श्रमणोपासक! अप्रार्थित-प्रार्थक! दुरन्तप्रान्त-लक्षण! हीनपुण्यचातुर्दशिक! ह्री-श्री-धृति-कीर्ति परिवर्जित! धर्मकाम! पुण्य-काम! स्वर्गकाम! मोक्षकाम! धर्मकांक्षिन्! पुण्यकांक्षिन्! स्वर्गकांक्षिन्! मोक्षकांक्षिन्! धर्मपिपासित! पुण्यपिपासित! स्वर्गपिपासित! मोक्षपिपासित! नो खलु कल्पते तव देवानुप्रिय! यत् शीलानि, व्रतानि, विरमणानि, प्रत्या-ख्यानानि, पौषधोपवासानि, चालयितुं वा, क्षोभयितुं वा, खण्डितुं भंक्तुं वा, उज्झितुं वा, परित्यक्तुं वा, तद् यदि खलु त्वमद्य शीलानि यावत्पौषधोपवासानि न त्यक्षसि न भंक्ष्यसि तर्हितेऽहमद्यानेन नीलोत्पल यावदसिना खण्डाखण्डि करोमि यथा खलु त्वं देवानुप्रिय! आर्त्तदुःखार्त्त वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद् व्यपरो पयिष्यसे।

शब्दार्थ—**लडह मडह जाणुए**—उसके घुटने लम्बे और लडखडा रहे थे। **विगय-भग्ग-भुग्ग-भुमए**—भ्रू भौंहे—विकृत, खण्डित तथा कुटिल थी, **अवदारिय वयण विवर निल्लालियग्गजीहे**—मुख फाड रखा था, जीभ वाहर निकाल रखी थी। **सरडकय मालियाए**—सरटो की माला सिर पर लपेट रखी थी **उंदुरुमालापरिणद्ध सुकयचिंधे**—वँधी हुई चूहो की माला उसकी पहचान थी। **नउलकयकण्णपूरे**—कर्ण फूल के स्थान पर नेवले लटक रहे थे, **सप्पकयवेगच्छे**—सॉपो का वैक्ष अर्थात् दुपट्टा बना रखा था, **अप्फोडते**—करास्फोट हाथ फटकारता हुआ, **अभिगज्जते**—गर्जना करता हुआ, **भीममुक्कट्टट्टहासे**—भयङ्कर अट्टहास करता हुआ, **नानाविह पंचवण्णेहि लोमेहिं उवचिय**—नानाविध पाचवर्ण के रोमो से आवृत्त शरीर वह पिशाच **एगं मह**—एक महान् **नीलुप्पल**—नील उत्पल, **गवलगुलय**—महिष के सीग के समान नीले **अतसी कुसुम पगासं**—अलसी के फूल जैसी, **असिखुरधार**—तीक्ष्ण धार वाली तलवार को **गहाय**—लेकर **जेणेव**—जहाँ **पोसहसाला**—पौषधशाला थी, **जेणेव**—और जहाँ **कामदेव समणोवासए**—कामदेव श्रमणोपासक था **तेणेव**—वहाँ **उवागच्छइ**—आया। **उवा-**

गच्छित्ता—आकर **आसुरत्ते रुट्ठे कुविए चंडिविकए मिसिमिसीयमाणे**—क्रूरता से रुष्ट, कुपित, क्रोधोन्मत्त तथा हाँपता हुआ **कामदेवं समणोवासयं**—कामदेव श्रमणोपासक को **एवं वयासी**—इस प्रकार वोला—**हंभो ! कामदेवा समणोवासया !**—अरे कामदेव श्रमणोपासक ! **अपत्थियपत्थिया**—अप्रार्थित अर्थात् मृत्यु के प्रार्थी ! **दुरंतपंतलक्खणा !** दुष्टपर्यवसान तथा अशुभ लक्षणो वाले ! **हीनपुण्णचाउद्दसिया !** दुर्भाग्यपूर्ण चतुर्दशी को जन्मे **हिरिसिरिधिइ कित्ति परिवज्जिया**—लज्जा, लक्ष्मी, धैर्य तथा कीर्ति से रहित **धम्मकामया !**—धर्म की कामना करने वाले ! **पुण्णकामया !** पुण्य की कामना करने वाले ! **सग्गकामया !** स्वर्ग की कामना करने वाले ! **मोक्खकामया !** मोक्ष की कामना करने वाले ! **धम्मकंखिया !** धर्माकाक्षी **पुण्णकंखिया !** पुण्य की इच्छा करने वाले ! **सग्गकंखिया !** स्वर्ग की काक्षा करने वाले ! **मोक्खकंखिया !** मोक्ष को चाहने वाले ! **धम्मपिवासिया**—धर्म पिपासु ! **पुण्णपिवासिया !** पुण्य के पिपासो ! **सग्गपिवासिया**—स्वर्ग की पिपासा करने वाले ! **मोक्खपिवासिया**—मोक्ष के पिपासो ! **देवाणुप्पिया**—हे देवानुप्रिय ! **नो खलु कप्पइ तव**—तुझे नही कल्पता है **जं सीलाइं**—शीलो, **वयाइं**—व्रतो, **वेरमणाइं**—विरमणो, **पच्चक्खाणाइं**—प्रत्याख्यानो **पोसहोववासाइं**—तथा पौषधोपवासो से **चालित्तए वा**—विचलित होना, **खोभित्तए वा**—विक्षुब्ध होना, **खंडित्तए वा**—इन्हे खण्डित करना **भंजित्तए वा**—तथा भग करना, **उज्झित्तए वा**—त्यागना, **परिचइत्तए वा**—इनका परित्याग करना **तं जइणं**—तो यदि **तुम अज्ज**—तू आज **सीलाइं जाव पोसहोववासाइं**—शीलो यावत् पौषधोपवास को **न छड्डेसि**—नही छोडेगा, **न भंजेसि**—नही भङ्ग करेगा, **तो**—तो **ते**—तुझे **अहं**—मैं **अज्ज**—आज **इमेणं नीलुप्पल जाव असिणा**—इस नील कमल आदि के समान श्याम रग की तीखी तलवार से **खंडा-खंडिं करेमि**—टुकडे-टुकडे कर दूंगा, **जहा णं**—जिससे **तुम देवाणुप्पिया !** हे देवानुप्रिय ! तू **अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे**—आर्त्त ध्यान के दुख के वशीभूत होता हुआ—अति विकट दुख भोगता हुआ **अकालेचेव**—अकाल मे ही **जीवियाओ**—जीवन मे **ववरोविज्जसि**—पृथक् कर दिया जाएगा ।

भावार्थ—घुटने लम्बे और लड-खडा रहे थे । भौहे विकृत, अस्त-व्यस्त तथा कुटिल थी । मुँह फाड रखा था और जीभ वाहिर निकाल रखी थी । सरटो (गिरगिटो) और चूहो की मालाएँ पहन रखी थी । यही उस का मुख्य चिह्न था ।

नेवले कर्ण भूषण वने हुए थे। साँप उत्तरीय की तरह गले मे डाल रखे थे। हाथ-पैर फटकार कर भयकर गर्जना करते हुए उसने अट्टहास किया। उसका शरीर पाँच वर्ण के वालो से आच्छादित था। नीले उत्पल (नील कमल) के समान नीलवर्ण, भैंसे के सीग के समान टेढे तथा अलसी के फूल के समान चमकते हुए तीक्ष्ण धार वाले खड्ग को लेकर पौषधशाला मे कामदेव के पास पहुँचा और क्रूरता पूर्वक रुष्ट, कुपित तथा प्रचण्ड होकर हाँपता हुआ वोला—"अरे कामदेव ! तू मौत की इच्छा कर रहा है। तू दुष्टपर्यवसान (दुखान्त) और अशुभ लक्षणो वाला है। अशुभ चतुर्दशी को पैदा हुआ है। लज्जा, लक्ष्मी, धैर्य तथा कीर्ति रहित है। धर्म, स्वर्ग, तथा मोक्ष की कामना करता है। धर्म तथा स्वर्ग की आकाक्षा करता है, धर्म पिपासु है। हे देवनुप्रिय ! तुझे अपने शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौपधोपवास से विचलित होना, क्षुब्ध होना, उनको खडित करना, भङ्ग करना, त्याग और परित्याग करना नही कल्पता। किन्तु यदि तू आज शील आदि यावत् पौपधोपवासो को नही छोडेगा, भङ्ग नही करेगा तो इस नील-कमल आदि के समान श्याम रग की तीखी तलवार से तेरे टुकडे २ कर डालूँगा, जिससे तू दु ख भोगता हुआ, अकाल मे ही जीवन से पृथक् हो जाएगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे प्रारम्भ की कुछ पक्तियाँ पिशाच की वेश-भूषा का वर्णन करती हैं। तत्पश्चात् कामदेव के पास उसके पहुँचने और उसे भयभीत करने का वर्णन है। पिशाच ने गिरगिट तथा चूहो की मालाएँ पहन रखी थी। कर्णभूपण के स्थान पर नेवले लटक रहे थे और उत्तरीय के स्थान पर साप। जहाँ तक सापो का प्रश्न है उन्हे गले मे पहनने का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है। पौराणिक देवता साँपो को आभूपण के रूप मे धारण किए रहते थे तथा हाथी की खाल पहनते थे। उनके अनुचर अन्य भयकर जन्तुओ को भी धारण करते थे। जिनका वर्णन पिशाच के प्रस्तुत वर्णन से मिलता है।

लडहमडहजाणुए—इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—लहडमहड जाणुए त्ति इह प्रस्तावे लडह शब्देन गन्त्र्या. पश्चाद्भागवर्ति तदुत्तराङ्गरक्षाणार्थ यत्काष्टं तदुच्यते, तच्च गन्त्र्या श्लथबन्धन भवति, एव च श्लथसन्धि बन्धनत्वाल्लडह इव लडहे मडहे च स्थूलत्वाल्पदीर्घत्वाभ्यां जानुनी यस्य तत्तथा" यहाँ लडह का अर्थ है—लकडी का

वह लट्ठा जो बैलगाडी का सन्तुलन रखने के लिए उसके पीछे लटकता रहता है। वह मोटा तथा शिथिल होता है। पिशाच की जघाएँ भी उसी प्रार मोटी और ढीली-ढाली लड-खडा रही थी।

'सप्प कय वेगच्छे'—इसकी वृत्ति निम्नलिखित है—सर्पाभ्या कृत वैकक्षम्-उत्तरासङ्गो येन तत्तथा, पाठान्तरेण 'मूसगकयभुंभलए विच्छुय कयवेगच्छे सप्पकय-जण्णोवइए' तत्र भुंभलये त्ति—शेखर· 'विच्छुय' त्ति—वृश्चिका., यज्ञोपवीत—ब्राह्मणकण्ठ-सूत्रम्, तथा 'अभिन्नमुहनयणनक्खवरवग्घचित्तकत्तिनियंसणे' अभिन्ना·—अविशीर्णा मुखनयननखा यस्यां सा तथा सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा-कर्बुरा-कृत्तिश्च-चर्मेति कर्मधारय., सा निवसन—परिधान यस्य तत्तथा, 'सरसरुहिरमसावलित्तगत्ते' सरसाभ्या रुधिरमांसाभ्यामवलिप्त गात्रं यस्य तत्तथा।" वैकक्ष्य का अर्थ है—वह दुपट्टा जो बगलो के नीचे से ले जा कर कन्धो पर डाला जाता है, पिशाच ने साँप को इस प्रकार पहन रखा था। यहाँ पाठान्तर मे कुछ और बाते भी बताई गई हैं। उस ने चूहो का मुकुट, विच्छुओ की अक्षमाला तथा साँप का यज्ञोपवीत बना रखा था। चीते की खाल को, जिस से नाखून, आँखे और मुह अलग नही हुए थे, वस्त्र के समान पहन रखा था। ताजे रुधिर और मास से शरीर को लीप रखा था।

अप्पत्थिय-पत्थियया—(अप्रार्थित प्राथक) 'अप्रार्थित' का अर्थ है—मृत्यु, जिसे कोई नही चाहता। समस्त शव्द का अर्थ है, अरे ! मौत को चाहने वाले ! यह शव्द सस्कृत साहित्य मे वहुत अधिक मिलता है।

हीणपुण्णचाउद्दसिया—(हीनपुण्यचातुर्दशीक !) चतुर्दशी को पुण्य तिथि माना जाता है किन्तु यदि उसका क्षय हो और उस दिन किसी का जन्म हो तो वह अशुभ माना जाता है। यहाँ वृत्तिकार के नीचे लिखे शव्द हैं—"हीणपुण्णाचाउद्दसिया, त्ति हीना—सम्पूर्णा पुण्या चतुर्दशी तिथिर्जन्मकाले यस्य स हीनपुण्यचतुर्दशीक:, तदा-मन्त्रण, तथा नूतनवृति —"हीनेति-हीना अपूर्णा या पुण्या पावनी चतुर्दशी (तिथि) सा हीनपुण्यचतुर्दशी, तस्यां जातो हीन पुण्य चातुर्दशीकस्तत्सम्बोधने, पुण्य चतुर्दश्याम-नुत्पन्नत्वेन भाग्यहीन' तथा "जं-सीलाइं-वयाइं-वेरमणाइ-पच्चक्खाणाइं-पोसहोव-वासाइ" यह पद दिए हैं—इसका अर्थ वृत्तिकार ने ऐसे दिया है—शीलानि—अणुव्रतानि, व्रतानि—दिग्व्रतादीनि, विरमणानिरागादि विरतय., प्रत्याख्यानानि—नमस्कारसहि-तादीनि, पौषधोपवासान्—अहारादिभेदेन चतुर्विधान्।"

यहाँ चार प्रकर के अनुष्ठान वताए गए हैं—

१ शील—पाच अणुव्रत।

२ विरमण—दिशाव्रत आदि तीन गुणव्रत।

३ प्रत्याख्यान—नवकारसी, पोरिसी आदि।

४ पौपधोपवास—धर्मस्थानादि एकान्त स्थान मे सावद्य व्यापार से निवृत्त होकर उपवासरूप तप साधना का अनुष्ठान करना।

कामदेव की दृढता—

मूलम्—**तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं पिसाय-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए, अत्तत्थे, अणुव्विग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असंभंते, तुसिणीए धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ ॥ ९३ ॥**

छाया—ततः खलु स कामदेव. श्रमणोपासकस्तेन देवेन पिशाचरूपेणैवमुक्तः सन् अभीतोऽत्रस्तोऽनुद्विग्नोऽक्षुब्धोऽचलितोऽसम्भ्रान्तस्तूष्णीको धर्मध्यानोपगतो विहरति।

शब्दार्थ—**तएणं**—तदनन्तर **से कामदेवे समणोवासए**—वह कामदेव श्रमणोपासक **तेणं देवेणं पिसाय रूवेणं**—पिशाच रूप धारी उस देव के द्वारा **एवं वुत्ते-समाणे**—इस तरह कहे जाने पर भी **अभीए**—भयरहित **अत्तत्थे**—त्रास रहित, **अणुव्विग्गे**—उद्वेग रहित, **अक्खुभिए**—क्षोभ रहित, **अचलिए**—अचलित, **असंभते**—असम्भ्रान्त, **तुसिणीए**—और शान्त **धम्मज्झाणोवगए विहरइ**—रह कर धर्म ध्यान मे स्थिर रहा।

भावार्थ—पिशाचरूप धारी देवता के ऐसा कहने पर भी कामदेव श्रावक को न भय हुआ, न त्रास हुआ, न उद्वेग हुआ, न क्षोभ हुआ, न चचलता आई और न सभ्रम हुआ। वह चुप-चाप धर्मध्यान मे स्थिर बना रहा।

टीका—पिशाचरूप धारी देव की भयकर गर्जना सुन कर भी कामदेव विचलित नही हुआ। सूत्रकार ने उसकी दृढता का वर्णन अभीत, अत्रस्त, अक्षुब्ध, अचलित, असभ्रान्त तूपणीक, धर्मध्यानोपगत शब्दो द्वारा किया है। इसका अर्थ है उसके

मन मे भी किसी प्रकार की घबराहट या दुर्भावना नही आई। इससे उसके सम्यग् दर्शन अर्थात् धर्म विश्वास की दृढता प्रकट होती है। जिस व्यक्ति के मन मे आत्मा की अमरता तथा शरीर एव बाह्य भोगो की नश्वरता रम गई है, वह किसी भी भय या प्रलोभन के सामने नही झुकेगा।

पिशाच की पुनः तर्जना--

मूलम्—तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव धम्म-ज्झाणोवगयं विहरमाणं पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि कामदेवं एवं वयासी—"हं भो! कामदेवा! समणोवासया! अपत्थियपत्थिया! जइणं तुमं अज्ज जाव ववरोविज्जसि ॥ ९४ ॥

छाया—ततः खलु स देवः पिशाचरूप कामदेवं श्रमणोपासकमभीत यावद्धर्म-ध्यानोपगतं विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि कामदेवमेवमवादीत— "हं भोः! कामदेव! श्रमणोपासक! अप्रार्थितप्रार्थक! यदि खलु त्वमद्य यावद् व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे पिसायरूवे—वह पिशाचरूप धारी देव कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासकको अभीयं—भय रहित जाव—यावत् धम्म-ज्झाणोवगय विहरमाणं—धर्मध्यान मे लगे हुए पासइ—देखता है, पासित्ता—देख कर दोच्चंपि तच्चंपि—दूसरी बार और तीसरी बार भी कामदेवं—कामदेव को एव वयासी—इस प्रकार बोला—हं भो! कामदेवा! समणोवासया! अप्पत्थियपत्थिया! अरे मृत्यु को चाहने वाले कामदेव श्रमणोपासक! जइ णं तुमं अज्ज—यदि तू आज शीलआदि का परित्याग नही करेगा, जाव—यावत् ववरोविज्जसि—तो तू प्राणो से अलग कर दिया जायेगा।

भावार्थ—पिशाचरूप धारी देव ने श्रावक कामदेव को निर्भय यावत् धर्मध्यान मे स्थिर देखा तो वह क्रमश तीन बार इस प्रकार बोला—"अरे मृत्यु के इच्छुक कामदेव! यदि आज तू शीलादि का परित्याग नही करेगा तो यावत् मारा जाएगा।"

कामदेव का अविचलित रहना—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ ॥ ९५ ॥

छाया—तत. खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तः सन् अभीतो यावद्धर्मध्यानोपगतो विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेणं देवेणं—उस देव द्वारा दोच्चंपि तच्चपि—दूसरी बार तीसरी वार एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए—भय रहित जाव—यावत् धम्मज्झाणोवगए—धर्म ध्यान मे स्थिर रहा ।

भावार्थ—देव के द्वारा दूसरी और तीसरी बार कहे जाने पर भी कामदेव निर्भय होकर यावत् धर्म ध्यान मे स्थिर रहा ।

पिशाच का हिसक आक्रमण—

मूलम्—तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ५ ति-वलियं भिउडिं निडाले साहट्टु, कामदेवं समणोवासयं नीलुप्पल जाव असिणा खंडाखंडि करेइ ॥ ९६ ॥

छाया—तत खलु स देव पिशाचरूप. कामदेव श्रमणोपासकमभीतं यावद्विहरमाण पश्यति, दृष्ट्वा, आशुरक्तः ५ त्रिवलिकां भ्रूकुटि ललाटे संहृत्य कामदेवं श्रमणोपासक नीलोत्पल यावदसिना खडाखण्ड करोति ।

शब्दार्थ—तए ण—इस पर भी से देवे पिसायरूवे—उस पिशाचरूप धारी देव ने कामदेवं समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को अभीय जाव विहरमाणं—भय रहित धर्म-ध्यान मे स्थित पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर आसुरत्ते ५—अत्यन्त क्रूद्ध होकर तिवलिय भिउडि निडाले साहट्टु—मस्तक पर तीन भ्रूकुटियाँ चढाकर कामदेव

समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को **नीलुप्पल जाव असिणा**—नील कमल के समान तलवार से **खडाखडि करेइ**—टुकडे-टुकडे कर दिया।

भावार्थ—पिशाचरूपी देव ने फिर भी देखा कि कामदेव श्रमणोपासक निर्भय यावत् धर्मध्यान् मे स्थिर है। यह देखकर वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और ललाट पर तीन भ्रूकुटियाँ चढाकर नील कमल के समान खड्ग से कामदेव श्रावक पर प्रहार करने लगा।

टीका—खंडाखडि करेइ—यहाँ एक प्रश्न होता है कि टुकडे २ करने पर भी कामदेव जीवित कैसे रहा। इसका समाधान यह है कि—यह देवता द्वारा की गई विकुर्वणा थी। कामदेव को यह लग रहा था कि मेरा शरीर काटा जा रहा है, और वह सारी पीडा धैर्यपूर्वक सहन कर रहा था। अगले अध्ययनो से यह स्पष्ट हो जाता है। चुलनीपिता को ऐसा लगता हे जैसे उसके पुत्र मार डाले गए हैं और उन्हे गरम तेल के कडाहो मे पकाया गया। किन्तु जब वह पिशाच को पकडने के लिए उठा और कोलाहल सुन कर माता सामने आई तो उसने बताया कि तेरे सभी पुत्र सुख से सो रहे है। उन्हे किसी ने नही मारा। इसी प्रकार कामदेव को भी विचलित करने के लिए भयकर दृश्य उपस्थित किए गए। वे सच्ची घटना नही थे।

कामदेव का शांत रहना—

मूलम्—**तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ जाव अहियासेइ ॥ ९७ ॥**

छाया—तत· खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वला दुरध्यासा वेदना सम्यक् सहते यावदध्यास्ते।

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **से कामदेवे समणोवासए**—वह कामदेव श्रमणोपासक **तं**—उस **उज्जल जाव दुरहियास वेयण**—तीव्र यावत् दु सह वेदना को **सम्म सहइ जाव अहियासेइ**—सम्यक् प्रकार से सहन करता हुआ यावत् धर्मध्यान—मे स्थित रहा।

भावार्थ—कामदेव श्रावक ने उस तीव्र और असह्य वेदना को शान्त चित्त होकर सहन किया और वह धर्म ध्यान मे स्थिर रहा।

पिशाच द्वारा हाथी का रूप धारण करना—

मूलम्—तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे संते तंते परितंते सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता, पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं पिसाय-रूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं हत्थि-रूव विउव्वइ, सत्तंग-पइट्ठियं सम्मं संठियं सुजायं, पुरओ उदग्गं, पिट्ठओ वराहं, अया-कुच्छि अलंब-कच्छि पलंब-लंबोदराधर-करं अब्भुग्गय-मउल-मल्लिया-विमल-धवल-दंतं कंचणकोसी-पविट्ठ-दंतं, आणामिय-चाव-ललिय-संवल्लियग्ग-सोण्डं कुम्मपडिपुण्ण-चलणं वीसइ-नक्खं अल्लीण-पमाण-जुत्त-पुच्छं ॥ ९८ ॥

छाया—तत· खलु स देव. पिशाचरूप कामदेव श्रमणोपासकमभीत यावद्विहरमाणं पश्यति, दृष्टवा यदा नो शक्नोति कामदेवं श्रमणोपासकं नैर्ग्रन्थ्यात्प्रवचनाच्चालयितु वा क्षोभयितु वा विपरिणमयितु वा तदा श्रान्तस्तान्त परितान्तः शनै. शनै. प्रत्यवष्वष्कते प्रत्यवष्वष्क्य पौषधशालात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्य पिशाचरूप विप्रजहाति विप्रहायैक महद् दिव्यं हस्तिरूप विकरुते। सप्ताङ्ग प्रतिष्ठित सम्यक् संस्थितं सुजातं पुरत उदग्रं पृष्ठतो वराहम्, अजाकुक्षि, अवलम्बकुक्षि, प्रलम्वलम्वोदराधरकरम्, अभ्युद्गतमुकुलमल्लिका विमल धवलदन्तं, काञ्चनकोशी प्रविष्ट दन्तम्, आनामितचापललितसवेल्लिताग्रशुण्डं, कूर्म प्रतिपूर्णचरणं, विंशतिनखम्, आलीनप्रमाणयुक्तपुच्छम्।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे पिसायरूवे—उस पिशाचरूप धारी देव ने कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को अभीयं जाव विहरमाणं—भय रहित यावत् धर्म ध्यान मे स्थित पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर कामदेवं

समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को **निग्गंथाओ पावयणाओ**—निर्ग्रन्थ प्रवचन से **चालित्तए वा**—विचलित करने, **खोभित्तए वा** क्षुब्ध करने, **विपरिणामित्तए वा**—उसके मनोभावो को पलटने मे **जाहे नो संचाएइ**—जब समर्थ न हो सका **ताहे**—तब **संते**—श्रान्त हो गया अर्थात् थक गया, **तंते**—खेद अनुभव करने लगा, **परितंते**—ग्लानि अनुभव करने लगा, **सणियं सणियं पच्चोसक्कइ**—धीरे-धीरे पीछे को लौटा, **पच्चोसक्कित्ता**—लौट कर **पोसह सालाओ पडिणिक्खमइ**—पौषधशाला से बाहिर निकला, **पडिणिक्खमित्ता**—बाहर निकल कर **दिव्वं पिसायरूवं**—दिव्य पिशाच रूप **विप्पजहइ**—त्याग दिया, **विप्पजहित्ता**—त्याग कर **एगं महं दिव्वं हत्थिरूवं**—एक विकराल दिव्य हस्ती रूप की **विउव्वइ**—विकुर्वणा की, **सत्तंग पइट्ठिय**—सात अत्यन्त स्थूल अङ्गो से युक्त **सम्म संठियं**—सम्यक् प्रकार से सस्थित **सुजायं**—सुजात **पुरओ उदग्गं**—आगे से ऊँचा **पिट्ठओ वराहं**—और पीछे से सुअर के आकार का रूप बनाया, **अयाकुच्छिं अलंबकुच्छिं**—उसकी कुक्ष बकरी की कुक्षि-पेट के समान लम्बी और नीचे लटकी हुई थी। **पलंब लंबोदराधर कर**—पेट, अधर-होठ और सूण्ड नीचे लटक रहे थे। **अब्भुग्गयमउलमल्लियाविमलधवलदंतं**—दाँत मुह से बाहिर निकले हुए मुकुलित मल्लिका पुष्प की भाँति निर्मल और सफेद थे, **कंचण कोसीपविट्ठदंतं**—और दोनो दाँत ऐसे थे मानो सोने की म्यान मे रखे हुए हो, **आणामियचावललियसंवेल्लियग्गसोंडं**—सूण्ड का अग्र भाग झुके हुए धनुष की भाँति मुडा हुआ था, **कुम्मपडिपुण्ण चलणं**—पैर कछुए के समान स्थूल और चपटे थे, **वीसइनक्खं**—वीस नाखून थे, **अल्लीणपमाणजुतपुच्छं**—पूञ्छ उठी हुई तथा प्रमाणोपेत थी।

भावार्थ—पिशाचरूप देव ने तब भी श्रावक कामदेव को निडर एव ध्यान मग्न देखा। वह उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित करने, विक्षुब्ध करने और मनो-भावो मे परिवर्तन करने मे समर्थ न हो सका तो श्रान्त, खिन्न एव ग्लान होकर धीरे २ पीछे लौटा। पौषधशाला से बाहिर निकला और पिशाच के रूप को त्याग दिया। तत्पश्चात् विकराल हाथी का रूप धारण किया। उसके सातो अङ्ग, (चार पैर, सूण्ड, लिङ्ग और पूञ्छ) सिडौल थे। शरीर की रचना दृढ तथा सुन्दर थी। आगे से उभरा हुआ और पीछे से वराह के समान झुका हुआ था। कुक्षि बकरी के समान लम्बी और लटकी हुई थी। पेट, होठ और सूण्ड नीचे लटक रहे थे दान्त मुह से

वाहिर निकले हुए मुकुलित मल्लिका पुष्प की भाँति निर्मल और सफेद थे। उनके ऊपर सोने का वेष्ठन था मानो सोने की म्यान मे रखे हुए हो। सूण्ड का अग्रभाग झुके हुए धनुप के समान मुडा हुआ था, पैर कछुए के समान स्थूल और चपटे थे। पून्छ सटी हुई तथा यथा प्रमाण थी।

मूलम्—**मत्तं मेहमिव गुल-गुलेंतं, मण-पवण-जइण-वेगं, दिव्वं हत्थिरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला, जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"हं भो! कामदेवा! समणोवासया! तहेव भणइ जाव न भंजेसि, तो ते अज्ज अहं सोंडाए गिण्हामि, गिण्हित्ता पोसहसालाओ नीणेमि, नीणित्ता उड्ढं वेहासं उव्विहामि, उव्विहित्ता तिक्खेहिं दंत-मुसलेहिं पडिच्छामि, पडिच्छित्ता अहे धरणितलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेमि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ ९९ ॥**

छाया—मत्तं मेघमिव गुडगुडायमान, मन.पवनजयिवेग, दिव्यं हस्तिरूपं विकुरुते, विकृत्य येनैव पौषधशाला येनैव कामदेव श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य कामदेव श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हंभोः! कामदेव! श्रमणोपासक! तथैव भणति यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्याहं शुण्डया गृह्णामि, गृहीत्वा पौषधशालातो नयामि, नीत्वोर्ध्व विहायसमुद्वहामि, उद्वुह्य तीक्ष्णाभ्यां दन्तमुसलाभ्याम् प्रतिच्छामि प्रतीष्याधो धरणितले त्रि कृत्वः पादयोर्लोलयामि, यथा खलु त्वमार्त्त दु खार्त्तवशार्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—**मत्तं मेहमिव गुलगुलेंतं**—वह मदोन्मस्त और मेघ के समान गर्जना कर रहा था, **मणपवणजइण वेगं**—उसका वेग मन और पवन से भी तीव्र था, **दिव्वं हत्थिरूवं**—दिव्य हाथी के रूप की **विउव्वइ**—विक्रिया की, **विउव्वित्ता**—विक्रिया करके **जेणेव पोसहसाला**—जहाँ पौषधशाला थी, **जेणेव कामदेवे समणोवासए**—जहाँ कामदेव श्रमणोपासक था **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आया, **उवागच्छित्ता**—आकर **कामदेव समणोवासयं**—कामदेव श्रमणोपासक को **एवं वयासी**—इस प्रकार

बोला—हं भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! अरे कामदेव श्रमणोपासक ! तहेव भणइ—उसी प्रकार कहा जाव—यावत् न भजेसि—यदि तू शील-व्रतादि का त्याग नही करेगा तो ते अज्ज अहं—तो तुझे मैं आज सोंडाए गिण्हामि—सूण्ड से पकड़ूगा, गिण्हित्ता—पकडकर पोसहसालाओ नीणेमि—पौषधशाला से बाहिर मे जाऊँगा नीणित्ता—ले जाकर उड्ढ वेहास उव्विहामि—ऊपर आकाश मे उछालूँगा, उव्विहित्ता—उछाल कर तिक्खेहि दंतमुसलेहि—तीक्ष्ण दन्त मूसलो मे उठालूँगा, पडिच्छित्ता—उठाकर अहे धरणितलंसि—नीचे पृथ्वी तल पर तिक्खुत्तो—तीनवार पाएसु लोलेमि—पैरो से कुचलूँगा, जहा ण तुमं—जिससे तू अट्टदुहट्टवसट्टे—अत्यन्त दु खी तथा चिन्ता मग्न होकर अकाले चेव—असमय मे ही जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित कर दिया जाएगा ।

भावार्थ—वह हाथी मदोन्मत्त था । मेघ के समान गर्जना कर रहा था । उस का वेग मन और पवन से भी तीव्र था । देवता ने ऐसे दिव्य हाथी के रूप की विक्रिया की और पौषधशाला मे कामदेव श्रावक के पास पहुँचा और बोला—अरे कामदेव श्रावक ! यदि तू शील-व्रत आदि का भङ्ग न करेगा तो मैं तुझे अपनी सूण्ड से पकड कर पौषधशाला के बाहिर ले जाऊँगा । आकाश मे उछालूँगा फिर अपने तीक्ष्ण मूसल समान दान्तो पर उठा लूँगा । तीन बार नीचे भूमि तल पर पटक कर पैरो से कुचलूँगा जिसके कारण तू अत्यन्त दु ख से आर्त्त होकर असमय मे ही जीवन से हाथ धो बैठेगा ।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं हत्थि-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव विहरइ ॥ १०० ॥

छाया—ततः खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तेन देवेन हस्तिरूपेणैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेणं देवेणं हत्थिरूवेणं—उस हस्तीरूप धारी देव द्वारा एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए जाव विहरइ—भय-भीत न हुआ और यावत् ध्यान मे स्थिर रहा ।

भावार्थ—हाथीरूप धारी देवता के ऐसा कहने पर भी श्रावक कामदेव भय-भीत न हुआ और यावत् ध्यान मे स्थिर रहा।

मूलम्—तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, २ त्ता दोच्चंपि तच्चंपि कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"हं भो! कामदेवा! तहेव जाव सो वि विहरइ ॥ १०१ ॥

छाया—तत. खलु स देवो हस्तिरूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावद्विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि कामदेवं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हंभोः! कामदेव! तथैव यावत्स विरहति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे हत्थिरूवे—उस हस्तीरूप धारी देव ने कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को अभीय जाव विहरमाणं पासइ—भयरहित यावत् ध्यान मग्न देखा पासित्ता—देखकर दोच्चपि तच्चंपि—दूसरी और तीसरी वार कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहा—हं भो! कामदेवा! अरे कामदेव! तहेव जाव सोवि विहरइ—उसी प्रकार यावत् वह कामदेव भी विचरता रहा।

भावार्थ—हाथीरूप धारी देवता ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत् ध्यान से अविचलित देखा तो दूसरी और तीसरी वार उसने कामदेव श्रावक से फिर कहा परन्तु वह पूर्ववत् ध्यान मे स्थिर रहा।

मूलम्—तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, २ त्ता आसुरत्ते ४, कामदेवं समणोवासयं सोंडाए गिण्हेइ, २ त्ता उड्ढं वेहासं उव्विहइ २ त्ता तिक्खेहिं दंत-मुसलेहिं पडिच्छइ, २ त्ता अहे धरणि-तलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेइ ॥ १०२ ॥

छाया—ततः खलु स देवो हस्तिरूप. कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावद्विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा आशुरक्त. ४ कामदेवं श्रमणोपासकं शुण्डया गृह्णाति, गृहीत्वा ऊर्ध्वं

विहायसि समुद्वहति, उद्वुह्य तीक्ष्णैर्दन्तमुसलैः प्रतीच्छति, प्रतिष्याधो धरणितले त्रिः-कृत्वः पादयोर्लोलयति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे हत्थिरूवे—हस्तीरूप धारी उस देव ने कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को अभीयं जाव विहरमाणं—निर्भय यावत् (ध्यानस्थ) विचरते पासइ—देखा पासित्ता—देखकर आसुरुत्ते ४—अत्यन्त रुष्ट लाल पीला होकर कामदेवं समणोवासयं–कामदेव श्रमणोपासक को सोंडाए गिण्हेइ–सूण्ड से पकडा, गिण्हित्ता–पकड़ कर उड्ढं वेहासं उव्विहइ–ऊपर आकाश मे उछाल दिया, उव्विहित्ता–उछाल कर तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छइ–तीक्ष्ण मूसल के समान दाँतो पर झेला (धारण) किया पडिच्छित्ता—झेलकर अहे धरणितलंसि—नीचे पृथ्वी तल पर तिक्खुत्तो—तीन वार पाएसु लोलेइ—पैरो से रौंदा ।

भावार्थ—फिर भी हाथी रूप धारी देव ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत् ध्यान निष्ठ देखा । और लाल-पीला होकर उसे सूण्ड से पकडा और ऊपर आकाश मे उछाल कर तीखे दाँतो पर झेला फिर नीचे पृथ्वी पर पटक कर पैरों से रौंदा ।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव अहियासेइ ॥ १०३ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वलां यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए–वह कामदेव श्रमणोपासक तं उज्जलं जाव अहियासेइ—असह्य वेदना को सहन करता है ।

भावार्थ—कामदेव श्रावक उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन करता रहा ।

पिशाच द्वारा सर्प रूप धारण—

मूलम्—तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ जाव सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, २ त्ता पोसह-सालाओ पडिणिक्ख-

सइ, २ त्ता दिव्वं हत्थि-रूवं विप्पजहइ, २ त्ता एगं महं दिव्वं सप्प-रूवं विउव्वइ, उग्ग-विस चंड-विसं घोर-विसं महाकायं मसी-मूसा-कालगं नयण-विस-रोस-पुण्णं, अंजण-पुंज-निगरप्पगासं, रत्तच्छ लोहिय-लोयण जमल-जुयल-चंचल-जीहं, धरणी-यल-वेणीभूयं, उक्कड-फुड-कुडिल-जडिल-कक्कस-वियड-फुडाडोव-करण-दच्छं, लोहागर-धम्ममाण-धमधमेंत-घोस, अणागलिय-तिव्व-चंड रोसं सप्प-रूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"हं भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! जाव न भंजेसि, तो ते अज्जेव अहं सर-सरस्स कायं दुरुहामि, दुरुहित्ता पच्छि-मेणं भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेमि, वेढित्ता तिक्खाहिं विस-परिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निकुट्टेमि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसटे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ १०२ ॥

छाया—ततः खलु स देवो हस्तिरूप. कामदेवं श्रमणोपासक यदा नो शक्नोति यावत् शनै २ प्रत्यवष्वष्कति, प्रत्यवष्वष्वय पौशधशालात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्यं हस्तिरूप विप्रजहाति, विप्रहायैकं महद् दिव्य सर्परूप विकुरुते, उग्रविषं चण्डविषं घोरविषं महाकायं मषीमूषाकालक नयनविषरोषपूर्णम्, अञ्जनपुञ्ज-निकरप्रकाश रक्ताक्ष, लोहितलोचन यमल युगल चंचल जिह्व धरणी तलवेणी भूतम्, उत्कट स्फुट कुटिल जटिल कर्कश विकटस्फुटाटोपकरण दक्षं, लोहाकर ध्मायमान धमधमद्-घोषम् अनाकलित-तीव्र चण्डरोष सर्परूपं विकुरुते, विकृत्य येनैव पौषध-शाला येनैव कामदेव· श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य कामदेवं श्रमणो-पासकमेवमवादीत्—"हं भो ! कामदेव ! श्रमणोपासक ! यावत् न भनक्षि तर्हि तेऽद्यैवाहं सरसरेति कायं दूरोहामि, दूरुह्य पश्चिमेन भागेन त्रिःकृत्वा ग्रीवा वेष्टयामि, वेष्टयित्वा तीक्ष्णाभिर्विषपरिगताभिर्दंष्ट्राभिरुरस्येव निकुट्टामि यथा खलु त्वमार्त्त-दुःखार्त्त वशार्तोऽकाल एव जीविताद् व्यपरोपयिष्यसे ।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे हत्थिरूवे—वह हस्तिरूपधारी देव कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को जाहे नो-सचाएइ—जब विचलित करने मे

समर्थ न हुआ **जाव**—यावत् **सणियं सणिय पच्चोसक्कइ**—धीरे २ लौट गया, **पच्चोसक्कित्ता**—लौटकर **पोसहसालाओ**—पौषधशाला से **पडिणिक्खमइ**—निकला **हत्थिरूवं विप्पजहइ**—हस्तिरूप को छोडा **विप्पजहित्ता**—छोडकर **एगमहं दिव्व**—एक महान् विकराल **सप्परूवं**—साँप का रूप **विउव्वइ**—धारण किया, **उग्गविसं**—वह सर्प उग्र विपवाला, **चंडविसं**—चड विषवाला, **घोरविसं**—घोर विपवाला, **महाकायं**—महाकाय, **मसीमूसाकालग**—लोहे की ऐरन के समान काला था, **नयणविसरोसपुण्णं**—नेत्र विप और रोप से भरे थे, **अंजणपुञ्जनिगरप्पगासं**—वर्ण काजल के पुञ्ज के समान था, **रत्तच्छं**—आखे लाल थी, **लोहिय लोयण**—लोचन लाल थे, **जमल जुयल चचल जीह**—जुडी हुई दोनो जिह्वाएँ बाहिर लपक रही थी, **धरणीयल वेणीभूय**—वह अत्यन्त काला होने के कारण पृथ्वी की वेणी के समान प्रतीत हो रहा था, **उक्कुड फुड कुडिलजडिल कक्कस वियड फुडाडोवकरण दच्छ**—उत्कृष्ट-प्रकट-कुटिल-जटिल-कठोर तथा भयकर फण फैलाए हुए था, **लोहागर धम्ममाण धमधमेंत घोस**—लोहे की धमन भट्टी के समान फुफकार कर रहा था, **अणागलिय तिव्व चंडरोसं**—दुर्दान्त, तीव्र रोप से भरा था, **सप्परूव विउव्वइ**—(उस देव ने) ऐसे सर्प का रूप बनाया, **विउव्वित्ता**—बना कर **जेणेव पोसहसाला**—जहाँ पौपधशाला थी, **जेणेव कामदेवे समणोवासए**—जहाँ कामदेव श्रमणोपासक था **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आया, **उवागच्छित्ता**—आकर **कामदेवं समणोवासयं**—कामदेव श्रमणोपासक को **एव वयासी**—इस प्रकार बोला **हंभो ! कामदेवा ! समणोवासया !** अरे कामदेव श्रमणोपासक ! **जाव**—यावत् **न भजेसि**—यदि तू (शील आदि व्रतो को) नही छोडेगा **तो ते अज्जेव अहं सरसरस्स कायं दुरूहामि**—तो मै अभी तेरे शरीर पर सर-सर करता हुआ चढता हूँ, **दुरूहित्ता**—चढ कर **पच्छिमेणं भाएणं**—पिछले भाग से **तिक्खुत्तो**—तीन बार **गीव वेढेमि**—गले को लपेट लूँगा, **वेढित्ता**—लपेट कर **तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं**—तीक्ष्ण विषैली दाढाओ से **उरसि चेव निकुट्टेमि**—वक्षस्थल मे डसूँगा, **जहा णं तुम**—जिस से तू **अट्टदुहट्टवसट्टे**—अत्यन्त दु ख से पीडित हो कर **अकाले चेव**—असमय मे ही **जीवियाओ ववरोविज्जसि**—जीवन से रहित हो जाएगा ।

भावार्थ—जब हस्तिरूप धारी पिशाच कामदेव श्रावक को धर्म से विचलित न कर सका तो धीरे २ लौट गया । पौपधशाला से बाहिर निकला और हाथी का रूप

त्याग दिया। उसने एक विकराल सर्प का रूप धारण किया जो उग्र विष, चड विष, घोर विष तथा महाकाय था। स्याही और ऐरन के समान काला था। नेत्र विष और रोष से भरे हुए थे, मानो काजल का पिड हो। नेत्र रक्त एव अरुण थे। जिह्वा युगल लपलपा रहा था। ऐसा मालूम होता था जैसे कि पृथ्वी की वेणी हो। काला, अत्यन्त प्रकट, कुटिल, जटिल, कठोर और भयङ्कर फण फैलाए हुए था। लुहार की धमनी के समान फुँफकार कर रहा था। वह दुर्दान्त, तीव्र और भयङ्कर क्रोध से भरा हुआ था। इस प्रकार सर्प का रूप बना कर वह देव पौषधशाला मे कामदेव के पास पहुँचा और बोला—"अरे कामदेव श्रावक! यदि तू शील आदि व्रतो को भङ्ग नही करेगा तो मै अभी तेरे ऊपर सर-सर करता हुआ चढ जाऊँगा। गले को लपेट लूँगा और तीक्ष्ण विषैली दाढाओ से वक्षस्थल मे डसूँगा जिससे तू दारुण दुख से पीडित होकर असमय मे ही जीवन से रहित हो जाएगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे देव द्वारा उपस्थापित तीसरे उपसर्ग का वर्णन है। हाथी के रूप में अनेक कष्ट देने पर भी जब कामदेव श्रावक साधना से विचलित न हुआ तो पिशाच धीरे २ बाहिर निकला और उसने भयकर साप का रूप धारण किया। उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार ने विष के तीन विशेषण दिए हैं—

१. उग्र-विष—अर्थात् वह विष जो असह्य वेदना उत्पन्न करने वाला होता है।

२. चण्ड-विष—अर्थात् वह विष जो तुरन्त सारे शरीर मे व्याप्त हो जाता है और अपना प्रभाव शीघ्र दिखाता है।

३. घोर-विष—अर्थात् वह प्रभावशाली, अत्यन्त भयकर विष जिससे तुरन्त मृत्यु हो जाती है।

मूलम्——**तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं सप्प-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ। सो वि दोच्चंपि तच्चंपि भणइ, कामदेवोवि जाव विहरइ ॥ १०५ ॥**

छाया—तत. खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तेन देवेन सर्परूपेणैवमुक्तः सन् अभीतो यावद्विहरति। सोऽपि द्विवारमपि त्रिवारमपि भणति, कामदेवोऽपि यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेणं देवेणं सप्परूवेणं—उस सर्प रूपधारी देव द्वारा एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर अभीए जाव विहरइ—निर्भय यावद् ध्याननिष्ठ—स्थिर रहा, सो वि—उस देव ने भी दोच्चपि तच्चंपि भणइ—दूसरी और तीसरी बार कहा कामदेवो वि—कामदेव भी जाव—यावत् विहरइ—ध्यान मे स्थिर रहा।

भावार्थ—सर्प रूपधारी देव के ऐसा कहने पर भी कामदेव निर्भय यावत् ध्यानस्थ रहा। देव ने दूसरी और तीसरी वार कहा परन्तु कामदेव विचलित न हुआ।

मूलम्—तए णं से देवे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते ४ कामदेवस्स समणोवासयस्स सरसरस्स कायं दुरूइ, दुरूहित्ता पच्छिम-भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेइ, वेढित्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निक्कुट्टेइ ॥ १०६ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सर्परूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा आशुरुप्तः ४ कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य सरसरेति कायं दूरोहति, दूरुह्य पश्चिमभागेन त्रि.कृत्वो ग्रीवां वेष्टयति वेष्टयित्वा तीक्ष्णाभिर्विषपरिगताभिर्दंष्ट्राभिरुरस्येव निकुट्टति।

शब्दार्थ— तए णं—तदनन्तर से देवे सप्परूवे—सर्प रूपधारी उस देव ने कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् ध्यानस्थ देखा, पासित्ता—देखकर आसुरुत्ते—अत्यन्त रुष्ट हो कर कामदेवस्स समणोवासयस्स सरसरस्स कायं दुरूहइ—कामदेव श्रमणोपासक के शरीर पर सरसर करता हुआ चढ गया, दुरूहित्ता—चढकर पच्छिम भाएणं—पीछे की ओर से तिक्खुत्तो—तीन वार गीवं वेढेइ—(उसकी) गर्दन को लपेट लिया, वेढित्ता—लपेट कर तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहि—तीक्ष्ण और विषैली दाढो से उरसि चेव निक्कुट्टेइ—वक्षस्थल मे डक मारा।

शब्दार्थ—जव सर्प रूपधारी देव ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत् ध्यान में स्थिर देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर, सरसर करता हुआ उसके शरीर पर चढ

गया, उसकी ग्रीवा को लपेट लिया। विषैली तीक्ष्ण दाढो से उसके वक्षस्थल पर डक मारा।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव अहियासेइ ॥१०७॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वलां यावदध्यास्ते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—उस कामदेव श्रमणोपासक ने तं उज्जलं जाव अहियासेइ—उस तीव्र वेदना को सहन किया।

भावार्थ—कामदेव श्रावक उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन करता रहा।

देव का पराजित होकर निजी रूप धारण करना—

मूलम्—तए णं से देवे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा ताहे संते ३ सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं सप्परूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ ॥ १०८ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सर्परूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा यदा नो शक्नोति कामदेवं श्रमणोपासकं नैर्ग्रन्थ्यात्प्रवचनाच्चालयितुं वा क्षोभयितुं वा विपरिणामयितुं वा तदा शान्तः, तान्तः, परितान्तः शनैः शनैः प्रत्यवष्वष्कति, प्रत्यवष्वष्क्य पौषधशालातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्यं सर्परूपं विप्रजहाति, विप्रजहायैकं महद्दिव्यं देवरूपं विकुरुते।

शब्दार्थ—तए णं—इस पर भी से देवे सप्परूवे—उस सर्प रूपधारी देव ने कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् (ध्यान मे स्थिर देखा) पासित्ता—देखकर जाहे नो सचाएइ—जब समर्थ न हो

सका, कामदेवं समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को निग्गथाओ—निर्ग्रन्थ प्रवचन से चालित्तए वा—विचलित करने खोभित्तए वा—क्षुब्ध करने विपरिणामित्तए वा—परिवर्तित करने मे ताहे—तव संते-तते परितन्ते—श्रान्त, ग्लान और अत्यन्त दु खी होकर सणिय सणियं पच्चोसक्कइ—धीरे धीरे लौटा, पच्चोसक्कित्ता—लौटकर पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ—पोपधशाला से निकला पडिणिक्खमित्ता—निकलकर दिव्वं सप्परूवं विप्पजहइ—दिव्य सर्प का रूप त्याग दिया, विप्पजहित्ता—त्याग कर एगं मह दिव्वं—एक महान् दिव्य देवरूव विउव्वइ—देव रूप को धारण किया।

भावार्थ—जब सर्प रूपधारी देव ने देखा कि कामदेव श्रमणोपासक निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित या क्षुब्ध नही हुआ और उसके विचार नही बदले तो वह धीरे-धीरे वापिस लौटा। पौपधशाला से निकल कर उसने साँप का रूप छोड दिया और देवता का रूप धारण कर लिया।

देव द्वारा कामदेव की प्रशंसा और क्षमा प्रार्थना—

मूलम्—हार-विराइय-वच्छं जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं पासाईयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता कामदेवस्स समणोवासयस्स पोसहसालं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिखिणियाइं पंच-वण्णाइं वत्थाइं पवर-परिहिए कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"हं भो! कामदेवा समणोवासया! धन्नेसि णं तुमं, देवाणुप्पिया! संपुण्णे कयत्थे कय-लक्खणे सु-लद्धे णं तव, देवाणुप्पिया! माणुस्सए जम्मजीवियफले, जस्स णं तव निग्गंथे पावयणे इमेयारूवा पडिवत्ति लद्धा पत्ता अभिसमणागया। एवं खलु देवाणुप्पिया! सक्के देविंदे देवराया जाव सक्कंसि सीहासणंसि चउरासीईए सामाणिए-साहस्सीणं जाव अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य मज्झगए एवमाइक्खइ ४—"एवं खलु देवा! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चम्पाए नयरीए कामदेवे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी जाव दब्भसंथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं

विहरइ। नो खलु से सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा जाव गंधव्वेण वा निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा।" तए णं अहं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो एयमट्ठं असद्दहमाणे ३ इहं हव्वमागए। तं अहो णं, देवाणुप्पिया! इड्ढी ६ लद्धा ३, तं दिट्ठाणं देवाणुप्पिया! इड्ढी जाव अभिसमन्नागया। तं खामेमि णं, देवाणुप्पिया! खमंतु मज्झ देवाणुप्पिया! खंतुमरहंति णं देवाणुप्पिया! नाइं भुज्जो करणयाए" त्ति कट्टु पाय-वडिए पंजलिउडे एयमट्ठं भुज्जो-भुज्जो खामेइ, खामित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए॥ १०९॥

छाया—हारविराजित वक्षो यावद् दशदिश उद्द्योतयत् प्रासादीयं दर्शनीयमभिरूपं प्रतिरूपं दिव्यं देवरूपं विकुरुते, विकृत्य कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य पौषधशालामनुप्रविशति, अनुप्रविश्यान्तरिक्षप्रतिपन्नः सकिङ्किणीकानि पञ्चवर्णानि वस्त्राणि प्रवरपरिहितः कामदेव श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हंभो कामदेव! श्रमणोपासक! धन्योऽसि खलु त्वं देवानुप्रिय! सम्पूर्णः, कृतार्थः, कृतलक्षण, सुलभं खलु तव देवानुप्रिय! मानुष्यकं जन्मजीवितफलं, यस्य खलु तव नैर्ग्रन्थ्ये प्रवचने इयमेतद्रूपा प्रतिपत्तिर्लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता। एवं खलु देवानुप्रिय! शक्रो देवेन्द्रो देवराजो यावत् शाक्रे सिंहासने चतुरशीते. सामानिकसहास्त्रीणां यावदन्येषां च बहूनां देवानां देवीना च मध्यगत एवमाख्याति ४—"एवं खलु देवानुप्रिया.! जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे चम्पायां नगर्यां कामदेवः श्रमणोपासकः पौषधशालायां पौषधिको ब्रह्मचारी यावत् दर्भसंस्तारोपगतः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकी धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्यविहरति। नो खलु स शक्य. केनापि देवेन वा दानवेन वा गन्धर्वेण वा नैर्ग्रन्थ्यात्प्रवचनाच्चालयितु वा क्षोभयितु वा विपरिणामयितु वा। ततः खलु अह शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्यैतमर्थमश्रद्दधान ३ इह हव्यमागतः, तदहो खलु देवानुप्रियाः! ऋद्धि ६ लब्धा ३ तद् दृष्टा खलु देवानुप्रिया.! ऋद्धिर्यावत्समन्वागता, तत् क्षामयामि देवानुप्रिया.! क्षम्यन्तां मम देवानुप्रिया! क्षन्तुमर्हन्ति देवानुप्रिया.! न भूयःकरणतया" इति कृत्वा पादपतितः प्राञ्जलिपुट एतदर्थ भूयो भूय क्षमापयति क्षमापयित्वा यामेवदिशं प्रादूर्भूतस्तामेवदिशं प्रतिगतः।

शब्दार्थ--(उस देव ने) हारविराइयवच्छं--हारो से विभूपित वक्षस्थल वाला **जाव**--यावत् **दसदिसाओ उज्जोवेमाण**--दश दिशाओ को प्रकाशित करने वाला **पासाईयं**--मन को प्रसन्न करने वाला **दरिसणिज्जं**--दर्शनीय **अभिरूव**--अभिरूप **पडिरूवं**-प्रतिरूप **दिव्वं देवरूवं**-दिव्य देव रूप **विउव्वइ**-धारण किया, **विउव्वित्ता**-धारण करके **कामदेवस्स**--कामदेव श्रमणोपासक की **पोसहसालं अणुप्पविसइ**-पौपधशाला में प्रवेश किया **अणुप्पविसित्ता**--प्रवेश करके **अतलिक्ख पडिवन्ने**--आकाश मे अवस्थित होकर **सखिखिणियाइ पंचवण्णाइं वत्थाइं पवरपरिहिय**--क्षुद्र घटिकाओ से मण्डित पञ्चवर्ण के वस्त्र धारण किए हुए **कामदेव समणोवासयं**-कामदेव श्रमणोपासक को **एवं वयासी**--इस प्रकार कहा--**हंभो कामदेवा समणोवासया!** हे कामदेव श्रमणोपासक! **धन्नेसि णं तुमं देवाणुप्पिया!** हे देवानुप्रिय! तुम धन्य हो, **सपुण्णे**-तुम पुण्यशील हो, **कयत्थे**--कृतार्थ हो, **कयलक्खणे**--कृत लक्षण अर्थात् शुभ लक्षणो वाले हो, **सुलद्धेणं तव देवाणुप्पिया! माणुस्सए जम्मजीवियफले**--हे देवानुप्रिय! तुम्हारे लिए मनुष्य जन्म और जीवन का फल सुलभ है **जस्स णं**-क्योकि **तव णिग्गथे पावयणे**--तुम्हे निर्ग्रन्थ प्रवचन मे **इमेयारूवा पडिवत्ती**-यह इस प्रकार की प्रतिपत्ति विश्वास **लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया**--उपलब्ध हुई--प्राप्त हुई और जीवन मे उतर गई! **एवं खलु देवाणुप्पिया!** इस प्रकार हे देवानुप्रिय! **सक्के देविंदे देवराया**--शक्र देवेन्द्र देवराज ने **जाव** यावत् **सक्कंसि सीहासणसि**--शक्रासन से **चउरासीईए सामाणियसाहस्सीणं**-चौरासी हजार सामानिक **जाव**-यावत् **अन्नेसि च बहूणं**--अन्य वहुत से **देवाणं य देवीण य मज्झगए**--देवो और देवियो के मध्य मे **एवमाइक्खइ**--इस प्रकार कहा--**एवं खलु देवाणुप्पिया!** इस प्रकार हे देवो! **जंबुद्दीवेदीवे**--जम्बूद्वीप मे **भारहेवासे**-भारत वर्प की **चम्पाए नयरीए**--चम्पा नगरी मे **कामदेवे समणोवासए**--कामदेव श्रमणोपासक **पोसहसालाए पोसहिए**--पौपधशाला मे पौपध अङ्गीकार करके **दब्भसंथारोवगए**--डाभ के सथारे (शय्या) पर वैठा हुआ **समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं**--श्रमण भगवान् महावीर से प्राप्त हुई **धम्मपण्णत्ति**--धर्मप्रज्ञप्ति को **उवसंपज्जित्ताणं विहरइ**--स्वीकार कर विचर रहा है। **नो खलु से सक्का**--यह शक्य नही कि उसे **केणइ देवेण वा**--कोई देव **जाव**--यावत् **गधव्वेण वा**--गन्धर्व **निग्गथाओ पावयणाओ**--निर्ग्रन्थ प्रवचन से **चालित्तए वा**--विचलित **खोभित्तए वा**--अथवा क्षुब्ध कर सके **विपरिणमित्तए वा**--अथवा उसके भावो को

वदल सके, **तएणं अहं**—तव मैं **सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो**—देवेन्द्र देवराज शक्र की **एयमट्ठं**—इस वात पर **असद्दहमाणे**—विश्वास न करता हुआ **इहं हव्वमागए**—तत्काल यहाँ आया, **तं अहोणं देवाणुप्पिया**—अहो देवानुप्रिया ! **इड्ढी ६ लद्धा ३**—तुमने ऐसी ऋद्धिप्राप्त की **तं दिट्ठाणं देवाणुप्पिया** ! **इड्ढी जाव अभिसमन्नागया**—हे देवानुप्रिय ! तुमने ऐसी ऋद्धि का साक्षात्कार किया यावत् वह तुम्हारे सन्मुख आई, **तं खामेमि णं देवाणुप्पिया** ! हे देवानुप्रिया ! मैं तुम से क्षमा की याचना करता हूँ, **खमतु मज्झ देवाणुप्पिया**—हे देवानुप्रिय ! मुझे क्षमा करो, **खंतुमरिहंति णं देवाणुप्पिया**—देवानुप्रिय ! आप क्षमा करने योग्य हैं, **नाइं भुज्जो करणया**—फिर कभी ऐसा नही किया जाएगा, **त्ति कट्टु**—ऐसा कहकर **पाएवडिए**—पाओ पर गिर पडा **पंजलिउडे**—हाथ जोड कर **एयमट्ठं भुज्जो २ खामेइ**—इस वात के लिए वार वार क्षमा याचना करने लगा, **खामित्ता**—क्षमा याचना करके **जामेव दिसं पाउब्भूए**—जिस दिशा से प्रकट हुआ था **तामेव दिसं पडिगए**—उसी दिशा मे चला गया।

भावार्थ—उसने वक्षस्थल पर हार पहिने हुए दश दिशाओ को प्रकाशित करने वाले चित्ताह्लादक, दर्शनीय, अभिरूप, प्रतिरूप तथा दिव्य देवरूप को धारण किया, पौपधशाला मे प्रविष्ट हुआ, और आकाश मे खडा हो गया। उसने पाँच वर्णो वाले सुन्दर वस्त्र पहन रखे थे, जिनमे घुँगरू लगे हुए थे। तत्पश्चात् वह कामदेव श्रमणोपासक से इस प्रकार वोला—"देवानुप्रिय ! तुम धन्य हो, पुण्यशील हो, कृतार्थ हो, कृत लक्षण हो। तुम्हारा जीवन और मनुष्यत्व सफल हुआ। क्योकि तुम्हारी निर्ग्रन्थ प्रवचन मे दृढ श्रद्धा है। हे देवानुप्रिय ! देवराज शक्र ने चौरासी हजार सामानिक तथा अन्य देवी देवताओ के वीच भरी सभा मे यह घोपणा की थी—"हे देवानुप्रियो ! जम्वूद्वीप नामक द्वीप, भारत क्षेत्र मे चम्पा नगरी है वहाँ कामदेव श्रमणोपासक पौषधशाला मे भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म की आराधना कर रहा है, उसे कोई देव, असुर, या गन्धर्व धर्म से विचलित करने मे समर्थ नही है। कोई भी उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन से स्खलित नही कर सकता। उसके विचारो को नही वदल सकता।" देवेन्द्र देवराज शक्र की इस वात पर मुझे विश्वास न हुआ और मैं तत्काल यहाँ आया। अहो देवानुप्रिय ! तुमने ऐसी ऋद्धि प्राप्त की। देवानुप्रिय ! मैं क्षमा याचना करता हूँ। मुझे क्षमा कीजिए। आप मुझे क्षमा करने मे समर्थ हैं। फिर कभी ऐसा काम नही किया जाएगा।" इतना कहकर दोनो हाथ जोड कर

चरणो पर गिर पडा और वारम्वार क्षमा याचना करने लगा। तत्पश्चात् जिस दिशा से आया था उसी दिशा मे चला गया।

टीका—देव ने धर्म साधना से विचलित करने के लिए अनेक प्रयत्न किए किन्तु सफल नही हो सका। अन्त मे अपने स्वाभाविक सुन्दर रूप मे प्रकट हुआ और कामदेव से क्षमा याचना की। साथ ही उसने यह भी वताया—देवराज शक्रेन्द्र ने भरी सभा में तुम्हारी दृढता की प्रशसा की थी। मुझे उस पर विश्वास नही हुआ और परीक्षा लेने के लिए यहाँ चला आया। अव मुझे विश्वास हो गया है कि शक्रेन्द्र ने जो कहा था वह अक्षरश ठीक है। तुम धन्य हो, पुण्य शाली हो, तुम्हारा जीवन सफल है क्योकि निर्ग्रन्थ प्रवचन मे तुम्हारी अटूट श्रद्धा है।

प्रस्तुत सूत्र मे देवता के स्वरूप का वर्णन करते हुए यावत् शव्द का प्रयोग किया गया है, इसका अर्थ है—थोडा सा वर्णन यहाँ देकर शेप अन्यत्र अनुसन्धान के लिए छोड दिया गया है। वह वर्णन इस प्रकार है—"कडगतुडियथम्भियभुयं अङ्गदकुण्डलमट्ठ-गण्डतलकण्णपीढधारं विचित्तहत्थाभरण विचित्तमालामउलि कल्लाणगपवरवत्थपरि-हिय कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधर भासुरवोन्दि पलम्बवणमालाधरं दिव्वेणं वण्णेण दिव्वेणं गन्धेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए त्ति", कण्ठ्यम्। नवरं कटकानि—कङ्कणविशेषा, तुटितानि-वाहुरक्षकास्ताभिरतिबहुत्वा-त्स्तम्भितौ—स्तब्धीकृतौ भुजौ यस्य तत्तथा, अङ्गदे च—केयूरे, कुण्डले च—प्रतीते मृष्ट-गण्डतले—घृष्टगण्डे ये कर्णपीठाभिधाने-कर्णाभरणे ते च धारयति यत्तत्तथा, तथा विचित्रमालाप्रधानो मौलिमुकुट मस्तकं वा यस्य तत्तथा, कल्याणकम्—अनुपहतं प्रवरं वस्त्र परिहितं येन तत्तथा, कल्याणकानि—प्रवराणि माल्यानि—कुसुमानि अनुलेपनानि च धारयति यत्तत्तथा, भास्वर वोन्दीकं—दीप्तशरीरम्, प्रलवा या वनमाला—आभरण-विशेपस्तां धारयति यत्तत्तथा, दिव्येन वर्णेन युक्तमिति गम्यते, एवं सर्वत्र, नवरं ऋद्धया—विमानवस्त्रभूषणादिकया, युक्त्या—इष्टपरिवारादियोगेन, प्रभया-प्रभावेन, छायया—प्रतिविम्बेन, अर्चिषा—दीप्तिज्वालाया, तेजसा—कान्त्या, लेश्यया—आत्म-परिणामेन, उद्योतयत्—प्रकाशयत्—प्रभासयत्—शोभयदिति, प्रासादीयं—चिताह्लादकं, दर्शनीय—यत्पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति, अभिरूप—मनोज्ञं, प्रतिरूपं—द्रष्टार २ प्रतिरूपं यस्य

'विकुर्व्य'—वैक्रियं कृत्वा अन्तरिक्षप्रतिपन्न—आकाशस्थित.। 'सकिङ्किणीकानि'—क्षुद्रघण्टिकोपेतानि।"

उपरोक्त सूत्र पाठ मे 'सक्कस्स' के पहले भी 'जाव' अर्थात् यावत् शब्द है। उस का पूरक नीचे लिखा पाठ है—

'सक्के देविन्दे' इत्यादौ यावत्करणादिद दृश्यम्—"वज्जपाणी पुरन्दरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघव पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीस विमाणसयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिन्दे अयरम्बरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्त चञ्चल कुण्डलविलिहिज्जमाणगण्डे भासुरबोन्दी पलम्बवणमाले सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सभाए सोहम्माए त्ति" शक्रादिशब्दानां च व्युत्पत्त्यर्थभेदेन भिन्नार्थता द्रष्टव्या, तथाहि—शक्तियोगाच्छक्र, देवनां च परमेश्वरत्वाद्देवेन्द्र, देवाना मध्ये राजमानत्वाच्छोभमानत्वाद्देवराज., वज्रपाणि.—कुलिशकर, पुरं—असुरादिनगर विशेषस्तस्य दारणात्पुरन्दर., तथा क्रतुशब्देनेह प्रतिमा विवक्षिता, तत. कार्तिकश्रेष्ठित्वे शत क्रतूनाम्—अभिग्रह विशेषाणा यस्यासौ शतक्रतुरिति चूर्णिकारव्याख्या, तथा पञ्चानां मन्त्रिशतानां सहस्रमक्ष्णा भवतीति तद्योगादसौ सहस्राक्ष., तथा मघ शब्देनेह मेघा विवक्षितास्ते यस्य वशवर्तिन. सन्ति स मघवान्, तथा पाको नाम—बलवांस्तस्य रिपुस्तच्छासनात्पाकशासन., लोकस्यार्द्धम्—अर्द्धलोको दक्षिणो योऽर्द्धलोक तस्य योऽधिपतिः स तथा, ऐरावणवाहणे—ऐरावतो—हस्ती स वाहनं यस्य स तथा, सुष्ठु राजन्ते ये ते सुरास्तेषामिन्द्रः—प्रभु., सुरेन्द्र, सुराणां—देवानां वा इन्द्रः सुरेन्द्रः, पूर्वत्र देवेन्द्रत्वेन प्रतिपादितत्वाद—न्यथा वा पुनरुक्तपरिहार. कार्य, अरजांसि—निर्मलानि अम्बर—आकाश तद्वदच्छत्वेन यानि तान्यम्बराणि तनि च वस्त्राणि तानि धारयति य स तथा, आलगितमालम्—आरोपितं—स्रगमुकुटं यस्य स तथा, नवे इव नवे हेम्न.—सुवर्णस्य सम्बन्धिनी चारुणी—शोभने चित्रे चित्रवती चञ्चले ये कुण्डले ताभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा शेषं प्रागिवेति।"

प्रस्तुत पाठ मे देवराज शक्र के बहुत से नाम दिये गए हैं। टीकाकार ने व्युत्पत्ति द्वारा उनका अर्थ प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है—

१. शक्र—इसका अर्थ है शक्तिशाली। यह शब्द सस्कृत की शक् धातु से बना है।

२. देवेन्द्रः—देवो के परमेश्वर अर्थात् स्वामी ।

३. देवराजः—देवो के बीच विराजमान अर्थात् सुशोभित ।

४. वज्रपाणी—जिसके हाथ मे वज्र है ।

५. पुरन्दरः—पुर अर्थात् असुरो के नगरो का दारण अर्थात् ध्वस करने वाला ।

६. शतक्रतुः—क्रतु का अर्थ है प्रतिमाएँ अर्थात् श्रावक द्वारा किए जाने वाले अभिग्रह विशेष । कहा जाता है इन्द्र ने अपने पूर्व जन्म मे, जब वह कार्तिकश्रेष्ठि के रूप मे उत्पन्न हुआ था, सौ वार श्रावक की प्रतिमाएँ अङ्गीकार की थी ।

तुलना—वैदिक परम्परा मे क्रतु का अर्थ यज्ञ है, और यह माना जाता है कि सौ यज्ञ करने वाला इन्द्रासन का अधिकारी बन जाता है ।

७. सहस्राक्षः—इसका शब्दार्थ है हजार आँखो वाला । इन्द्र के पाच सौ मत्री होते हैं और उनकी हजार आँखे होती हैं, अत वह हजार आँखो वाला माना जाता है । वैदिक साहित्य मे शत शब्द का अर्थ है असख्य और सहस्र का अर्थ है अनन्त । इन्द्र स्वर्ग का राजा है और उसकी दृष्टि चारो ओर फैली रहती है । अत वह सहस्राक्ष माना जाता है ।

८. मघवान्—मघ शब्द का अर्थ है मेघ या बादल, उन पर नियन्त्रण करने वाला मघवान् कहलाता है ।

९. पाकशासनः—पाक का अर्थ है बलवान् शत्रु, उसका शासन अर्थात् दमन करने वाला पाकशासन कहलाता है ।

१०. दक्षिणार्द्धाधिपतिः—लोक का आधा भाग दक्षिण है और आधा उत्तर । दक्षिण भाग के अधिपति को दक्षिणार्द्ध अधिपति कहा जाता है ।

११. ऐरावतवाहनः—इन्द्र के हाथी का नाम ऐरावत है । इस सवारी के कारण वह ऐरावतवाहन कहा जाता है ।

१२. सुरेन्द्रः—सुर अर्थात् देवताओ का राजा ।

सूत्र में देव सभा का वर्णन करते हुए ८० हजार सामानिक देवो का निर्देश आया है । इसका अर्थ है वे देव जो शासन का अधिकार न होने पर भी इन्द्र के समान वैभवशाली हैं । इन्द्र की सभा मे उनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के लब्ध-

प्रतिष्ठ देवी-देवता विद्यमान होते हैं। उनका सग्रह यावत् शब्द से किया गया है। अन्यत्र उनका वर्णन नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

"तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्ह अणियाहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, त्ति' तत्र त्रयस्त्रिंशाः—पूज्या महत्तरकल्पाः, चत्वारो लोकपालाः पूर्वादिदिगधिपतय· सोमयमवरुणवैश्रवणाख्या, अष्टौ अग्रमहिष्य —प्रधानाभार्या, तत्परिवार प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि, सर्वमीलने चत्वारिंशत्सहस्राणि, तिस्र परिषदोऽभ्यन्तरामध्यमावाह्या च, सप्तानीकानि–पदातिगजाश्वरथवृषभभेदात्पञ्च साड ग्रामिकाणि, गन्धर्वानीकं नाट्यानीकं चेति सप्त, अनीकाधिपतयश्च सप्तं वै—प्रधान पत्ति प्रधानो गज एवमन्येऽपि, आत्मरक्षा—अङ्गरक्षास्तेषां चतस्र सहस्राणां चतुरशीत्य । आख्याति—समान्यतो, भाषते विशेषत, एतदेव प्रज्ञापयति प्ररूपयतीति पदद्वयेन क्रमेणोच्यत इति।"

उपरोक्त पाठ मे इन्द्र के परिवार सम्वन्धी देवी-देवताओ का वर्णन है। वह इस प्रकार है—

१. त्रायस्त्रिंश—इसका अर्थ है ३३ देवताओ का समूह जिन्हे इन्द्र सन्मान की दृष्टि से देखता है और पूज्य मानता है।

२. चार लोकपाल—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशा के अधिपति–सोम, यम, वरुण, वैश्रवण। वैदिक परम्परा में दिक्पालो की सख्या आठ है उसमे चार विदिशाओ के अधिपति भी गिने जाते हैं।

३ आठ अग्र महिषियां—अर्थात् पटरानियाँ। प्रत्येक का परिवार पॉच हजार माना जाता है। इस प्रकार इन्द्र के अन्त पुर मे चालीस हजार देवियाँ हैं। कही-कही प्रत्येक अग्रमहिषी का परिवार सोलह हजार माना जाता है।

४. तीन परिषदें—आभ्यन्तर, मध्यम और वाह्य।

५. सात प्रकार की अनीक अर्थात् सेनाएँ—पैदल, घोड़े, रथ, हाथी तथा वैल, इस प्रकार पॉच युद्ध सम्वन्धी सेनाएँ तथा गन्धर्वानीक अर्थात् गाने-वजाने वालो का दल और नाट्यानीक अर्थात् नाटक करने वालो का दल।

६. सात सेनापति—उपरोक्त सातो प्रकार की सेनाओ के सचालक।

७. अङ्गरक्षक—इन्द्र की चार प्रकार की अङ्गरक्षक सेनाएँ हैं। प्रत्येक मे ८४ हजार सैनिक होते हैं। यह इन्द्र की ऋद्धि का सामान्य वर्णन है।

उपरोक्त सूत्र मे देव शब्द के पहले भी 'जाव' शब्द आया है। वह नीचे लिखे पाठ की ओर निर्देश देता है—**"जक्खेण वा रक्खसेण वा किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गन्धव्वेण वा"** अर्थात् कामदेव श्रमणोपासक को यक्ष, राक्षस, किन्नर किम्पुरुष, महोरग तथा गन्धर्व कोई भी धर्म से विचलित करने मे समर्थ नही हैं।

सूत्र मे 'नाइ' पद 'नैव अर्थ का द्योतक है। इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—**"नाइं भुज्जो करणयाए' न-नैव, आइ ति निपातो वाक्यालङ्कारे अवधारणे वा, भूयः करणतायां पुनराचरणे न प्रवर्तिष्य इति गम्यते"** अर्थात् नाई शब्द का अर्थ है 'नही'। यहाँ 'न' के साथ लगा हुआ 'आइं' केवल वाक्य का अलङ्कार है। किसी विशेष अर्थ को प्रकट नही करता अथवा इसका अर्थ है अवधारण या निश्चय और इसका प्रयोग 'नैव' के अर्थ मे हुआ है। देव यह निश्चय प्रकट करता है कि मै इस कार्य को भविष्य मे नही करूँगा। क्षमायाचना करके देव पीछे लौट गया।

कामदेव द्वारा प्रतिमा की पूर्ति—

मूलम्—**तए णं से कामदेवे समणोवासए "निरुवसग्गं" इइ कट्टु पडिमं पारेइ ॥११० ॥**

छाया—**तत खलु स कामदेव श्रमणोपासक 'निरुपसर्गम्' इति कृत्वा प्रतिमा पारयति।**

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से कामदेवे समणोवासए**—उस कामदेव श्रमणोपासक ने **निरुवसग्गं इइ कट्टु**—अब उपसर्ग नही रहा यह समझ कर **पडिमं पारेइ**—प्रतिमा-अभिग्रह—का पारण किया।

भावार्थ—तदनन्तर उस कामदेव श्रमणोपासक ने निरुपसर्ग—'उपसर्ग नही रहा' यह जान कर प्रतिमा (अभिग्रह) का पारणा किया।

भगवान् महावीर का चम्पा मे पदार्पण—

मूलम्—**तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ ॥ १११ ॥**

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीर यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर जाव विहरइ—यावत् विचर रहे थे ।

भावार्थ—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर चम्पा नगरी के बाहिर उद्यान मे ठहरे हुए थे ।

कामदेव का दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—**तए णं से कामदेवे समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे "एवं खलु समणे भगव महावीरे जाव विहरइ, तं सेयं खलु मम समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता तओ पडिणियत्तस्स पोसहं पारित्तए" त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, सुद्ध-प्पावेसाइं वत्थाइं जाव अप्प-महग्घ जाव मणुस्स-वग्गुरा परिक्खित्ते सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता चम्पं नगरिं मज्झं-मज्झेणं निगच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जहा संखो जाव पज्जुवासइ ॥ ११२ ॥**

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासकोऽस्यां कथायां लब्धार्थ सन् "एवं खलु श्रमणो भगवान् महावीरो यावद् विहरति, तच्छ्रेय खलु मम श्रमण भगवन्तं महावीरं वन्दित्वा नमस्कृत्य तत प्रतिनिवृतस्य पौषधं पारयितुम्" इति कृत्वा एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य शुद्धप्रवेष्यानि वस्त्राणि यावद्-अल्पमहार्घ—यावद्-मनुष्य वागुरा परिक्षिप्त स्वस्मात् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य चम्पां नगरीं मध्यं-मध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव पूर्णभद्रश्चैत्यो यथा शङ्खो यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से कामदेवे समणोवासए**—वह कामदेव श्रमणोपासक **इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे**—यह बात सुनकर कि **एवं खलु समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर **जाव विहरइ**—यावद् विचर रहे हैं, (सोचने लगा कि) **तं सेयं खलु मम**—मेरे लिए यह उचित है कि **समण भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर को **वंदित्ता नमंसित्ता**—वन्दना नमस्कार कर **तओ पडिणियत्तस्स**—वहाँ से

लौट कर **पोसहं पारित्तए**—पौषध का पारणा करूँ। **त्ति कट्टु एवं संपेहेइ**—इस प्रकार विचार किया, **संपेहित्ता**—विचार कर **सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं**—शुद्ध प्रवेश योग्य वस्त्र (धारण कर) **जाव**—यावत् **अप्पमहग्घ मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते**—अल्प भार बहुमूल्य (आभूषण धारण कर) यावत् जन समुदाय से वेष्टित होकर **सयाओ गिहाओ**—अपने घर से **पडिणिक्खमइ**—निकला **पडिणिक्खमित्ता य**—निकल कर **चम्पं नर्गार**—चम्पा नगरी के **मज्झं मज्झेणं**—मध्य मे होता हुआ **निगच्छइ**—निकला, **निग्गच्छित्ता**—निकल कर **जेणेव पुण्णभद्दे चेइए**—जिधर पूर्णभद्र चैत्य था, **जहा संखो**—शख की तरह **जाव**—यावत् **पज्जुवासइ**—पर्युपासना की।

भावार्थ—कामदेव श्रावक ने जब सुना कि "श्रमण भगवान् महावीर यावत् विचर रहे हैं" तो मन मे विचार किया कि "अच्छा होगा यदि मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार कर के लौट कर पौषध का पारणा करूँ।" यह विचार कर परिषद आदि मे प्रवेश करने योग्य शुद्ध वस्त्र यावत् अल्प भार बहुमूल्य आभूषण धारण करके यावत् जन समुदाय से परिवृत्त होकर घर से निकला। चम्पा नगरी के बीच होता हुआ पूर्णभद्र चैत्य मे पहुँचा और शङ्ख के समान पर्युपासना की।

टीका—उपसर्ग समाप्त होने पर कामदेव को ज्ञात हुआ कि भगवान् महावीर नगरी के बाहिर उद्यान मे आए हुए हैं। उसने उन्हे वन्दना नमस्कार करने और तत्पश्चात् पौषध पारणे का निश्चय किया। व्रत समाप्त करने से पहले यथा सम्भव धर्म गुरु के दर्शन करने की परिपाटी उस समय से चली आ रही है। इससे यह भी प्रकट होता है कि पारणे के पहले कामदेव मे किसी प्रकार की आतुरता नही थी। उसने उत्साह तथा शान्ति के साथ प्रत्येक धर्म क्रिया का पालन किया।

सुद्धप्पावेसाइं—इसका अर्थ है शुद्ध अर्थात् पवित्र एव सभा मे प्रवेश करने योग्य वस्त्र। ज्ञात होता है कि धर्म क्रिया के लिए उस समय भी बाह्य शुद्धि का ध्यान रखा जाता था। शुद्ध तथा निर्मल वस्त्र मन पर भी प्रभाव डालते हैं। गृहस्थो के लिए व्यवहार शुद्धि आवश्यक है।

मणुस्सवग्गुरापरिखित्ते—कामदेव जब भगवान् के दर्शनार्थ निकला तो उसके साथ बहुत से मनुष्य और भी थे। प्रतीत होता है वह पैदल ही भगवान् के दर्शनार्थ गया।

अप्पमहग्घाभरणालंकिये सरीरे—उसने अपने शरीर को अल्प—किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से आलंकृत किया—इससे प्रकट होता है कि उसके मन में उत्साह एवं उमंग थी। भगवान् के आगमन को उसने एक उत्सव समझा और हर्षित होता हुआ वन्दनार्थ गया।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य जाव धम्मकहा समत्ता ॥ ११३ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य तस्यां च यावद्धर्मकथा समाप्ता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेवस्स समणोवासयस्स—कामदेव श्रमणोपासक तीसे य—और परिषद् को धर्मोपदेश किया जाव धम्मकहा सम्मत्ता—यावत् धर्म कथा समाप्त हुई।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव श्रमणोपासक और उस महती परिषद् को धर्मोपदेश किया यावत्—धर्मोपदेश समाप्त हुआ।

भगवान् महावीर द्वारा कामदेव की प्रशंसा—

मूलम्—"कामदेवा" इ समणे भगवं महावीरे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"से नूणं, कामदेवा! तुब्भं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतिए पाउब्भूए। तए णं से देवे एगं महं दिव्वं पिसाय-रूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता आसुरुत्ते ४ एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय तुमं एवं वयासी—'हंभो कामदेवा! जाव जीवियाओ ववरोविज्जसि', तं तुमं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरसि"। एवं वण्णग-रहिया तिण्णि वि उवसग्गा तहेव पडिउच्चारेयव्वा जाव देवो पडिगओ। "से नूणं कामदेवा! अट्ठे समट्ठे?" "हंता, अत्थि" ॥ ११४ ॥

छाया—"कामदेव!" इति श्रमणो भगवान् महावीरः कामदेवं श्रमणोपासक—मेवमवादीत्—"अथ नूनं कामदेव! तव पूर्वरात्रापररात्रकालसमये एको देवोऽन्तिके

प्रादुर्भूत । ततः खलु स देव एकं महद्दिव्यं पिशाचरूपं विकुरुते, विकृत्य आशुरुप्त ४ एकं महान्त नीलोत्पल-यावदसिं गृहीत्वा त्वामेवमवादीत् "हंभो कामदेव ! यावत् जीविताद् व्यपरोपयिष्यसे" ततस्त्वं तेन देवेनैवमुक्त सन् अभीतो यावद् विहरसि ।" एवं वर्णक रहितास्त्रयोऽप्युपसर्गास्तथैवोच्चारितव्या यावद् देव प्रतिगत ।" "स नूनं कामदेव ! अर्थ समर्थ ?" "हन्त ! अस्ति ।"

शब्दार्थ—कामदेवा इ—हे कामदेव ! समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहा—से नूण कामदेवा—हे कामदेव ! निश्चित ही तुमं—तुम्हारे पास पुव्वरत्ताव-रत्तकालसमयंसि—मध्य-रात्रि के समय एगे देवे—एक देव अतिए पाउब्भूए—प्रकट हुआ था, तएणं—तदनन्तर से देवे—उस देव ने एग मह दिव्व पिसायरूवं—एक विकराल पिशाचरूप की विउव्वइ—विक्रिया की, विउव्वित्ता—विक्रिया कर आसुरुत्ते ४—आशुरुप्त-अत्यन्त क्रुद्ध हो कर एग महं—एक महान् नीलुप्पलं—नीलोत्पल के समान जाव—यावत् असिं गहाय—तलवार लेकर तुमं एवं वयासी—तुम्हे इस प्रकार कहने लगा हभो कामदेवा!—अरे कामदेव! जाव—यावत् जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित कर दिया जाएगा तं तुम—तो तू तेणं देवेणं—उस देव द्वारा एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए—निर्भय जाव—यावत् विहरसि—ध्यानावस्थित रहा, एव—इस प्रकार वण्णगरहिया—वर्णक रहित तिण्णि वि उवसग्गा—तीनो उपसर्ग तहेव पडिउच्चारेयव्वा—तथैव उच्चारण करने चाहिएँ जाव—यावत् देवो पडिगओ—देव लौट गया से नूणं कामदेवा—हे कामदेव ! निश्चय से ही क्या अट्ठे समट्ठे—यह बात ठीक है ? हंता, अत्थि—हाँ, भगवन् ! यह ऐसे ही है।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव श्रमणोपासक से पूछा—"हे कामदेव ! मध्यरात्रि के समय एक देव तुम्हारे पास प्रकट हुआ था ! तदनन्तर उस देव ने एक विकराल पिशाचरूप की विक्रिया की और एक भयकर नीलोत्पल के समान चमकती हुई तलवार लेकर तुम्हे इस प्रकार कहा—"भो कामदेव ! यदि तू शीलादि व्रतो को भङ्ग नही करेगा यावत् प्राण रहित कर दिया जाएगा ।" तू उस देव द्वारा इस प्रकार

कहे जाने पर भी निर्भय यावत् ध्यान में स्थिर रहा। इसी प्रकार वर्णन रहित—विना किसी विशेष के तीनो उपसर्ग उसी प्रकार कहने चाहिएँ। यावद् देव वापिस लौट गया। हे कामदेव ! क्या यह वात ठीक है ?" कामदेव ने कहा"—हाँ, भगवन् ! जो आप कृपा करते हैं ठीक है।"

टीका—भगवान् ने कामदेव तथा समस्त परिषद् को धर्मोपदेश दिया। अन्त मे पूछा—"कामदेव ! मध्यरात्रि के समय जव तुम धर्म-जागरण कर रहे थे, क्या तुम्हारे पास एक देव आया था ?" भगवान् ने देवकृत तीनो उपसर्गो का वर्णन किया। उत्तर मे कामदेव ने विनयपूर्वक स्वीकृति प्रदान की।

मूलम्—"**अज्जो" इ समणे भगवं महावीरे बहवे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—"जइ ताव, अज्जो ! समणोवासगा गिहिणो गिहमज्झावसंता दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए उवसग्गे सम्मं सहंति जाव अहियासेंति, सक्का पुणाइं, अज्जो ! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसंग गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए सम्मं सहित्तए जाव अहियासित्तए ॥ ११५ ॥"**

छाया—हे आर्याः ! इति श्रमणो भगवान् महावीरो बहून् श्रमणान् निर्ग्रन्थांश्च निर्ग्रंथीश्चाऽऽमन्त्र्यैवमवादीत्—"यदि तावदार्याः ! श्रमणोपासकाः गृहिणो गृहमधिवसन्तो दिव्यामानुष्यतैर्यग्योनिकानुपसर्गान् सम्यक् सहन्ते यावदध्यासन्ते, शक्याः पुनरार्याः ! श्रमणैर्निर्ग्रन्थैर्द्वादशाङ्ग गणिपिटकमधीयानैर्दिव्यमानुष्यतैर्यग्योनिकारुपसर्गाः सम्यक् सोढुं यावदध्यासितुम्।

शब्दार्थ—**अज्जो इ**—हे आर्यो ! (इस प्रकार सम्वोधन कर) **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **बहवे समणे निग्गथे य निग्गंथीओ य**—बहुत से श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को **आमंतेत्ता**—आमन्त्रित करके **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**जइ ताव अज्जो**—हे आर्यो ! यदि **समणोवासगा**—श्रमणोपासक **गिहिणो**—गृहस्थ **गिहमज्झावसंता**—गृहस्थ मे निवास करते हुए भी **दिव्व माणुस तिरिक्ख जोणिए उवसग्गे**—देव सम्वन्धी, मनुष्य सम्वन्धी और तिर्यञ्च सम्वन्धी

उपसर्गों को **सम्मं सहति**—सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं **जाव अहियासति**—यावत् दृढता से सहन करते हैं, **सक्का पुणाइं अज्जो**—हे अर्यो ! पुन शक्य ही है **समणेहिं निग्गथेहि**—श्रमण निर्ग्रन्थ **दुवालसग गणिपिडगं**—द्वादशाङ्गरूप गणि-पिटक को **अहिज्जमाणेहिं दिव्व माणुस्स तिरिक्खजोणिए उवसग्गा**—अध्ययन करने वालो द्वारा देव, मनुष्य तिर्यच सम्वन्धि उपसर्गों का **सम्मं**—सम्यक्तया **सहित्तए जाव अहियासित्तए**—सहन करना यावत् विचलित न होना।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को आमन्त्रित कर के इस प्रकार कहा—हे आर्यो ! यदि श्रमणोपासक गृहस्थ-गृह मे निवास करते हुए भी दिव्य-देव सम्वन्धी, मनुष्य सम्वन्धी और तिर्यञ्च सम्वन्धी उपसर्गो को सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं यावत् दृढ रहते हैं, तो फिर श्रमण निर्ग्रन्थ और गणिपिटकरूप द्वादशाङ्ग का अध्ययन करने वालो को उपसर्गों का भली प्रकार सहन करना यावत् दृढ रहना क्यो शक्य नही ?

मूलम्—**तओ ते वहवे समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति ॥ ११६ ॥**

छाया—**ततस्ते वहव श्रमणा. निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति ।**

शब्दार्थ—**तओ**—तदनन्तर **ते बहवे समणा निग्गथा य निग्गंथीओ य**—उन वहुसख्यक श्रमणो अर्थात् साधु-साध्वियो ने **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर के **तहत्ति**—तथेति हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ऐसे कहते हुए **एयमट्ठं**—इस वचन को **विणएणं पडिसुणेंति**—विनय पूर्वक अङ्गीकार किया ।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर के इस वचन को साधु तथा साध्वियो ने 'तथेति' कह कर विनय पूर्वक स्वीकार किया ।

टीका—भगवान् ने साधु तथा साध्वियो को सम्वोधित करते हुए कहा–हे आर्यो ! यदि श्रावक गृहस्थ मे रह कर भी धर्म मे इस प्रकार की दृढता रख सकता है और

मारणान्तिक कष्ट एव असह्य वेदना होने पर भी अपनी साधना से विचलित नही होता तो आप सभी का क्या कर्त्तव्य है, यह बताने की आवश्यकता नही है। उपसर्ग एव कष्टो के सहन करने से हमारी आत्मा उत्तरोत्तर दृढ एव निर्मल होती है अत उनका स्वागत करना चाहिए।

मूलम्—**तए णं से कामदेवे समणोवासए हट्ठ जाव समणं भगवं महावीरं पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठमादियइ, समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए ॥ ११७ ॥**

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासको हृष्टो—यावत् श्रमणं भगवन्तं महावीरं प्रश्नान् पृच्छति, पृष्ट्वा अर्थमाददाति, अर्थमादाय श्रमणं भगवन्त महावीरं त्रि.कृत्वो वदन्ते नमस्यति, वं० न० यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतस्तामेव दिशा प्रतिगतः।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से कामदेवे समणोवासए**—वह कामदेव श्रमणोपासक **हट्ठ**—प्रसन्न हुआ **जाव**—यावत् (उसने) **समणं भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर से **पसिणाइं पुच्छइ**—प्रश्न पूछे, **पुच्छित्ता**—पूछ कर **अट्ठमादियइ**—अर्थ ग्रहण किया, **अट्ठमादित्ता**—अर्थ ग्रहण करके **समणं भगवं महावीरं वं० न०**—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना, नमस्कार कर **जामेव दिसं पाउब्भूए**—जिस दिशा से आया था **तामेव दिसं पडिगए**—उसी दिशा मे वापिस चला गया।

भावार्थ—कामदेव श्रमणोपासक ने प्रसन्न हो कर भगवान् महावीर से प्रश्न पूछे, अर्थ ग्रहण किया पुन भगवान् को नमस्कार की और जिस दिशा से आया था, उसी दिशा मे वापिस चला गया।

भगवान् का चम्पा से विहार—

मूलम्—**तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ चम्पाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ ॥ ११८ ॥**

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचिच्चम्पातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जन-पदविहारं विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर अन्नया कयाइ—एकदिन चम्पाओ पडिणिक्खमइ—चम्पा से प्रस्थान कर गये पडिणिक्खमित्ता—प्रस्थान करके बहिया जणवय विहारं विहरइ—अन्य जनपदो मे विहार करने लगे।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने अन्य किसी दिन चम्पा से प्रस्थान कर दिया और अन्य जनपदो मे विचरने लगे।

कामदेव द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए पढमं उवासग-पडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ ११९ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासकः प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसंपद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक पढमं उवासगपडिमं—प्रथम उपासक प्रतिमा को ग्रहण कर के विचरने लगा।

भावार्थ—तत्पश्चात् कामदेव श्रमणोपासक ने प्रथम उपासक प्रतिमा ग्रहण की।

जीवन का उपसंहार—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए बहूहिं जाव भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासग-परियागं पाउणित्ता, एक्कारस उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अप्पाणं भूसित्ता, सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते, समाहिपत्ते, कालमासे कालं किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्म-वडिंसयस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता कामदेवस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥ १२० ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासको वहुभिर्यावद् भावयित्वा विंशति वर्षाणि श्रमणोपासक पर्यायं पालयित्वा, एकादशोपासकप्रतिमाः सम्यक् कायेन स्पृष्ट्वा मासिक्या संलेखनयाऽऽत्मानं जोषयित्वा, षष्ठि भक्तानि अनशनेन छित्वा, आलोचितप्रतिक्रान्तः, समाधिप्राप्त, कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पे सौधर्मावतंसकस्य महाविमानस्योत्तरपौरस्त्येऽरुणाभे विमाने देवतयोपपन्न । तत्र खलु अस्त्येकेपा देवानां चत्वारि पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से कामदेवे समणोवासए**—वह कामदेव श्रमणोपासक **बहूहिं जाव भावेत्ता**—वहुत सी प्रतिमाओ-अभिग्रहो द्वारा आत्मा को भावित कर **वीसं वासाइं**—वीस वर्ष तक **समणोवासग परियागं पाउणित्ता**—श्रमणोपासक पर्याय को पाल कर **एक्कारस्स उवासग पडिमाओ**—ग्यारह उपासक प्रतिमाओ को **सम्मं काएणं फासेत्ता**—काय द्वारा सम्यक् प्रकार से स्पर्श कर **मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता**—मासिकी सलेखना द्वारा आत्मा को जोपित कर **सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता**—अनशन द्वारा साठ भक्तो का छेदन कर के **आलोइय पडिक्कंते**—आलोचना करके तथा पाप कर्म से निवृत्त होकर **समाहिपत्ते**—समाधि को प्राप्त करके **काल मासे काल किच्चा**—मृत्यु काल आने पर काल करके **सोहम्मे कप्पे**—सौधर्म कल्प मे **सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स**—सौधर्मावतसक महाविमान के **उत्तर पुरत्थिमेणं**—उत्तरपूर्व दिशा मे स्थित **अरुणाभे विमाणे**—अरुणाभ नामक विमान मे **देवत्ताए उववन्ने**—देवरूप से उत्पन्न हुआ। **तत्थणं**—वहाँ पर **अत्थेगइयाणं देवाणं**—वहुत से देवो की **चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता**—चार पल्योपम की स्थिति कही गई है, **कामदेवस्स वि देवस्स**—देव रूप मे उत्पन्न कामदेव की भी **चत्तारि पलिओवमाइं**—चार पल्योपम की **ठिई**—स्थिति **पण्णत्ता**—कही गई है।

भावार्थ—तदनन्तर वह कामदेव श्रमणोपासक वहुत से अभिग्रहो द्वारा यावत् आत्मा को भावित करता हुआ वीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय पाल कर, ग्यारह उपासक प्रतिमाओ (अभिग्रहो) को सम्यक् प्रकार से काय द्वारा स्पर्श करके मासिकी सलेखना द्वारा आत्मा को जोषित कर अनशन द्वारा साठ भक्तो का छेदन कर के अर्थात् एक मास तक सथारा करके आलोचना करके तथा पापो से निवृत्त होकर के यथावसर समाधि पूर्वक मृत्यु प्राप्त कर सौधर्म कल्प के सौधर्मावतसक महाविमान

के उत्तरपूर्व मे अरुणाभ नामक विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ पर बहुत से देवो की चार पल्योपम की स्थिति है, कामदेव की स्थिति भी चार पल्योपम बताई गई है।

कामदेव का भविष्य—

मूलम्—"से णं, भंते ! कामदेवे ताओ देव-लोगाओ आउ-क्खएणं भव-क्खएणं ठिइ-क्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गमिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ ?"

"गोयमा ! महाविदेहेवासे सिज्झिहिइ" ॥ निक्खेवो ॥ १२१ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं बिइयं कामदेवज्झयणं समत्तं ॥

छाया—"स खलु भदन्त ! कामदेवो देवस्तस्माद्देवलोकादायु.क्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेणानन्तरं चय च्युत्वा कुत्र गमिष्यति । कुत्रोत्पत्स्यते ? "गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति" ? निक्षेपः ।

शब्दार्थ—से णं भंते ! कामदेवे —हे भगवन् वह कामदेव नामक देव ताओ देवलोगाओ—उस देवलोक से आउक्खएणं—आयुक्षय भवक्खएणं—भवक्षय ठिइक्खएणं—स्थिति क्षय के अणंतरं चयं चइत्ता—अनन्तर च्यवकर कहिं गमिहिइ—कहाँ जाएगा ? कहिं उववज्जिहिइ—कहाँ उत्पन्न होगा ? गोयमा ! हे गौतम ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महा विदेह नामक वर्ष मे सिद्ध होगा। निक्षेप ।

भावार्थ—(गौतम ने पूछा) "हे भगवन् ! वह कामदेव नामक देव उस देवलोक से आयु क्षय स्थिति क्षय और भव क्षय होने पर च्यवकर कहाँ जाएगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"हे गौतम ! महाविदेह नामक वर्ष मे उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा।" निक्षेप पूर्ववत् ।

टीका—उपसर्ग की घटना के पश्चात् कामदेव ने प्रतिमाएँ अङ्गीकार की, आत्म-शुद्धि के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढता गया और बीस वर्ष तक श्रावक के रूप मे धर्मानुष्ठान करके स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यवन करके वह भी महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और मोक्ष प्राप्त करेगा।

सूत्र में नीचे लिखे तीन पद ध्यान देने योग्य हैं—**आलोइय, पडिक्कंते और समाहिपत्ते**—कामदेव ने सर्व प्रथम आलोचना की। इसका अर्थ है अच्छी तरह देखना। उसने अपने जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण किया और यह पता लगाया कि दुर्बलता, विचारो की मलिनता अथवा अन्य दोष कहाँ छिपे हुए हैं? आलोचना के बाद प्रतिक्रमण किया। इसका अर्थ है 'वापिस आया' आत्मा रागद्वेष तथा कषायो के कारण बाहिर की ओर भटकता रहता है। इन्द्रियो के विषयो एव अन्य सुखो की ओर भागता है। उसे वहाँ से हटा कर पुन अपनी स्वाभाविक स्थिति मे लाना ही प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण आलोचना के पश्चात् होता है क्योकि आत्म-दोषो का पता लगे बिना उनसे हटना सम्भव नही है। अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त होने पर आत्मा क्लेशो से मुक्त हो जाता है और आन्तरिक आनन्द का अनुभव करता है। इसी को समाधि कहते हैं। प्रतिक्रमण के पश्चात् कामदेव ने इस अवस्था को प्राप्त किया।

।। सप्तम अङ्ग उपासकदशा का द्वितीय कामदेव अध्ययन समाप्त ।।

तइयमज्झयणं

तृतीय अध्ययन

मूलम्—उक्खेवो तइयस्स अज्झयणस्स—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तूराया ॥ १२५ ॥

छाया—उपक्षेपस्तृतीयस्याध्ययनस्य—एवं खलु जम्बूः ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाराणसी नाम नगरी कोष्ठकश्चैत्यम्, जितशत्रू राजा।

शब्दार्थ—तृतयाध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत्—एवं खलु जम्बू ! हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय वाणारसी नामं नयरी—वाराणसी नाम की नगरी थी कोट्ठए चेइए—कोष्ठक नाम का चैत्य था, जियसत्तूराया—जितशत्रु राजा था।

भावार्थ—हे जम्बू ! उस काल उस समय वाराणसी नामक नगरी थी, वहाँ कोष्ठक नामक चैत्य था और जित शत्रु राजा राज्य करता था।

टीका—तृतीय अध्ययन मे चुलनीपिता नामक श्रमणोपासक का वर्णन है। अध्ययन के प्रारम्भ मे उपक्षेप का निर्देश किया गया है। इसका अर्थ है जैसे द्वितीय अध्ययन मे श्री जम्बू स्वामी के प्रश्न और श्री सुधर्मा स्वामी के उत्तर के साथ प्रारम्भ हुआ, उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रश्न आदि की योजना कर लेनी चाहिए। जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से पूछा—भगवन् ! यदि द्वितीय अध्ययन का भगवान् महावीर ने उपरोक्त अर्थ बताया है तो तृतीय अध्ययन का क्या अर्थ है ? सुधर्मा स्वामी जी ने उत्तर दिया हे जम्बू ! मैंने तृतीय अध्ययन को नीचे लिखे अनुसार सुना है। यहाँ वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

'उक्खेवो' त्ति उपक्षेप·—उपोद्घातः तृतीयाध्ययनस्य वाच्यः, स चायम्—जइणं भन्ते ! समणेणं भगवया जाव सम्पत्तेणं उवासगदसाणं दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते तच्चस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? इति कण्ठ्यश्चायम्।'

वाराणसी नगरी मे जितशत्रु नाम का राजा था। प्राकृत मे वाराणसी का वाणारसी हो जाता है इसी आधार पर हिन्दी मे बनारस कहा जाता रहा है। भारत के स्वतन्त्र होने पर पुन सस्कृत नाम को महत्व दिया गया और उसे फिर वाराणसी कहा जाने लगा है।

कोट्ठए—वहाँ कोष्ठक नाम का चैत्य था। कही-कही इसके स्थान पर महाकाम वन का निर्देश मिलता है।

चुलणीपिता का परिचय और पौषधग्रहण—

मूलम्—तत्थ णं वाणारसीए नयरीए चुलणीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जाव अपरिभूए। सामा भारिया। अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ वुड्ढि-पउत्ताओ, अट्ठ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं। जहा आणंदो राईसर जाव सव्व-कज्ज-वड्ढावए यावि होत्था। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। चुलणीपियावि, जहा आणंदो तहा, निग्गओ। तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ। गोयम पुच्छा। तहेव सेसं जहा कामदेवस्स जाव पोसह-सालाए पोसहिए बंभचारी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ॥ १२३॥

छाया—तत्र खलु वाराणस्यां नगर्या चुलनीपिता नाम गाथापतिः परिवसति, आढ्यो, यावदपरिभूत। श्यामा भार्या। अष्ट हिरण्यकोट्यो निधानप्रयुक्ता., अष्ट वृद्धिप्रयुक्ता॰, अष्ट प्रविस्तरप्रयुक्ताः अष्टव्रजा दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन। यथा आनन्दो राजेश्वर-यावत्सर्वकार्यवर्द्धापकश्चासीत्। स्वामी समवसृत। परिषन्निर्गता, चुलनीपिताऽपि यथानन्दस्तथा निर्गत.। तथैव गृहधर्म प्रतिपद्यते। गौतम पृच्छा तथैव। शेषं यथा कामदेवस्य यावत् पौषधशालायां पौषधिको ब्रह्मचारी, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तत्थ णं वाणारसीए नयरीए—उस वाराणसी नगरी मे चुलणीपिया नामं गाहावइ परिवसई—चुलणीपिता नामक गाथापति रहता था, अड्ढे जाव अपरिभूए—वह आढ्य-धनाढ्य यावत् अपरिभूत था, सामा भारिया—उसकी श्यामा नामक

भार्या थी, **अट्ठ हिरण्णकोडीओ**—आठ करोड सुवर्ण, **निहाण पउत्ताओ**—कोप मे रखे हुए थे **अट्ठ वुड्ढि पउत्ताओ**—आठ कोटि व्यापार मे लगे हुए थे। **अट्ठ पवित्थर पउत्ताओ**—आठ करोड भवन तथा अन्य उपकरणो मे लगे हुए थे, **अट्ठ वया दसगो-साहस्सिएणं वएणं**—दस हजार गायो के एक गोकुल के हिसाव से आठ गोकुल थे अर्थात् अस्सी हजार गौएँ थी। आनन्द की तरह **जहा आणंदो राईसर जाव सव्व कज्ज वड्ढावए यावि होत्था**—वह भी राजा-ईश्वर आदि का आधार यावत् सव कार्यो का वर्धक था **सामी समोसढे**—भगवान् महावीर स्वामी पधारे **परिसा निग्गया**—परिपद् निकली, **चुलणीपियावि**—चुलनीपिता भी **जहा आणंदो तहा निग्गओ**—आनन्द के समान घर से निकला, **तहेव गिह धम्मं पडिवज्जइ**—उसी प्रकार गृहस्थ धर्म स्वीकार किया, **गोयम पुच्छा तहेव**—उसी प्रकार भगवान् गौतम ने प्रश्न किया, **सेसं जहा कामदेवस्स**—शेप वृत्तान्त कामदेव के समान जानना चाहिए। **जाव**—यावत् वह **पोसहसालाए**—पौपधशाला मे **पोसहिए बंभचारी**—पौपध तथा ब्रह्मचर्य स्वीकार कर के **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर के **अतियं**—पास प्राप्त **धम्मपण्णत्तिं**—धर्म प्रज्ञप्ति को **उवसंपज्जित्ता णं विहरइ**—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—उस वाराणसी नगरी मे चुलनीपिता नामक गाथापति रहता था। वह सव प्रकार सम्पन्न यावत् अपरिभूत (अजेय) था। उसकी श्यामा नामक भार्या थी। आठ करोड सुवर्ण कोप मे जमा थे, आठ करोड व्यापार मे लगे हुए थे। और आठ करोड घर तथा समान मे लगे हुए थे। दस हजार गायो के एक गोकुल के हिसाव से आठ गोकुल थे अर्थात् अस्सी हजार पशुधन था। वह भी आनन्द की तरह राजा-ईश्वर आदि का आधार यावत् सव कार्यो में प्रोत्साहन देने वाला था। महावीर स्वामी पधारे, उपदेश श्रवण के लिए परिपद् निकली। चुलनीपिता भी आनन्द श्रावक की भाँति घर से निकला और उसी तरह गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया। उसी प्रकार गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे। शेप वृत्तान्त कामदेव के समान जानना चाहिए। यावत् वह भी पौपधशाला मे पौपध तथा ब्रह्मचर्य को स्वीकार करके भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित धर्मप्रज्ञप्ति को अङ्गीकार करके विचरने लगा अर्थात् तदनुसार मध्य-रात्रि के समय धर्मसाधना करने लगा।

उपसर्ग के लिए देव का आगमन

मूलम्—तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त काल-समयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूए ॥ १२४ ॥

छाया—ततः खलु तस्य चुलनीपितुः श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्रकालसमये एको देवोऽन्तिक प्रादुर्भूतः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—उस चुलनी-पिता श्रमणोपासक के अंतियं—समीप पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि—मध्यरात्रि के सयम एगे देवे पाउब्भूए—एक देव प्रकट हुआ ।

चुलनीपिता को धमकी—

मूलम्—तए णं से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव असि गहाय चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—"हं भो चुलणीपिया ! समणोवासया ! जहा कामदेवो जाव न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाइत्ता तओ मंससोल्ले करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहित्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीविया-ओ ववरोविज्जसि ॥ १२४ ॥

छाया—ततः खलु स देव एकं महन्नीलोत्पल यावदसि गृहीत्वा चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हंभो चुलनीपितः ! श्रमणोपासक ! यथा कामदेवो यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽहमद्य ज्येष्ठं पुत्र स्वकात् गृहात् नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा, त्रिणि मांसशूल्यकानि करोमि, कृत्वा आदहनभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमार्त्त-दुःखार्त्त-वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे—वह देव एगं—एक महं नीलुप्पल—एक महान् नीलोत्पल के समान जाव—यावत् असि—तलवार को गहाय—ग्रहण करके चुलणीपियं—चुलनीपिता समणोवासयं—श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हंभो—हे चुलणीपिया ! चुलनीपिता ! समणोवासया—श्रमणोपासक ! जहा—जैसे कामदेवो—कामदेव श्रमणोपासक से कहा था जाव—यावत् तू न भंजेसि—नियमादि को नही छोडता तो ते—तो तेरे अहं—मैं अज्ज—आज जेट्ठं पुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र को साओ गिहाओ—अपने घर से नीणेमि—लाता हूँ, नीणित्ता—लाकर तव अग्गओ—तेरे सामने घाएमि—मारता हूँ घाइत्ता—मार कर के तओ मसंसोल्ले करेमि—तीन माँस खड करता हूँ, करित्ता—करके आदाण भरियंसि कडाहयसि—आदान (तेल) से भरी हुई कडाही मे अद्दहेमि—तलू गा अद्दहित्ता—तलकर तव गायं—तेरे शरीर को मंसेण य—मास और सोणिएण य और रुधिर से आयचामि—छीटे देता हूँ जहाणं—जिससे तुमं—तू अट्ट-दुहट्ट वसट्टे—अति चिन्ता मग्न दु खार्त होता हुआ अकाले चेव—अकाल में ही जीवियाओ—जीवन से ववरोविज्जसि—पृथक् हो जाएगा ।

भावार्थ—वह देव नील कमल के समान यावत् तलवार लेकर चुलनीपिता श्रावक को बोला—"हे चुलनीपिता श्रावक ! यावत् कामदेव की तरह कहा" यावत् शील आदि को भग नही करेगा तो तेरे वडे लडके को घर से लाकर तुम्हारे सामने मार डालू गा । उसके तीन टुकडे करूँगा और शूल मे पिरोकर तेल से भरी हुई कढाई मे पकाऊँगा । तुम्हे उसके मांस और खून से छीटू गा । परिणामस्वरूप तुम चिन्ता-मग्न, दु खी तथा विवश होकर अकाल मे जीवन से हाथ धो वैठोगे ।

चुलनीपिता का शान्त रहना—

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १२६ ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्त. सन्नभीतो यावत् विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से चुलणीपिया—वह चुलनीपिता समणोवासए—श्रमणोपासक तेणं देवेणं—उस देव के एवं—ऐसा वुत्ते समाणे—कहने पर भी अभीए जाव—यावत् निर्भय विहरइ—बना रहा।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रमणोपासक देवता के ऐसा कहने पर भी निर्भय यावत् शान्त रहा।

मूलम्—तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया! समणोवासया!" तं चेव भणइ, सो जाव विहरइ ॥ १२७ ॥

छाया—तत खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावत् पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हंभो चुलनीपित! श्रमणोपासक! तदेव भणति स यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे—उस देव ने चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् शान्त देखा, पासित्ता—देखकर दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय तथा तृतीय वार चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहा— हंभो चुलणीपिया—हे चुलनीपिता! समणोवासया! श्रमणोपासक! तं चेव भणइ—पुनः वही वचन कहे सो जाव विहरइ—वह भी यावत् निर्भय विचरता रहा।

भावार्थ—जब देव ने चुलनीपिता श्रमणोपासक को निर्भय यावत् शान्त देखा तो दूसरी वार तथा तीसरी वार वही वात कही। चुलनीपिता भी निर्भय यावत् शान्त बना रहा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे देव कृत उपसर्ग का वर्णन है जो कामदेव से भिन्न प्रकार का है आदाण भरियंसि—आदाण का अर्थ है तैल या पानी आदि आर्द्र वस्तुएँ। यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"आद्रहणं यदुदक-तैलादिकमन्यतर द्रव्य पाकायाग्नावुत्ताप्यते तद्भृते, 'कडाहयंसि' त्ति कटाहे—लोहमयभाजनविशेष आद्रहयामि उत्क्वाथयामि।"

हिन्दी मे इसके लिए अदहन शब्द का प्रयोग होता है यह आर्द्र दहन से बना है। इसका अर्थ है—घी, तेल, पानी आदि वे वस्तुएँ जो गीली होने पर भी जलाती हैं।

पुत्रों का वध और चुलनीपिता का अविचलित रहना—

मूलम्—**तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता आसुरुत्ते ४ चुलणीपियस्स समणोवासयस्स जेट्ठं पुत्तं गिहाओ नीणेइ, नीणित्ता अग्गओ घाएइ, घाइत्ता तओ मंससोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहित्ता चुलणीपियस्स समणोवासयस्स गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ ॥ १२८ ॥**

छाया—तत. खलु से देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावद् दृष्ट्वा आशुरुप्त ४ श्चुलनीपितु श्रमणोपासकस्य ज्येष्ठं पुत्र गृहान्नयति, नीत्वाऽग्रतो घातयति, घातयित्वा त्रीणि मांसशूल्यकानि करोति, कृत्वा, आदहनभृते कटाहे आदहति, आदह्य चुलनीपितु श्रमणोपासकस्य गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चति।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से देवे**—उस देव ने **चुलणीपिय समणोवासयं**—चुलनीपिता श्रमणोपासक को **अभीयं जाव पासित्ता**—अभय यावत् देख कर **आसुरुत्ते ४**—क्रोधित होकर **चुलणीपियस्स समणोवासयं**—चुलनीपिता के **जेट्ठं पुत्तं**—बडे पुत्र को **गिहाओ**—घर से **नीणेइ**—निकाला **नीणित्ता**—निकाल कर के **अग्गओ घाएइ**—उसके सामने मार डाला, **घाइत्ता**—मार कर के **तओ**—तीन **मससोल्लए करेइ**—मास के तीन टुकडे किए **करेइत्ता**—करके **आदाण भरियसि कडाहयसि**—अदहन से भरे हुए कडाहे मे **अद्दहेइ**—तला, **अद्दहिता**—तलकर के **चुलणीपियस्स समणोवासयस्स**—चुलनीपिता श्रमणोपासक के **गायं**—शरीर पर **मंसेण य**—मास और **सोणिएण य**—शोणित से **आयंचइ**—छीटे दिए।

भावार्थ—तब तो वह देव क्रोधित होकर चुलनीपिता श्रावक के बडे लडके को घर से निकाल लाया। उसके सामने लाकर मार डाला, और तीन टुकडे किए। उन्हे तेल से भरे कढाह मे तला और उसके मास और रुधिर से चुलनीपिता के शरीर पर छीटे मारे।

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तं उज्जलं जाव अहिया-सेइ ॥ १२९ ॥

छाया—तत खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वलां यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक ने तं उज्जल—उस तीव्र जाव—यावत् वेदना को अहियासेइ—सम्यक् प्रकार से सहन किया ।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक ने देव द्वारा दिए हुए कष्ट की उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन किया ।

मूलम्—तए णं से देवे चुलणीपिय समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता दोच्चंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—"हं भो चुलणी-पियां समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थया ! जाव न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, तव अग्गओ घाएमि" जहा जेट्ठं पुत्तं तहेव भणइ, तहेव करेइ । एवं तच्चंपि कणीयसं जाव अहियासेइ ॥ १३० ॥

छाया—तत: खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावत् पश्यति, दृष्टवा द्वितीयमपि चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हंभो ! चुलनीपितः ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थितप्रार्थक ! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽहमद्य मध्यमं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाऽग्रतो घातयामि" यथा ज्येष्ठं पुत्रं तथैव भणति, तथैव करोति, एवं तृतीयमपि कनीयांसं यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने (चुलनीपिता श्रमणोपासक को) अभीयं जाव पासइ—अभय यावत् देखा पासित्ता—देख कर के दोवारा चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—चुलनीपिता श्रमणोपासक के प्रति इस प्रकार कहा—हंभो—हे चुलणीपिया समणोवासया!—चुलनीपिता ! श्रमणोपासक ! अपत्थिय पत्थया !

—अप्रार्थित अर्थात् मृत्यु की प्रार्थना करने वाले जाव न भंजेसि—यावत् तू नियमो को नही तोडेगा तो ते—तो तेरे अज्ज—आज अहं—मैं मज्झिमं पुत्तं—मझले पुत्र को साओ गिहाओ नीणेमि—घर से लाता हूँ नीणित्ता—ला कर तव अग्गओ घाएमि —तेरे आगे मारता हूँ जहा—जैसे जेट्ठं पुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र के विषय मे कहा था तहेव भणइ—वैसे ही कहा तहेव करेइ—और वैसे ही किया। एव—इसी प्रकार तच्चंपि—तृतीय कणीयसं—छोटे पुत्र को भी किया, जाव—यावत् जाव अहियासेइ—चुलनीपिता ने उस उपसर्ग को सहन किया।

भावार्थ—तव भी जब देव ने चुलनीपिता श्रावक को निर्भय यावत् देखा, तो पुन उससे कहा—अरे मृत्यु की प्रार्थना करने वाले! यदि तू शीलादि को भग नही करता तो मैं आज तेरे मझले पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारता हूँ। इस प्रकार उसने ज्येष्ठ पुत्र के सम्बन्ध मे जैसा कहा था वैसा ही किया। चुलनी-पिता ने उस असह्य वेदना को अन्त तक सहन किया। देव ने तृतीय पुत्र के विषय मे भी उसी प्रकार कहा और चुलनीपिता के सामने लाकर मार डाला। किन्तु वह विचलित न हुआ।

माता के वध की धमकी—

मूलम्—**तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता चउत्थंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—"हंभो चुलणी-पिया! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! ४, जइ णं तुमं जाव न भंजेसि, तओ, अहं अज्ज जा इमा तव माया भद्दा सत्थवाही देवय-गुरु-जणणी दुक्कर-दुक्करकारिया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि घाइत्ता तओ मंससोल्लए करेमि, करेत्ता आदण-भरियंसि कडाह-यंसि अद्दहेमि, अद्दहित्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि" ॥ १३१ ॥**

छाया—तत. खलु स देवश्चुलनीपितर श्रमणोपासकमभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा चतुर्थमपि चुलनीपितर श्रमणोपासकमेवमवादीत्–हंभो! चुलनीपित! श्रमणो-

पासक ! अप्रार्थितप्रार्थक ! यदि खलु त्वं यावन्न भनक्षि ततोऽहमद्य येयं तव माता भद्रा सार्थवाही दैवतगुरु-जननी दुष्करदुष्करकारिका ता ते स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा त्रिणि मासशूल्यकानि करोमि, कृत्वाऽऽदान-भृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमार्त्त दु.खार्त्त वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए णं से देवे—तदनन्तर उस देव ने चुलणीपियं समणोवासय—चुलणी-पिता श्रमणोपासक को अभीय जाव पासइ—निर्भय यावत् देखा, पासित्ता—देख कर चउत्थ पि—चौथी वार चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहा—हंभो चुलणीपिया ! समणोवासया !—हे चुलणीपिता श्रमणोपासक ! अपत्थियपत्थीया—मृत्यु की प्रार्थना करने वाले जइणं—यदि तुमं—तू जाव—यावत् न भजेसि—शीलादि गुणो को भग न करेगा तंतओ अहं—तो मैं अज्ज—आज जा इमा—जो यह तव माया—तेरी माता भद्दा सत्थवाही—भद्रा सार्थवाही देवय-गुरु-जणणी—देवता तथा गुरु के समान जननी है दुक्कर-दुक्कर-कारिया—जिसने तेरा (लालन पालनादि) अति दुष्कर कार्य किया है तं ते—उसको साओ गिहाओ—अपने घर से नीणेमि—लाता हूँ नीणित्ता—लाकर तव अग्गओ घाएमि—तेरे सामने मारता हूँ घाइत्ता—मार करके तओ—तीन मंससोल्लए—मांस खड करेमि—करता हू करित्ता—करके आदाण भरियंसि कडाहयंसि—अदहन भरे कडाहे मे अद्दहेमि—तलता हूँ अद्दहित्ता—तलकर तव गायं—तेरे शरीर को मंसेण य—मास और सोणिएण य—शोणित से आयंचामि—सिञ्चन करता हू, जहा णं तुमं—जिससे तू अट्ट दुहट्ट वसट्टे—आर्त, दु खी तथा विवश हो कर अकाले चेव—अकाल मे ही जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित हो जाएगा ।

भावार्थ—उस ने चौथी वार चुलनीपिता से कहा—"अरे चुलनीपिता ! अनिष्ट के कामी यदि तू व्रतो को भग नही करता तो मैं तेरी भद्रा नाम की माता को जो तेरे लिए देवता तथा गुरु के समान पूज्य है तथा जिसने तेरे लिए अनेक कष्ट उठाए हैं, घर से निकाल लाऊंगा, और तेरे समाने मार डालू गा । उसके तीन टुकड़े करके तेल से भरे कडाहे मे तलू गा । उसके मास और रुधिर से तेरे शरीर को छीटू गा ।

जिससे तू चिन्ता-मग्न तथा विवश हो कर अकाल मे ही जीवन से हाथ धो वैठेगा।

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १३२ ॥

छाया—तत. खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेन देवनैवमुक्त. सन्नभीतो यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए ण से—तदनन्तर वह चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक तेणं देवेण—उस देव के एवं वुत्ते समाणे—ऐसा कहने पर भी अभीए जाव—यावत् निर्भय होकर विहरइ—धर्माराधन मे लगा रहा।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक देव के ऐसा कहने पर भी निर्भय वना रहा।

मूलम्—तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता चुलणीपियं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया! समणोवासया! तहेव जाव ववरोविज्जसि" ॥ १३३ ॥

छाया—तत खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावद् विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा-चुलनीपितरं श्रमणोपासकं द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—"हंभो चुलनीपितः! श्रमणोपासक! यावद् व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए ण से देवे—तदनन्तर वह देव चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को अभीयं जाव—निर्भय यावत् विहरमाण—धर्म साधना मे स्थिर पासइ—देखता है, पासित्ता—देखकर चुलणीपियं समणोवासयं—चुलणीपिता श्रमणोपासक को दोच्चपि तच्चंपि—द्वितीय बार और तृतीय वार एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हंभो—हे चुलणीपिया सणोवासय!—चुलनीपिता श्रमणोपासक! तहेव—उसी प्रकार पहले की भाँति कहा, जाव ववरोविज्जसि—यावत् मृत्यु को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—देवता ने उसे निर्भय एव स्थिर देखा तो दूसरी और तीसरी वार वही वात कही—"चुलनीपिता श्रावक! उसी प्रकार यावत् मारा जाएगा।"

चुलनीपिता का क्षुब्ध होना और पिशाच को पकड़ने का प्रयत्न—

मूलम्—तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५—"अहो णं इमे पुरिसे अणारिए अणारिय-बुद्धी अणारियाइं पावाइं कम्माइं समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएइ, घाइत्ता जहा कयं तहा चिंतेइ, जाव गायं आयंचइ जेण ममं मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ जाव सोणिएण य आयंचइ जेणं ममं कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव आयंचइ जा वि य णं इमा ममं माया भद्दा सत्थ-वाही देवय-गुरु-जणणी दुक्कर-दुक्करकारिया, तं पि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता मम अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए" त्ति कट्टु उद्धाइए, से वि य आगासे उप्पइए, तेणं च खम्भे आसाइए, महया-महया सद्देणं कोलाहले कए ॥ १३४ ॥

छाया—ततः खलु तस्य चुलणीपितुः श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिक. ५—"अहो! खलु अयं पुरुषोऽनार्यः, अनार्यबुद्धिरनार्याणि पापानि कर्माणि समाचरति, येन मम ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयति, नीत्वा ममाग्रतो घातयति, घातयित्वा यथा कृतं तथा चिन्तयति, यावद्गात्रमासिञ्चति, येन मम मध्यमं पुत्रं स्वस्माद् गृहाद् यावच्छोणितेनाऽऽसिञ्चति, येन मम कनीयासं पुत्रं स्वस्माद् गृहात्तथैव यावद् आसिञ्चति, याऽपि च खलु इयं मम माता भद्रा सार्थवाही दैवत-गुरु-जननी दुष्कर-दुष्कर कारिका तामपि च खलु इच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम्। तच्छ्रेय. खलु ममैनं पुरुषं ग्रही-तुम्" इति कृत्वोत्थितः, सोऽपि चाकाशे उत्पतित, तेन च स्तम्भ आसादित महता २ शब्देन कोलाहलः कृतः।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स—उस चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—चुलनी-पिता श्रमणोपासक के तेणं देवेणं उस देव के द्वारा दोच्चपि तच्चंपि—द्वितीय तथा तृतीय वार एवं वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहे जाने पर इमेयारूवे—ये इस

प्रकार के **अज्झत्थिए ५**—विचार यावत् उत्पन्न हुए, **अहो णं**—अहो ! **इमे पुरिसे**—यह पुरुष **अणारिए अणारियबुद्धी**—अनार्य तथा अनार्यबुद्धि है **अणारियाइं पावाइं कम्माइं**—अनार्योचित पाप कर्मो का **समायरइ**—आचरण करता है, **जेणं**—जिसने **मम** मेरे **जेट्ठं पुत्तं**—ज्येष्ठ पुत्र को **साओ गिहाओ**—अपने घर से **नीणेइ**—निकाला **नीणेत्ता**—निकाल कर **ममं अग्गओ**—मेरे सामने **घाएइ**—मार दिया **घाइत्ता**—मार कर के **जहा कयं**—जैसे उस देव ने किया **तहा चिंतेइ**—उसी प्रकार सोचने लगा, **जाव गायं आयचइ**—यावत् उस देव ने मेरे शरीर को माँस और रुधिर से सीचा, **जेणं ममं**—उसने मेरे **मज्झिमं पुत्तं**—मझले पुत्र को **साओ गिहाओ**—घर से **जाव**—यावत् **सोणिएण य आयंचइ**—शोणित से सिचन किया **जेणं ममं**—जिसने मेरे **कणीयसं पुत्तं**—कनिष्ठ पुत्र को **साओ गिहाओ**—घर से निकाल कर **तहेव जाव आयंचइ**—उस प्रकार यावत् सिचन किया। **जा वि य णं**—और जो **इमा**—यह **ममं माया**—मेरी माता **भद्दा सत्थवाही**—भद्रा सार्थवाही **देवय गुरु जणणी**—जो कि देवता, गुरु तथा जननी है, **दुक्कर-दुक्करकारिया**—दुष्कर से भी दुष्कर क्रियाओ के करने वाली है, **तं पि य ण**—उसको भी यह **इच्छइ**—चाहता है **साओ गिहाओ**—घर से **नीणेत्ता**—लाकर **मम अग्गओ घाएत्तए**—मेरे सामने मारना चाहता है, **तं सेयं खलु**—तो यह ठीक होगा कि **ममं**—मै **एयं पुरिसं गिण्हित्तए**—इस पुरुष को पकड लूँ, **त्ति कट्टु**—ऐसा विचार करके **उद्धाइए**—उठा **से वि य आगासे उप्पइए**—और वह देव आकाश मे उड गया **तेणं च खम्भे आसाइए**—चुलनीपिता के हाथ मे खम्भा आ गया और **महया २**—वह **सद्देणं कोलाहले कए** उच्च स्वर मे पुकारने लगा ।

भावार्थ—देव के द्वितीय तथा तृतीय वार ऐसा कहने पर चुलनीपिता श्रावक विचारने लगा—"यह पुरुष अनार्य है, इसकी बुद्धि अनार्य है । अनार्योचित पाप कर्मो का आचरण करता है, इसने मेरे वडे पुत्र को घर से उठा लिया और मेरे सामने लाकर मार डाला । इसी प्रकार मध्यम और कनिष्ठ पुत्र को भी मार डाला । चुलनी-पिता के मन मे देव द्वारा किए गए क्रूर कार्य आने लगे । उसने फिर सोचा अव यह मेरी माता को जो देवता और गुरु के समान पूज्यनीय है तथा जिसने मेरे लिए भयकर कष्ट उठाए हैं, मेरे सामने लाकर मार डालना चाहता है । अत यही उचित है कि मै इसको पकड लूँ ।" यह सोच कर वह पकडने के लिए उठा तो देव

आकाश मे उड गया। चुलनीपिता के हाथ मे थम्भा लगा। वह उसे पकड कर जोर २ से चिल्लाने लगा।

टीका—देवय-गुरु-जणणी—यहाँ माता के लिए तीन शब्द आये हैं—

१ देवय—देवता का अर्थ है पूज्य। माता देवता के समान पूजा और सत्कार के योग्य होती है। सन्तान के मन मे उसके प्रति सदा भक्ति-भाव रहना चाहिए।

२. गुरु—का कार्य है—अच्छी शिक्षा देकर बालक को योग्य बनाना। माता भी बालक मे अच्छे सस्कार डालती है उसे अच्छी बाते सिखाती है और उसके शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक सभी गुणो का विकास करती है अत माता गुरु भी है।

३. जननी—वह जन्म देती है और सन्तान के लिए अनेक कष्ट उठाती है। अत उसके प्रति कृतज्ञ होना सन्तान का कर्त्तव्य है। माता के प्रति यह भावना एक आदर्श श्रावक ने प्रकट की है। उसके प्रति श्रद्धा को मिथ्यात्व कह कर हेय बताना अनुचित और दुर्मति है।

माता का आगमन और चुलनीपिता को शिक्षण—

मूलम्—तए णं सा भद्दा सत्थवाही तं कोलाहल-सद्दं सोच्चा निसम्म जेणेव चुलणीपिया समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—"किण्णं पुत्ता तुमं महया महया सद्देणं कोलाहले कए ?" ॥ १३५ ॥

छाया—तत खलु सा भद्रा सार्थवाही तं कोलाहलशब्दं श्रुत्वा निशम्य येनैव चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य चुलनीपितर श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"किं खलु पुत्र ! त्वया महता २ शब्देन कोलाहल· कृत.?"

शब्दार्थ—तए णं सा भद्दा सत्थवाही—तदनन्तर वह भद्रा सार्थवाही तं—उस कोलाहल-सद्दं सोच्चा—कोलाहल शब्द को सुन कर निसम्म—तथा विचार कर जेणेव—जहाँ चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक था तेणेव—

वहा उवागच्छइ—आई, उवागच्छित्ता–आकर चुलणीपियं समणोवासय–चुलनीपिता श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगी—किण्णं पुत्ता ! क्यो पुत्र ! तुमं—तुमने महया २ सद्देणं—जोर २ से कोलाहले कए ?—कोलाहल किया ?

भावार्थ—भद्रा सार्थवाही चिल्लाहट सुन कर चुलनीपिता श्रावक के पास आई और पूछा—"बेटा तुम जोर २ से क्यो चिल्लाए।"

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए अम्मयं भद्दं सत्थवाहिं एवं वयासी—"एवं खलु अम्मो ! न जाणामि के वि पुरिसे आसुरुत्ते ५ एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय ममं एवं वयासी–"हंभो! चुलणीपिया ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थया ! ४ वज्जिया, जइणं तुमं जाव ववरोविज्जसि" ॥ १३६ ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकोऽम्बिका भद्रा सार्थवाहीमेवमवादीत्—"एवं खलु अम्ब ! न जानामि कोऽपि पुरुष आशुरुप्तः ५ एकं महान्त नीलोत्पल असिं गृहीत्वा मामेवमवादीत्—हभो चुलनीपित ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित-प्रार्थक ! ४ वर्जित ! यदि खलु त्वं यावद्व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए णं से—तदनन्तर वह चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक अम्मय भद्द—माता भद्रा सत्थवाहिं—सार्थवाही को एव वयासी—इस प्रकार कहने लगा—एव खलु अम्मो—इस प्रकार हे माता ! न जाणामि–मैं नही जानता केवि पुरिसे—कोई पुरुप आसुरुत्ते ५—क्रोधित होकर एग मह—एक महान् नीलुप्पल असिं—नीलोत्पल के समान वर्ण वाली तलवार को गहाय—ग्रहण कर के ममं—मुझ से एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हभो चुलणीपिया ! समणोवासया ! हे चुलनीपिता श्रमणोपासक ! अपत्थिय पत्थया ! —अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले वज्जिया—पुण्यवर्जित अर्थात अभागे जइ णं–यदि तुमं—तू शीलादि व्रतो को न तोडेगा जाव ववरोविज्जसि—यावत् मार दिया जाएगा।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक माता भद्रा सार्थवाही से कहने लगा "हे माँ ! न जाने क्रोध मे भरा हुआ कोई पुरुप हाथ मे नीली तलवार लेकर मुझ से कहने

लगा—"हे चुलनीपिता श्रावक! अनिष्ट के कामी यदि तू शीलादि का त्याग न करेगा तो मे तेरे ज्येष्ठ पुत्र को मार डालूँगा।"

मूलम्—**तए णं अहं तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरामि ॥ १३७ ॥**

छाया—तत. खल्वह तेन पुरुषेणैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरामि।

शब्दार्थ—**तए णं अहं**—तदनन्तर मैं **तेण पुरिसेणं**—उस पुरुष द्वारा **एवं वुत्ते समाणे**—ऐसा कहने पर भी **अभीए जाव विहरामि**—निर्भय यावत् शान्त रहा।

भावार्थ—उसके ऐसा कहने पर मैं भय-भीत नही हुआ और धर्मसाधना मे स्थिर रहा।

मूलम्—**तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता ममं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया! समणोवासया! तहेव जाव गायं आयंचइ" ॥ १३८ ॥**

छाया—तत. खलु स पुरुषो मामभीतं यावद् विहरमाणं पश्यति दृष्ट्वा माम् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—"हभो चुलनीपित! श्रमणोपासक! तथैव यावद् गात्रमासिञ्चति।"

शब्दार्थ—**तए णं से पुरिसे**—तदनन्तर उस पुरुष ने **ममं अभीयं**—मुझे अभीत **जाव विहरमाण**—यावत् विचरते हुए **पासइ**—देखा, **पासित्ता**—देखकर **ममं**—मुझे **दोच्चपि तच्चपि**—द्वितीय और तृतीय वार **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा **हंभो चुलनीपिया!** हे चुलनीपिता! **समणोवासया!** श्रमणोपासक! **तहेव**—सर्व उसी प्रकार **जाव**—यावत् (उसने) **गायं आयंचइ**—मेरे शरीर पर छीटे मारे।

भावार्थ—तव भी उसने मुझे निर्भय तथा शान्त देखा। और दूसरी तथा तीसरी वार वैसा ही कहा—हे चुलनीपिता श्रावक! पहले की तरह यावत् मास और रुधिर से मेरे शरीर को सीचा।

मूलम्—तए णं अहं उज्जलं जाव अहियासेमि, एवं तहेव उच्चारेयव्वं जाव कणीयसं जाव आयंचइ, अहं तं उज्जलं जाव अहियासेमि ॥ १३९ ॥

छाया—ततः खल्वहं तामुज्ज्वलां यावद् अध्यासे। एवं तथैवोच्चारयितव्यं, सर्वं यावत्कनीयासं यावद् आसिञ्चति। अह तामुज्ज्वलां यावद् अध्यासे।

शब्दार्थ—तए ण अह—तदनन्तर मैंने त उज्जलं जाव अहियासेमि—उस उज्ज्वल यावत् वेदना को शान्त रह कर सहन किया। एवं—इसी प्रकार तहेव उच्चारेयव्व सव्वं—वैसे ही सब उच्चारण करना चाहिए, जाव कणीयसं—यावत् लघु पुत्र को जाव आयंचइ—मारा यावत् मेरे शरीर (चुलनीपिता को) सीचा।

भावार्थ—मैंने उस असह्य वेदना को सह लिया। इसी प्रकार पूर्वोक्त सारा वृत्तान्त कहा। यावत् छोटे लडके को मार कर मेरे शरीर को उसके मास और रुधिर के छींटे मारे। मैंने इस असह्य वेदना को भी सहन किया।"

मूलम्—तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता ममं चउत्थंपि एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! जाव न भंजेसि, तो ते अज्ज जा इमा माया गुरु जाव ववरोविज्जसि" ॥ १४० ॥

छाया—तत. खलु स पुरुषो मामभीत यावत्पश्यति, दृष्ट्वा माम् चतुर्थमप्येवमवादीत्—"हंभो. चुलनीपित· ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित प्रार्थक ! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य या इयं माता दैवत गुरु यावद् व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए ण से पुरिसे—तदनन्तर उस पुरुष ने ममं अभीयं जाव—मुझे निर्भय यावत् शान्त पासइ—देखा पासित्ता—देखकर मम चउत्थपि—मुझे चतुर्थ वार एव वयासी—इस प्रकार कहा—हभो चुलणीपिया ! हे चुलनीपिता ! समणोवासया ! श्रमणोपासक ! अपत्थिय पत्थया ! अनिष्ट के कामी ! जाव न भंजेसि—यावत् नही भङ्ग करेगा तो ते—तो तेरी अज्ज—आज जा—जो इमा—यह माया—माता देवय गुरु जाव ववरोविज्जसि—देव, गुरु है यावत् काल-धर्म को प्राप्त होगा।

भावार्थ—जब उसने मुझे निर्भय देखा तो चौथी बार बोला—'हे चुलनीपिता श्रावक! अनिष्ट के कामी! यावत् तू भग नहीं करता तो जो यह तेरी माता देव, गुरुस्वरूप है उसे भी मार डालूँगा। यावत् तू मर जायगा।"

मूलम्—तए णं अह तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरामि ॥ १४१॥

छाया—तत खल्वह तेन पुरुषेणैवमुक्त सन्नभीतो यावद् विहरामि।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर अहं—मैं तेण पुरिसेणं एव वुत्ते ममाणे—इस पुरुष के ऐसा कहने पर भी अभीए जाव विहरामि—निर्भय यावत् विचरता रहा।

भावार्थ—तब उसके ऐसा कहने पर भी मैं निर्भय विचरता रहा।

मूलम्—तए णं से पुरिसे दोच्चंपि तच्चंपि ममं एव वयासी—"हंभो चुलणीपिया! समणोवासया! अज्ज जाव ववरोविज्जसि" ॥ १४२ ॥

छाया—तत खलु स पुरुषो द्वितीयमपि तृतीयमपि मामैवमवादीत्—हंभो. चुलनीपित! श्रमणोपासक! अद्य यावद् व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से पुरिसे—वह पुरुष दोच्चंपि तच्चंपि—दूसरी और तीसरी वार मम—मुझे एव वयासी—ऐसा कहने लगा हभो! चुलणीपिया! —समणोवासया! हे चुलनीपिता! श्रमणोपासक! अज्ज जाव ववरोविज्जसि—आज यावत् मारा जाएगा।

भावार्थ—उस देव ने दूसरी वार और तीसरी वार उसी प्रकार कहा कि चुलनीपिता! आज यावत् मारा जाएगा।

मूलम्—तए णं तेणं पुरिसेणं दोच्चंपि तच्चंपि ममं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५, "अहो णं! इमे पुरिसे अणारिए जाव समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव कणीयसं जाव आयंचइ,"

तुब्भे वि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए। सेवि य आगासे उप्पइए, मए वि य खम्भे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए" ॥ १४३ ॥

छाया—ततः खलु तेन पुरुषेण द्वितीयमपि तृतीयमपि ममैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ५—अहो खल्वयं पुरुषोऽनार्यो यावत्समाचरति येन मम ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहात्तथैव यावत्कनीयासं यावदासिञ्चति, युष्मानपि च खल्विच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम्, तच्छ्रेयः खलु ममैनं पुरुष ग्रहीतुमिति कृत्वोत्थितः, सोऽपि चाऽऽकाशे उत्पतितः, मयाऽपि च स्तम्भ आसादित, महता २ शब्देन कोलाहलः कृतः।

शब्दार्थ—**तए णं तेणं पुरिसेण**—तदनन्तर उस पुरुष द्वारा **दोच्चंपि तच्चंपि**—दूसरी बार और तीसरी बार **मम**—मुझे **एवं वुत्तस्स समाणस्स**—इस प्रकार कहे जाने पर **इमेयारूवे**—इस प्रकार **अज्झत्थिए**—विचार आया **अहोणं इमे पुरिसे**—अहो! यह पुरुष **अणारिए**—अनार्य है **जाव**—यावत् **समायरइ**—पाप कर्मों का समाचरण करता है **जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं**—जिसने मेरे ज्येष्ठ पुत्र को **साओ गिहाओ**—अपने घर से **तहेव**—उसी प्रकार कहा **जाव**—यावत् **कणीयसं जाव अयंचइ**—लघु पुत्र को मार कर मुझे सिञ्चन किया **तुब्भे वि य णं इच्छइ**—तुम्हे भी यह चाहता है **साओ गिहाओ**—अपने घर से **नीणेत्ता**—निकालकर **ममं अग्गओ**—मेरे आगे **घाएत्तए**—मार डालना **तं सेयं खलु ममं**—तो मुझे उचित होगा कि **एय पुरिसं गिण्हित्तए**—इस पुरुष को पकडलूँ **त्ति कट्टु**—ऐसा विचार करके मैं **उद्धाइए**—उठा **से वि य आगासे उप्पइए**—और वह भी आकाश मे उड गया। **मए वि य खम्भे आसाइए**—और मैंने भी यह खभा पकड लिया **महया २ सद्देण कोलाहले कए**—और जोर जोर से चिल्लाने लगा।

भावार्थ—उसके दूसरी और तीसरी वार ऐसा कहने पर मुझे विचार आया—यह पुरुष अनार्य है, इसकी बुद्धि भी अनार्य है, और आचरण भी अनार्य है। इसने मेरे वड़े, मझले और छोटे पुत्र को मार डाला है और मेरा शरीर उनके खून से सीचा। अव यह तुम्हे भी मेरे सामने लाकर मार डालना चाहता है अत. इसे

पकड लेना ही उचित है। ऐसा विचार कर ज्यो ही मैं उठा वह आकाश मे उड गया, मेरे हाथ मे खम्भा आगया और मैं जोर २ से चिल्लाने लगा।

मूलम्—तए णं सा भद्दा सत्थवाही चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—"नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएइ, एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एस णं तुमे विदरिसणे दिट्ठे। तं णं तुमं इयाणिं भग्ग-व्वए भग्ग-नियमे भग्ग-पोसहे विहरसि। तं णं तुमं पुत्ता! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि" ॥ १४४ ॥

छाया—तत खलु सा भद्रा सार्थवाही चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"नो खलु कोऽपि पुरुषस्तव यावत् कनीयांसं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयति, नीत्वा तवाग्रतो घातयति, एष खलु कोऽपि पुरुषस्तवोपसर्ग करोति, एतत् खलु त्वया विदर्शनं दृष्टम्, तत् खलु त्वमिदानीं भग्न-व्रतो, भग्न-नियमो, भग्न-पौषधो विहरसि, त्वं पुत्र! एतस्य स्थानस्य आलोचय यावत्प्रतिपद्यस्व।"

शब्दार्थ—**तए णं सा भद्दा सत्थवाही**—तदनन्तर वह भद्रा सार्थवाही **चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी**—चुलनीपिता! श्रमणोपासक को इस प्रकार कहने लगी—**नो खलु केइ पुरिसे**—ऐसा कोई पुरुष नही था जिसने **तव**—तेरे **जाव**—यावत् **कणीयस पुत्तं**—कनिष्ठ पुत्र को **साओ गिहाओ नीणेइ**—अपने घर से निकाला हो, **नीणेत्ता**—निकाल कर **तव अग्गओ घाएइ**—तुम्हारे सामने मारा हो, **एस णं केइ पुरिसे**—यह किसी पुरुष ने **तव उवसग्गं करेइ**—तुझे उपसर्ग किया है, **एस णं तुमे**—यह तुमने **विदरिसणे दिट्ठे**—मिथ्या घटना देखी है। **तं णं तुमं इयाणिं**—इस लिए हे पुत्र! तुम्हारा **भग्गव्वए**—व्रत टूट गया है, **भग्गनियमे**—नियम टूट गया है, **भग्गपोसहे**—पौषध भग्न हो गया है, **तं णं तुमं पुत्ता**—इस लिए, तुम हे पुत्र! **एयस्स ठाणस्स आलोएहि**—इस भूल की आलोचना करो, **जाव पडिवज्जाहि**—यावत् आत्म-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

भावार्थ—तव भद्रा सार्थवाही चुलनीपिता श्रावक से बोली—"हे पुत्र! कोई भी पुरुष यावत् तुम्हारे कनिष्ठ पुत्र को घर से नही लाया, न तेरे सामने मारा है। यह

किसी ने तुझे उपसर्ग किया है। तू ने मिथ्या घटना देखी है। कषाय के उदय से चलित-चित्त होकर, तुम उस पुरुष को पकडने के लिए उठे, इससे तुम्हारा व्रत, नियम और पौषधोपवास टूट गया है। इस भूल के लिए आलोचना करो और प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि करो।"

टीका—चुलनीपिता का चिल्लाना सुनकर माता आई तो उसने सारी घटना कह सुनाई। माता ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—बेटा! तेरे तीनो पुत्र आराम से सोए हुए हैं। तुम्हारे साथ कोई दुर्घटना नही हुई, तुझे भ्रम हुआ है। किसी मिथ्या-दृष्टि देव ने तेरे सामने यह भयकर दृश्य उपस्थित किया है। टीकाकार ने विदर्शन शब्द का अर्थ नीचे लिखे अनुसार किया है—

'एस णं तुमे विदरिसणे' एतच्च त्वया विदर्शनं—विरूपाकारं विभीषिकादि दृष्टं—अवलोकितमिति।

'भग्गव्वए त्ति' भग्नव्रत—स्थूलप्राणातिपातविरतेर्भावतो भग्नत्वात्, तद्विनाशार्थं कोपेनोद्धावनात्, सापराधस्यापि व्रतविषयीकृतत्वात्, भग्ननियमः—कोपोदयेनोत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्नत्वात्, भग्नपौषधो—ऽव्यापारपौषधभङ्गत्वात्।

भग्गव्वए-भग्गपोसहे—माता ने पुन कहा—तुम क्रोध मे आकर उस मायावी को पकडने के लिए उठे, इससे तुम्हारा व्रत, नियम और पौषधोवास टूट गया। यहाँ व्रत का अर्थ है—स्थूल प्राणातिपातविरमण रूप प्रथम व्रत। नियम का अर्थ है—उत्तर गुण। क्रोध आने के कारण उत्तर गुणो का भङ्ग हुआ और हिंसात्मक चेष्टा के कारण पौपधोपवास का भङ्ग हुआ। टीकाकार के नीचे लिखे शब्द हैं।

एयस्स त्ति—माता ने फिर कहा—हे चुलनीपिता! तुम इस भूल के लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त करो। यहाँ मूल पाठ मे यावत् शब्द दिया गया है जिससे टीकाकार ने नीचे लिखी वातो का अनुसन्धान किया है।

'अलोएहि—आलोचय, गुरुभ्योनिवेदय'—अर्थात् गुरु के सामने अपनी भूल को निवेदन करो।

'पडिक्कमाहि-निवर्त्तस्व'—अर्थात् वापिस लौटो, भूल के समय तुम वहिर्मुख हो गए, इसलिए पुन आत्मा-चिन्तन मे लीन हो जाओ।

'निन्दाहि—आत्मसाक्षिकां कुत्सां कुरु'—आत्मा को साक्षी बना कर इस भूल की निन्दा करो मन मे यह विचार करो कि मैंने बुरा कार्य किया है।

'गरिहाहि–गुरु साक्षिकां कुत्सां विदेहि'—गुरु को साक्षी बना कर उस भूल की प्रकट रूप मे निन्दा करो।

'विउट्टाहि–वित्रोटय तद्भावानुबन्धच्छेदं विदेहि'—तुम्हारे मन मे उस कार्य के सम्बन्ध मे जो विचारधारा चल रही है उसे समाप्त कर दो, तोड डालो।

'विसोहेहि–अतिचारमलक्षालनेन'—अतिचार अर्थात् दोषरूपी मैल को धोकर अपनी आत्मा को शुद्ध करलो।

'अकरणयाए अब्भुट्ठेहि-तदकरणाभ्युपगमं कुरु'—पुन ऐसा न करने का सकल्प करो।

'अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्त पडिवज्जाहि–यथार्हं तपः कर्म प्रायश्चित्त प्रति पद्यस्व'—शुद्धि के लिए यथा-योग्य तपस्या तथा प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

कुछ लोगो का मत है कि श्रावक के लिए निशीथ सूत्र मे प्रायश्चित्त का विधान नही है, अत उसे इसकी आवश्यकता नही है। यह मान्यता ठीक नही है, क्योकि उपरोक्त पाठ मे चुलनीपिता श्रावक को भी प्रायश्चित्त लेने का आदेश किया गया है। यहाँ वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—**"एतेन च निशीथादिषु गृहिणं प्रति प्रायश्चित्तस्याप्रतिपादनान्न तेषां प्रायश्चित्तमस्तीति ये प्रतिपद्यन्ते, तन्मतमपास्तं। साधूद्देशेन गृहिणोऽपि प्रायश्चित्तस्य जीतव्यवहारानुपातित्वात्।"**

कुछ लोगो का मत है कि चुलनीपिता माता की रक्षा करने के लिए उठा, इसी कारण उसका व्रत भङ्ग हो गया, क्योकि साधु को छोड कर किसी अन्य प्राणी को बचाना पाप है। यह धारणा ठीक नही है। श्रावक के व्रतो मे यह स्पष्ट है कि उसे केवल निरापराध को मारने का त्याग होता है। अपराधी को दण्ड देने का त्याग नही होता। उपरोक्त मिथ्यात्वी देव अपराधी था। उसे पकडने और दण्ड देने के लिए उठने मे श्रावक का अहिसा व्रत नही टूटता, किन्तु चुलनीपिता पौषध मे था। उसने दो करण तीन योग से समस्त हिंसा का त्याग कर रखा था। माता या पुत्र ही नही अपने शरीर पर भी यदि कोई प्रहार करने आता है तो पौषधधारी को

शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय उसकी अवस्था एक साधु के समान होती है। इस से यह नही सिद्ध होता है कि खुली अवस्था मे भी माता-पिता आदि की रक्षा करना पाप है। प्रायश्चित्त तो व्रत के भग्न होने के कारण से है, माता की रक्षा के लिए प्रायश्चित्त नही है।

चुलनीपिता द्वारा भूल स्वीकार और प्रायश्चित्त ग्रहण—

मूलम्—**तए णं से चुलणीपिया समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्थवाहीए "तह" त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ ॥ १४५ ॥**

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकोऽम्बिकायाः तथेति एनमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य तस्य स्थानस्य आलोचयति, यावत्प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ—**तए णं से चुलणीपिया समणोवासए**—तदनन्तर उस चुलनीपिता श्रमणोपासक ने **अम्मगाए एयमट्ठं**—माता भद्रा सार्थवाही की इस वात को **विणएणं पडिसुणेइ**—विनयपूर्वक स्वीकार किया, **पडिसुणेत्ता**—स्वीकार करके **तस्स ठाणस्स**—उस भूल को **आलोएइ**—आलोचना की **जाव पडिवज्जइ**—यावत् प्रायश्चित्त अङ्गीकार किया।

भावार्थ—तब चुलनीपिता श्रावक ने माता की वात विनयपूर्वक स्वीकार की, और उस भूल की आलोचना की यावत् प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि की।

चुलनीपिता द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—**तए णं से चुलणीपिया समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ, पढमं उवासग-पडिमं अहासुत्तं जहा आणंदो जाव एक्कारसमं पि ॥ १४६ ॥**

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकः प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसम्पद्य-विहरति। प्रथमामुपासक-प्रतिमा यथा सूत्र यथाऽऽनन्दो यावदेकादशीमपि।

शब्दार्थ—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए—तदनन्तर उस चुलनीपिता श्रमणोपासक ने **पढमं उवासग पडिमं**—प्रथम उपासक प्रतिमा को **उवसपज्जित्ताणं विहरइ**—अङ्गीकार किया, **पढमं उवासग पडिमं**—प्रथम उपासक प्रतिमा को **अहासुत्तं**—तथा सूत्र **जहा आणदो**—आनन्द के समान पालन किया, **जाव एक्कारसमपि**—यावत् ग्यारहवी प्रतिमा का पालन किया।

भावार्थ—तदनन्तर चुलनीपिता ने श्रावक की पहली प्रतिमा स्वीकार की और आनन्द के समान यथा-सूत्र पालन किया। इसी प्रकार क्रमश ग्यारहवी प्रतिमा स्वीकार की।

जीवन का उपसंहार और भविष्य—

मूलम्—**तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं उरालेणं जहा कामदेवो जाव सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिसगस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं अरुणप्पभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ ५। निक्खेवो ॥ १४७ ॥**

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं तइयं चुलणीपियाज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेनोदारेण यथा कामदेवो यावत्सौधर्मे कल्पे सौधर्मावतंसकस्यौत्तरपौरस्त्येऽरुणप्रभे विमाने देवतयोपपन्नः। चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता। महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेप ॥

शब्दार्थ—**तए णं से चुलणीपिया समणोवासए**—तदनन्तर वह चुलनीपिता श्रमणोपासक **तेण उरालेणं**—उग्र तपश्चरण द्वारा **जहा कामदेवो**—कामदेव के समान **जाव**—यावत् अन्त मे **सोहम्मे कप्पे**—सौधर्म कल्प मे **सोहम्मवडिसगस्स**—सौधर्मावतसक के **उत्तरपुरत्थिमेणं**—उत्तर पूर्व—ईशानकोण मे **अरुणप्पभे विमाणे**—अरुणप्रभ विमान मे **देवत्ताए उववन्ने**—देव रूप मे उत्पन्न हुआ **चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता**—वहाँ उसकी चार पल्योपम की स्थिति प्रतिपादन की गई है। **महाविदेहे वासे**—वह चुलनीपिता देव महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर **सिज्झिहिइ**—सिद्ध होगा।

भावार्थ—कामदेव की भाँति चुलनीपिता भी कठोर तपश्चरण द्वारा सौधर्म कल्प, सौधर्मावतसक के उत्तरपूर्व ईशान कोण मे स्थित अरुणप्रभ विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी चार पल्योपम आयु है। वह भी महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा।

टीका—उपरोक्त तीन सूत्रो मे चुलनीपिता अध्ययन का उपसहार है। माता के कथनानुसार उसने आलोचना, प्रायश्चित्त आदि द्वारा आत्मशुद्धि की। तत्पश्चात् ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की। सलेखना द्वारा शरीर का परित्याग करके सौधर्म देवलोक के अरुणप्रभ विमान मे उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यव कर वह देव महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और मोक्ष प्राप्त करेगा। निक्षेप—उपसहार पूर्व की भाँति ही जान लेना चाहिए।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशासूत्र का तृतीय चुलनीपिता अध्ययन समाप्त ॥

चउत्थमज्झयणं

चतुर्थ अध्ययन

मूलम्—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। सुरादेवे गाहावई अड्ढे। छ हिरण्ण-कोडीओ जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं। धन्ना भारिया। सामी समोसढे। जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं। जहा कामदेवो जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १४८ ॥

छाया—उपक्षेपकश्चतुर्थस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू. ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाराणसी नाम नगरी, कोष्ठकश्चैत्यः। जितशत्रू राजा, सुरादेवो गाथापतिः आढ्यः। षड् हिरण्यकोटयो यावत् षड् व्रजा दसगोसाहस्रिकेण व्रजेन, धन्या भार्या, स्वामी समवसृत·, यथाऽऽनन्दस्तथैव प्रतिपद्यते गृहिधर्मम्। यथा कामदेवो यावत्—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकी धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स—तृतीय अध्ययन की भान्ति ही अब चतुर्थ अध्ययन का आरम्भ होता है—इस अध्ययन के प्रारम्भ मे भी जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया और सुधर्मास्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—एव खलु जम्बू !—हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय वाणारसी नामं नयरी वाराणसी नामक नगरी थी, कोट्ठए चेइए—कोष्ठक नाम का चैत्य था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था, सुरादेवे गाहावई—वहाँ सुरादेव नामक गाथापति रहता था, अड्ढे—वह समृद्ध था, छ हिरण्ण कोडिओ—उसके पास छ करोड मोहरे कोष मे थी, छ करोड व्यापार मे लगी हुई थी और छ करोड घर तथा सामान मे थी, छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक व्रज मे दस हजार के हिसाब से छ व्रज

अर्थात् ६० हजार गाएँ थी, धन्ना भारिया—धन्या नाम की भार्या थी, सामी समोसढे—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए, जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया जहा कामदेवो—कामदेव के समान जाव—यावत् समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिय—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप स्वीकृत धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—धर्मप्रज्ञप्ति को ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—अब चतुर्थ अध्ययन का आरम्भ होता है। सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी के उत्तर मे इस प्रकार कहते हैं कि हे जम्बू! उस काल और उस ही समय वाराणसी नाम की नगरी थी। वहाँ कोष्ठक नामक चैत्य था। जितशत्रु राजा था। सुरादेव गाथापति था जो अतीव समृद्ध था। उसकी धन्या नाम की पत्नी थी उसके पास छ करोड सुवर्ण कोष मे जमा थे, छ करोड व्यापार मे लगे हुए थे और छ करोड सामान मे। प्रत्येक व्रज मे दस हजार गायो के हिसाब से ऐसे छ व्रज थे अर्थात् ६० हजार पशु-धन था। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर वाराणसी आए और कोष्ठक उद्यान मे ठहर गए। सुरादेव भी आनन्द के समान दर्शनार्थ आया और गृहस्थधर्म स्वीकार करके उसका पालन करने लगा। समय बीतने पर उसने भी कामदेव के समान पौषधोपवास किया और भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मप्रज्ञप्ति के अनुसार जीवन बिताने लगा।

पिशाच का उपद्रव—

मूलम्—तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त काल-समयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था, से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय सुरादेवं समणोवासयं एवं वयासी—"हंभो सुरादेवा समणोवासया! अपत्थियपत्थया! ४, जइ णं तुमं सीलाइं जाव न भंजेसि, तो ते जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता पंच सोल्लए करेमि, करित्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं

मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहाणं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।" एवं मज्झिमयं, कणीयसं; एक्के-क्के पंच सोल्लया। तहेव करेइ, जहा चुलणीपियस्स; नवरं एक्के-क्के पंच सोल्लया ॥ १४६ ॥

छाया—तत. खलु तस्य सुरादेवस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्र कालसमये एको देवोऽन्तिकं प्रादुरभूत्, स देव एकं महान्तं नीलोत्पल यावदसिं गृहीत्वा सुरादेवं श्रमणोपासकमेवसवादीत्—"हभोः ! सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित प्रार्थक ! यदि खलु त्वं शीलानि यावन्न भनक्षि तर्हि ते ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा पञ्च शूल्यकानि करोमि, कृत्वा, आदहनभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे। एवं मध्यमकं, कनीयांसम्, एकैकस्मिन् पञ्च शूल्यकानि तथैव करोति यथा चुलनीपितुः। नवरमेकैकस्मिन् पञ्च शूल्यकानि।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स**—उस सुरादेव श्रमणोपासक के **अतियं**—पास **पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि**—अर्धरात्रि के समय **एगे देवे पाउब्भवित्था**—एक देव प्रकट हुआ, **से देवे**—वह देव **एगं महं**—एक वडी **नील्लुप्पल जाव असि गहाय**—नील कमल के समान यावत् तलवार लेकर **सुरादेवं—समणोवासयं**—सुरादेव श्रमणोपासक से **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा—**हंभो सुरादेवा समणोवासया !**—अरे सुरादेव श्रमणोपासक ! **अपत्थियपत्थया !**—अनिष्ट को चाहने वाले ! **जइणं**—यदि **तुमं**—तू **सीलाइं जाव न भंजेसि**—शीलादि व्रतो को यावत् नही छोडेगा **तो ते जेट्ठं पुत्तं**—तो तेरे वडे पुत्र को **साओ गिहाओ नीणेमि**—अपने घर से लाता हूँ **नीणित्ता**—लाकर **तव अग्गओ घाएमि**—तुम्हारे सामने मारता हूँ, **घाएत्ता**—मारकर **पंच सोल्लए करेमि**—पाँच टुकडे करूँगा **करित्ता**—करके **आदाण भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि**—तेल से भरे हुए कडाह मे तलता हूँ **अद्दहित्ता**—तलकर **तव गायं**—तेरे शरीर को **मसेण य**—मास और **सोणीएण य**—रुधिर से **आयचामि**—छींटूगा **जहाणं तुमं**—जिससे तू **अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि**—अकाल मे ही मृत्यु को प्राप्त होगा। **एवं मज्झिमयं कणीयसं**—इस प्रकार मझले तथा कनिष्ठ पुत्र के **एक्के-क्के पंच सोल्लया**—एक-एक के पाँच-पाँच मास खण्ड

तहेव करेइ—उसी प्रकार किए, जहा—जैसे चुलनीपिता के। नवरं एक्के-क्के पच सोल्लया—इतना ही भेद है यहाँ एक-एक के पाँच-पाँच मास खण्ड किए।

भावार्थ—सुरादेव श्रमणोपासक के पास अर्धरात्रि के समय एक देव हाथ मे नीली तलवार लेकर बोला—"अरे सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अनिष्ट के कामी ! यदि तू शीलादि व्रतो का त्याग नही करता तो मैं तेरे बडे पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारता हूँ। उसके शरीर के पाँच टुकडे करके तेल से भरे हुए कडाहे मे तलता हूँ, तथा तेरे शरीर को उस के मास और रुधिर से छीटूं गा जिससे तू अकाल मे ही जीवन से रहित हो जाएगा !" यावत् पिशाच ने वैसा ही किया। इसी प्रकार मँझले तथा कनिष्ठ पुत्र के साथ किया। चुलनीपिता के समान उनके शरीर के टुकड़े किए। विशेष बात यही है कि यहाँ पर एक-एक के पाँच-पाँच टुकडे किए हैं।

सुरादेव के शरीर मे १६ रोग उत्पन्न करने की धमकी—

मूलम्—तए णं से देवे सुरादेवं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी—"हंभो ! सुरादेवा समणोवासया ! अपत्थियपत्थया ४ ! जाव न परिच्चयसि, तो ते अज्ज सरीरंसि जमग-समगमेव सोलस रोगायंके पक्खिवामि, तं जहा—सासे, कासे जाव कोढे, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि" ॥ १५० ॥

छाया—तत खलु स देव. सुरादेवं श्रमणोपासक चतुर्थमप्येवमवादीत्—"हभो ! सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित प्रार्थक ! यावन्नपरित्यजसि तर्हि तेऽद्य शरीरे यमक-समकमेव षोडश रोगातङ्कान् प्रक्षिपामि; तद्यथा—श्वासः, कासो यावत्कुष्टम्, यथा खलु त्वमार्त्त दु खार्त्त यावद्व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे—वह देव सुरादेवं समणोवासय—सुरादेव श्रमणोपासक को चउत्थपि एवं वयासी—चौथी वार भी इस प्रकार कहने लगा—हभो सुरादेवा ! समणोवासया !—अरे सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अपत्थियपत्थया—अनिष्ट की कामना करने वाले जाव—यावत् न परिच्चयसि—यदि शीलादि व्रतो को

नही छोडता तो ते—तो तेरे अज्ज सरीरंसि—शरीर मे आज जमगसमगमेव सोलस—एक साथ ही सोलह रोगायके पक्खिवामि—रोग और आतक को डालता हूँ, त जहा—जैसे कि सासे कासे—श्वास, खाँसी जाव—यावत् कोढे—कोढ। जहा णं तुम—जिससे तू अट्ट दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि—आर्त्त, दु खी तथा विवश होता हुआ यावत् अकाल मे मारा जाएगा।

भावार्थ—तदनन्तर वह देव मुरादेव श्रमणोपासक को चौथी बार इस प्रकार कहने लगा—"अरे सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अनिष्ट के कामी ! यावत् यदि तू शीलादि व्रतो को भग नही करेगा तो आज तेरे शरीर मे एक साथ सोलह रोगो को डालता हूँ जैसे श्वास, खाँसी यावत् कोढ जिससे तू आर्त्त, दु खी, विवश होकर अकाल मे ही मर जाएगा।"

मूलम्—तए णं से सुरादेवे समणोवासए जाव विहरइ। एवं देवो दोच्चंपि तच्चंपि भणइ, जाव ववरोविज्जसि ॥ १५१ ॥

छाया—तत खलु स सुरादेवः श्रमणोपासको यावद्विहरति। एव देवो द्वितीयमपि तृतीयमपि भणति, यावद् व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—तए ण से सुरादेवे समणोवासए—तदनन्तर वह सुरादेव श्रमणोपासक जाव विहरइ—यावत् धर्म-ध्यान मे स्थिर रहा एवं देवो दोच्चपि तच्चंपि—देव ने दूसरी और तीसरी वार उसी प्रकार भणइ—कहा ववरोविज्जसि—यावत् मारा जाएगा।

भावार्थ—सुरादेव श्रमणोपासक फिर भी धर्म ध्यान मे स्थिर रहा। देव ने दूसरी और तीसरी बार भी उसी प्रकार कहा—यावत् मारा जाएगा।

सुरादेव का विचलित होना और पिशाच को पकडने का प्रयत्न—

मूलम्—तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स, इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—"अहो णं इमे

पुरिसे अणारिए जाव समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं जाव कणीयसं जाव आयंचइ, जे वि य इमे सोलस रोगायंका, ते वि य इच्छइ मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए" त्तिकट्टु उद्धाइए। से वि य आगासे उप्पइए। तेण य खम्भे आसाइए, महया-महया सद्देणं कोलाहले कए ॥१५२॥

छाया—तत खलु तस्य सुरादेवस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४—"अहो खल्वयं पुरुषोऽनार्यो यावत्समाचरति येन मम ज्येष्ठं पुत्रं यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चति येऽपि इमे षोडश रोगातङ्कास्तानपि चेच्छति मम शरीरे प्रक्षेप्तुं, तच्छ्रेय खलु ममैतं पुरुषं ग्रहीतुम्" इति कृत्वोत्थित, सोऽपि चाऽऽकाशे उत्पतित· तेन च स्तम्भ आसादितः, महता-महता शब्देन कोलाहल· कृतः।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स**—उस सुरादेव श्रमणोपासक को **तेणं देवेणं दोच्चपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स**—उस देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी वार कहने पर **इमेयारूवे**—इस प्रकार **अज्झत्थिए**—विचार उत्पन्न हुआ। **अहो णं**—अहो! **इमे पुरिसे**—यह पुरुष **अणारिए**—अनार्य **जाव**—यावत् **समायरइ**—(अनार्य कर्मो का) आचरण करता है **जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं**—जिसने मेरे वडे पुत्र **जाव**—यावत् **कणीयसं**—कनिष्ठ पुत्र के **जाव आयंचइ**—रुधिरादि से सीचा, **जे वि य इमे सोलस रोगायका**—तथा जो ये सोलह रोगातंक हैं **ते वि य इच्छइ**—उनको भी यह चाहता है **ममं सरीरगंसि पक्खिवित्तए**—मेरे शरीर मे डालना। **तं सेय खलु**—तो उचित होगा **ममं**—मुझे **एयं पुरिसं**—इस पुरुष को पकड लेना **त्ति कट्टु उद्धाइए**—ऐसा विचार करके (उस देव को पकडने के लिए) उठा **से वि य आगासे उप्पइए**—वह पुरुष आकाश मे उड गया **तेण य खंभे आसाइए**—सुरादेव ने खभे को पकड लिया, **महया महया सद्देणं कोलाहले कए**—और जोर जोर से कोलाहल करने लगा।

भावार्थ—सुरादेव उस देव के द्वारा दूसरी तीसरी वार ऐसा कहने पर, सोचने लगा—"अहो! यह पुरुष अनार्य है, अनार्य कर्मो का आचरण करता है। इसने मेरे

बड़े तथा छोटे पुत्र को मार कर मेरे शरीर को उनके रुधिर से छीटे दिए हैं। अब यह श्वास, खाँसी तथा कोढादि सोलह रोगो को मेरे शरीर मे डालना चाहता है। अत इसको पकड लेना ही उचित है।" यह विचार कर देव को पकडने के लिए उठा। परन्तु देव आकाश मे उड गया, उसने एक स्तम्भ पकड और जोर-जोर से चिल्लाने लगा।

टीका—जब देव पुत्रो की हत्या करके भी सुरादेव को विचलित नही कर सका तो उसने पुन प्रयत्न किया और सुरादेव के शरीर मे सोलह भयकर रोग डालने की धमकी दी। इस पर वह विचलित हो गया और देव को पकडने के लिए उठा।

सूत्र मे 'यमगं-समग' शब्द आया है। यह सस्कृत के 'यम' और 'सम' शब्दो के साथ 'क' प्रत्यय लगाने पर बना है। इसका अर्थ है 'एक साथ'।

प्राचीन समय मे सोलह भयकर रोग प्रचलित थे इनका वर्णन आगमो एव प्रकरण ग्रन्थो मे यत्र-तत्र मिलता है वह इस प्रकार है—

१ श्वास—दमा।
२ कास—खाँसी।
३ ज्वर—बुखार।
४ दाह—पित्त-ज्वर अर्थात् शरीर मे जलन।
५ कुक्षी—कमर मे पीडा।
६ शूल—पेट मे रह-रह कर दर्द उठना।
७ भगन्दर—गुदा पर फोडा।
८ अर्श—बवासीर।
९ अजीर्ण—बदहजमी—खाना न पचना।
१० दृष्टि-रोग—नजर का फटना आदि आँख की बीमारी।
११ मस्तक-शूल—सिर दर्द।
१२ अरुची—भूख न लगना।
१३ अक्षि-वेदना—आख का दुखना।
१४ कर्ण-वेदना—कानो के रोग, दुखना आदि।

१४ कण्डू—खुजली ।
१५ उदर-रोग—पेट की बिमारी ।
१६ और कुष्ट—कोढ ।

पत्नी द्वारा धर्म में पुनः सस्थापन—

मूलम्——तए णं सा धन्ना भारिया कोलाहलं सोच्चा निसम्म, जेणेव सुरादेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता एवं वयासी——"किण्णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहि महया-महया सद्देणं कोलाहले कए ?" ॥ १५३ ॥

छाया—तत. खलु सा धन्या भार्या कोलाहल श्रुत्वा निशम्य, येनैव सुरादेवः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्यैवमवादीत्—"कि खलु देवानुप्रियाः ! युष्माभिर्महता महता शब्देन कोलाहल. कृत. ।"

शब्दार्थ——तए ण—तदनन्तर सा धन्ना भारिया—वह धन्या भार्या कोलाहलं—कोलाहल सोच्चा—सुन करके, निसम्म—विचार कर के जेणेव सुरादेवे—जहाँ सुरादेव समणोवासए—श्रमणोपासक था तेणेव उवागच्छइ—वहा आई उवागच्छित्ता—आकर एवं वयासी—इस प्रकार बोली किण्णं—क्या देवाणुप्पिया—देवानुप्रिय ! तुब्भेहि महया महया सद्देणं कोलाहले—तुमने जोर-जोर से कोलाहल कए ? किया ?

भावार्थ——सुरादेव की धन्या नाम की पत्नी कोलाहल सुनकर, वह आई और बोली—हे देवानुप्रिय—क्या तुम चिल्लाए थे ?

मूलम्——तए णं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी——"एवं खलु देवाणुप्पिए ! के वि पुरिसे तहेव जहा चुलणीपिया । धन्ना वि पडिभणइ, जाव कणीयसं । नो खलु देवाणुप्पिया ! तुब्भं के वि पुरिसे सरीरंसि जमगं-समग सोलस रोगायंके पक्खिवइ, एस न के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ ।" सेसं जहा चुलणीपियस्स तहा भणइ, एवं

सेसं जहा चुलणीपियस्स निरवसेसं जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकंते कप्पे विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ निक्खेवो ॥ १५४ ॥

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं चउत्थं सुरादेवज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु स सुरादेव. श्रमणोपासको धन्यां भार्यामेवमवादीत्–"एवं खलु देवानुप्रिये ! कोऽपि पुरुषस्तथैव कथयति यथा चुलनीपिता।" धन्यापि प्रतिभणति, यावत्कनीयांसं, "नो खलु देवानुप्रियाः ! युष्माकं कोऽपि पुरुषः शरीरे यमक-समकं षोड्श रोगातङ्कान् प्रक्षिपति, एव खलु कोऽपि पुरुषो युष्माकमुपसर्गं करोति", शेषं यथा चुलनीपितरि भद्रा भणति। एवं निरविशेषं यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणकान्ते विमाने उपपन्नः। चत्वारि पल्योपमानि स्थिति महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेपः।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सुरादेवे—वह सुरादेव समणोवासए—श्रमणोपासक धन्नं भारियं—(अपनी) धन्या पत्नी से एवं वयासी—इस प्रकार बोला। एवं खलु देवाणुप्पिए !—हे देवाप्रिये ! इस प्रकार के वि पुरिसे—कोई पुरुप तहेव कहेइ जहा चुलणीपिया—सब वृतान्त उसी प्रकार कहा जैसे चुलनीपिता ने कहा था, धन्ना वि पडिभणइ—धन्या ने भी उसी प्रकार उत्तर दिया, (भद्रा के समान) जाव—यावत् कणीयसं—कनिष्ठ पुत्रादि (सब घर पर कुशल हैं) नो खलु देवाणुप्पिया—निश्चय ही हे देवानुप्रिय ! केवि पुरिसे—कोई पुरुप तुब्भं—तुम्हारे सरीरसि—शरीर मे जमग समग—एक साथ ही सोलस रोगायंके पक्खिवइ—सोलह रोगातङ्क डालता। (ऐसा कोई पुरुप नही है) एस णं के वि पुरिसे तुब्भं—य किसी पुरुप ने तुम्हारे साथ उवसग्गं करेइ—उपसर्ग किया है। सेसं जहा चुलणीपियस्स भद्दा भणइ—शेप जैसे चुलनीपिता को भद्रा माता ने कहा था वैसे कहा, एवं निरवसेसं—इस प्रकार निरविशेप जाव—यावत् सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प में अरुणपकंते कप्पे—अरुणकात कल्प विमाणे उववन्ने—विमान मे वह उत्पन्न हुआ, चत्तारि पलिओवमाइं ठिई—वहा पर सुरादेव की चार पल्योपम स्थिति है, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्खेवो—निक्षेप।

भावार्थ—सुरादेव ने अपनी भार्या धन्या को कहा—हे देवानुप्रिये ! निश्चय ही यहाँ कोई पुरुष आया। और सब वृत्तान्त उसी प्रकार कहा, जैसे चुलनीपिता ने अपनी भद्रा माता को कहा था। धन्ना भार्या ने भी सुरादेव को कहा—कि तेरे कनिष्ठ पुत्रादि सब सकुशल हैं। तुम्हारे शरीर मे एक साथ सोलह रोग डालने का किसी पुरुष ने उपसर्ग किया है। शेष चुलनीपिता को माता भद्रा के समान कहा। इस प्रकार यावत् सुरादेव भी सौधर्म-कल्प मे अरुणकान्त विमान मे उत्पन्न हुआ। वहाँ पर इस की चार पल्योपम स्थिति है और वह भी महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप—पूर्ववत् जान लेना चाहिए।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा-सूत्र का चतुर्थ सुरादेव अध्ययन समाप्त ॥

पंचमज्झयणं

पंचम अध्ययन

मूलम्——उक्खेवो पञ्चमस्स अज्झयणस्स एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया नामं नयरी। संखवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया। चुल्लसए गाहावई अड्ढे जाव छ हिरण्ण-कोडीओ जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं। बहुला भारिया। सामी समोसढे। जहा आणन्दो तहा गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। सेसं जहा कामदेवो जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १५५ ॥

छाया—उपक्षेपः पञ्चमस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये आलभिका नाम नगरी, शङ्खवनमुद्यानम् जितशत्रू राजा, चुल्लशतको गाथापतिराढ्यो षड् हिरण्यकोटयो यावत् षड् व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन। बहुला भार्या। स्वामी समवसृतः, यथाऽऽनन्दस्तथा गृहिधर्मं प्रतिपद्यते। शेषं यथा कामदेवो यावद् धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ——उक्खेवो पंचमस्स अज्झयणस्स—पाँचवे चुल्लशतक अध्ययन का उपक्षेप, जम्बूस्वामी ने प्रश्न किया और सुधर्मा स्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—एवं खलु जम्बू—हे जम्बू ! इस प्रकार तेण कालेणं तेणं समएणं—उस काल और समय आलभिया नामं नयरी—आलभिका नाम की नगरी, संखवणे उज्जाणे—शखवन उद्यान, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा चुल्लसए गाहावई—और चुल्लशतक गाथापति था, अड्ढे जाव—वह समृद्ध यावत् अपरिभूत था, छ हिरण्ण कोडीओ—छ करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे थी, छ करोड व्यापार मे लगी हुई थी, और छ करोड़ घर तथा सामान मे लगी हुई थी। जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएण—यावत् प्रत्येक व्रज मे दस हजार गायो के हिसाब से छ व्रज अर्थात् ६० हजार गाएँ थी। बहुला

भारिया—वहुला भार्या थी, सामी समोसढे—भगवान् महावीर समवसृत हुए, जहा आणंदो तहा गिहिधम्मं पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया, सेसं जहा कामदेवो—शेष कामदेव के समान है, जाव धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताणं विहरइ—यावत् धर्मप्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर मे इस प्रकार कहा—हे जम्बू! उस काल उस समय आलभिका नाम की नगरी थी। वहां शखवन उद्यान था, जितशत्रु राजा राज्य करता था और चुल्लशतक नामा गाथापति था वह अति समृद्ध यावत् अपरिभूत था। उसकी छ करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे थी, छ करोड व्यापार मे लगी हुई थी, और छ करोड़ घर तथा सामान में। दस हजार गायो के प्रत्येक व्रज के हिसाब से छ व्रज अर्थात् ६० हजार पशु-धन था। वहुला भार्या थी। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर वहाँ आलभिका नगरी में पधारे। आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ-धर्म को स्वीकार किया। यावत् कामदेव के समान धर्मप्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा।

पिशाच का उपद्रव—

मूलम्—तए णं तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त काल-समयंसि एगे देवे अंतियं जाव असिं गहाय एवं वसासी—"हंभो! चुल्ल-सयगा समणोवासया! जाव न भंजसि तो ते अज्ज जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि। एवं जहा चुलणीपियं, नवरं एक्के-क्के सत्त मंससोल्लया जाव कणीयसं जाव आयंचामि" ॥ १५६ ॥

तए णं से चुल्लसयए समणोवासए जाव विहरइ ॥ १५७ ॥

छाया—ततः खलु तस्य चुल्लशतकस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्र काल-समये एको देवोऽन्तिकं यावदसिं गृहीत्वैवमवादीत्—"हंभो चुल्लशतक! श्रमणोपासक! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य ज्येष्ठ पुत्रं स्वस्माद् गृहान्निर्णयामि, एवं यथा चुलनीपितरं, नवरमेकैकस्मिन् सप्त मांसशूल्यकानि यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चामि।

ततः खलु स चुल्लशतकः श्रमणोपासको यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स—उस चुल्लशतक श्रमणोपासक के पास अंतियं पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि—अर्धरात्रि मे एगे देवे—एक देवता जाव असि गहाय–यावत् तलवार (हाथ मे) एवं वयासी–इस प्रकार बोला–हंभो चुल्लसयगा समणोवासया!—अरे चुल्लशतक श्रमणोपासक ! जाव न भंजसि—यावत् तू यदि शीलादि व्रतो को नही छोडेगा तो ते–तो तेरे अज्ज जेट्ठं पुत्तं–आज तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को साओ गिहाओ—अपने घर से नीणेमि—निकाल लाता हूँ एवं जहा चुलणीपियं—इस प्रकार चुलनीपिता के समान (करता है) नवरं एक्के-क्के सत्त मसं सोल्लया—विशेप यही है कि यहाँ एक २ के सात २ मास खड किए, जाव कणीयसं जाव आयंचामि—यावत् कनिष्ठ पुत्र के रुधिर और मास से छींटू गा।

तए णं से चुल्लसयए समणोवासए—तदनन्तर चुल्लशतक श्रमणोपासक जाव—यावत् विहरइ—शान्त एवं ध्यान मे स्थिर रहा।

भावार्थ—चुल्लगतक श्रमणोपासक के पास अर्धरात्रि के समय एक देव हाथ मे तलवार लेकर आया। और कहने लगा—अरे चुल्लशतक श्रमणोपासक ! यदि तू शीलादि व्रतो को नही छोडेगा तो मैं तेरे ज्येष्ठ पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारूँगा। इस प्रकार चुलनीपिता के समान कहा। विगेष यही है कि यहा पर एक-एक के सात-सात टुकडे—माँस खड करने को कहा यावत् कनिष्ठ के रुधिर और मास से छीटे दूंगा।

चुल्लशतक फिर भी गान्त एव ध्यानावस्थित रहा।

मूलम्—तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी—"हं भो ! चुल्लसयगा समणोवासया ! जाव न भंजसि तो ते अज्ज जाओ इमाओ छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर पउत्ताओ, ताओ साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव पहेसु सव्वओ समंता विप्पइरामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टेअकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि" ॥ १५८ ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुल्लशतकं श्रमणोपासकं चतुर्थमप्येवमवादीत्—"हंभो चुल्लशतक ! श्रमणोपासक ! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य या इमाः षड् हिरण्य-कोटयो निधान-प्रयुक्ताः, षड् वृद्धि-प्रयुक्ताः षड् प्रविस्तर-प्रयुक्तास्ताः स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वाऽऽलभिकायां नगर्यां शृङ्गाटक यावत्पथेषु सर्वत समन्ताद् विप्रकिरामि यथा खलु त्वमार्त्तो वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे ।

भावार्थ—**तए णं से देव**—तदनन्तर वह देव **चुल्लसयगं समणोवासयं**—चुल्लशकत श्रमणोपासक को **चउत्थ पि**—चतुर्थ बार **एव वयासी**—इस प्रकार कहने लग—**हभो चुल्लसयगा ! समणोवासया !**—अरे ! चुल्लशतक ! श्रमणोपासक ! **जाव न भजसि**—यावत् यदि तू शीलादि व्रतो का त्याग नही करता **तो ते अज्ज**—तो तुम्हारी **जाओ इमाओ**—जो यह छ **हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ छ वुड्ढिपउत्ताओ, छ पवित्थर पउत्ताओ**—छ करोड़ मुद्राएँ कोष मे हैं, छ करोड व्यापार मे लगी हुई हैं और छ करोड गृह तथा उपकरणो मे लगी हुई हैं **ताओ साओ गिहाओ नीणेमि**—उन को घर से लाता हूँ **नीणेत्ता**—लाकर **आलभियाए नयरीए**—आलभिका नगरी मे **सिंघाडग जाव पहेसु**—शृङ्गाटक तथा यावत् मार्गो मे **सव्वओ समंता विप्पइरामि**—चारो ओर बिखेर दूंगा । **जहा णं तुमं**—जिस से तू **अट्ट दुहट्ट वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ**—जिससे तू अत्यन्त चिन्तामग्न तथा विवश हो कर अकाले मे ही जीवन से **ववरोविज्जसि**—पृथक हो जाएगा ।

भावार्थ—देव ने चुल्लशतक श्रमणोपासक को चौथी बार कहा—हे चुल्लशतक ! यदि तू शीलादि व्रतो को भग नही करता तो यह जो तेरे छ करोड सुवर्ण-मुद्राएँ कोष मे हैं, छ करोड व्यापार मे लगी हुई हैं तथा छ करोड गृह तथा उपकरणो मे लगी हैं, उन सबको चौराहो पर बिखेर दूंगा जिससे तू चिन्तामग्न तथा दु खी होकर अकाल मे ही मृत्यु को प्राप्त करेगा ।

मूलम्—**तए णं से चुल्लसयए समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १५९ ॥**

छाया—तत. खलु स चुल्लशतकः श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं से चुल्लसयए समणोवासए—तदनन्तर वह चुल्लशतक श्रमणोपासक तेणं देवेणं एव वुत्ते समाणे उस देव के इस प्रकार कहने पर भी अभीए जाव विहरइ—निर्भय यावत् ध्यान मे स्थिर रहा ।

भावार्थ—चुल्लशतक देव द्वारा इस प्रकार कहने पर भी ध्यान मे स्थिर रहा ।

मूलम्—तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि भणइ, जाव ववरोविज्जसि ॥ १६० ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुल्लशतकं श्रमणोपासकमभीतं यावद् दृष्टवा द्वितीयमपि तृतीयमपि तथैव भणति यावद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं—तदनन्तर वह देव चुल्लशतक श्रमणोपासक को अभीय जाव पासित्ता—निर्भय यावत् देख कर दोच्चं पि तच्च पि तहेव भणइ—द्वितीय तथा तृतीय वार उसी तरह कहा जाव ववरोविज्जसि—यावत् मारा जाए गा ।

भावार्थ—देव ने चुल्लशतक को निर्भय यावत् ध्यान स्थिर देख कर दूसरी तथा तीसरी वार उसी प्रकार कहा—यावत् मारा जाएगा ।

चुल्लशतक का विचलित होना और पत्नी द्वारा समाश्वासन—

मूलम्—तए णं चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए ४—"अहो णं इमे पुरिसे अणारिए जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ, जाव कणीयसं जाव आयंचइ, जाओ वि य णं इमाओ ममं छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ

छ वुड्ढि-पउत्ताओ छ पवित्थर-पउत्ताओ, ताओ वि य णं इच्छइ ममं साओ गिहाओ नीणेत्ता, आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव विप्पइरित्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए" त्ति कट्टु उद्धाइए, जहा सुरादेवो। तहेव भारिया पुच्छइ, तहेव कहेइ ॥ १६१ ॥

छाया—तत. खलु तस्य चुल्लशतकस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४—"अहो ! खल्वयं पुरुषोऽनार्यो यथा चुलनीपिता तथा चिन्तयति, यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चति, या अपि च खलु इमा मम षड् हिरण्यकोटयो निधानप्रयुक्ताः षड् वृद्धिप्रयुक्ताः, षड् प्रविस्तरप्रयुक्तास्ता अपि च खलु इच्छति मम स्वस्माद् गृहान्नीत्वाऽलभिकाया नगर्याः शृङ्गाटक यावद् विप्रकिरितुं तच्छ्रेयः खलु ममैनं पुरुषं ग्रहीतुमिति" कृत्वोत्थितो यथा सुरादेव.। तथैव भार्या पृच्छति तथैव कथयति।

शब्दार्थ—**तए णं तस्स चुल्लसयस्स समणोवासयस्स**—तदनन्तर उस चुल्लशतक श्रमणोपासक को **तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स**—देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी वार इस प्रकार कहा जाने पर **अयमेयारूवे अज्झत्थिए**—इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए—**अहो णं इमे पुरिसे अणारिए**—अहो ! यह पुरुष अनार्य है, **जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ**—चुलनीपिता के समान वह भी विचार करने लगा **जाव कणीयसं जाव आयंचइ**—यावत् कनिष्ठ पुत्र के खून से भी मुझे सींचा **जाओ वि य णं**—और जो यह **ममं**—मेरी **छहिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ छ वुड्ढिपउत्ताओ छ पवित्थर पउत्ताओ**—छ करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे हैं, छ करोड़ व्यापार मे लगी हुई हैं और छ करोड गृह तथा उपकरणो मे लगी हुई हैं **ताओ वि य णं इच्छइ ममं साओ गिहाओ नीणेत्ता**—उन सवको भी यह मेरे घर से निकाल कर **आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव विपइरित्तए**—आलभिका नगरी मे चौराहो पर यावत् विखेरना चाहता है, **तं सेयं खलु ममं इमं पुरिसं गिण्हित्तए**—तो मेरे लिए यही उचित है कि इस पुरुष को पकड लूँ **त्ति कट्टु**—ऐसा विचार करके **उद्धाइए**—उठा **जहा सुरादेवो**—सुरादेव के समान (उसके साथ भी हुआ) **तहेव भारिया पुच्छइ**—उसी प्रकार से पत्नी ने पूछा **तहेव कहेइ**—उसने भी उसी प्रकार उत्तर दिया।

भावार्थ—चुल्लशतक देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी वार कहे जाने पर सोचने लगा—"यावत् यह पुरुष अनार्य है। यावत् इसने मेरे कनिष्ठ पुत्र को मार कर मेरे शरीर को रुधिर और मास मे सीचा है। और अब मेरी जो छः करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे हैं, छ करोड़ व्यापार मे लगी हुई हैं और छ करोड घर तथा सामान मे लगी हुई हैं, आज यह उन्हे भी चौराहो पर विखेरना चाहता है। अत इसको पकड़ लेना ही उचित है।" यह सोच कर उसने भी सुरादेव की भाँति किया, उसकी भार्या ने उसी प्रकार उससे कोलाहल का कारण पूछा। उसने भी सब वृतान्त उसी प्रकार अपनी पत्नी को कहा।

उपसंहार—

मूलम्—सेसं जहा चुलणीपियस्स जाव सोहम्मे कप्पे अरुणसिट्ठे विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। सेसं तहेव जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवो ॥ १६२ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं पञ्चमंचुल्लसकयज्झयणं समत्तं ॥

छाया—शेषं यथा चुलनीपितुर्यावत्सौधर्म्मे कल्पेऽरुणश्रेष्ठे विमाने उत्पन्न.। चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः, शेषं तथैव यावन्महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेप.।

भावार्थ—**सेसं जहा चुलणीपियस्स जाव सोहम्मे कप्पे**—शेप सव चुलनीपिता के समान है यावत् सौधर्म-कल्प मे **अरुणसिट्ठे विमाणे उववन्ने**—अरुणश्रेष्ठ नामक विमान मे उत्पन्न हुआ **चत्तारि पलिओवमाइ ठिई**—(वहाँ उसकी भी) चार पल्योपम स्थिति है **सेसं तहेव**—शेष पूर्ववत् है **जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ**—यावत् महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा।

शब्दार्थ—शेप सव चुलनीपिता के समान यावत् सौधर्म-कल्प के अरुणश्रेष्ठ विमान मे वह उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी भी चार पल्योपम स्थिति है, महाविदेह मे जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप पूर्ववत् समझे।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा-सूत्र का पञ्चम चुल्लशतक अध्ययन समाप्त ॥

छट्ठमज्झयणं

षष्ठ अध्ययन

मूलम्——उक्खेवओ छट्ठस्स कुण्डकोलियस्स अज्झयणस्स, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कम्पिल्लपुरे नयरे, सहस्सम्बवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया। कुण्डकोलिए गाहावई। पूसा भारिया। छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ छ वुड्ढि-पउत्ताओ छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया दसगोसाहस्सि-एणं वएणं। सामी समोसढे, जहा कामदेवो तहा सावयधम्मं पडिवज्जइ। सच्चेव वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ॥ १६३॥

छाया—उपक्षेपक. षष्ठस्य कुण्डकौलिकस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बूः! तस्मिन् काले तस्मिन् समये काम्पिल्यपुरं नगर सहस्राम्रवनमुद्यानम्, जितशत्रू राजा। कुण्डकौलिको गाथापतिः। पूषा भार्या। षड् हिरण्यकोटयो निधान-प्रयुक्ताः, षड् वृद्धि-प्रयुक्ता, षट् प्रविस्तर-प्रयुक्ता, षड् व्रजा दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन। स्वामी समवसृतः। यथा कामदेवस्तथा श्रावकधर्मं प्रतिपद्यते। सा चैव वक्तव्यता यावत् प्रतिलाभयन् विहरति।

शब्दार्थ——छट्ठस्स कुण्डकोलियज्झयणस्स—छठे कुण्डकौलिक अध्ययन का उक्खेवओ—उपक्षेप अर्थात् आरम्भ इस प्रकार है—एवं खलु जम्बू ! इस प्रकार हे शिष्य जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय मे कम्पिलपुरे नयरे—काम्पिल्यपुर नगर, सहस्सम्बवणे उज्जाणे—सहस्राम्रवन उद्यान था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा, कुण्डकोलिए गाहावई—और कुण्डकौलिक गाथापति था, पूसा भारिया—(उसकी) पूषा नामक पत्नी थी, छ हिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ—छह करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे थी, छ वुड्ढिपउत्ताओ—छह करोड व्यापार मे लगी हुई थी और छ पवित्थरपउत्ताओ—छह गृह तथा उपकरण मे लगी हुई थी। छ वया दस-गोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक व्रज मे दस हजार गायो के हिसाब से छह व्रज पशु-धन

था । सामी समोसढे—भगवान् पधारे । जहा कामदेवो तहा सावयधम्मं पडिवज्जइ—कामदेव के समान उसने भी श्रावकधर्म अङ्गीकार किया । सच्चेव वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ—सारी वक्तव्यता उसी प्रकार है यावत् श्रमण-निर्ग्रन्थो को भक्तपान प्रतिलाभ अर्थात् आहार-पानी आदि वहराता हुआ विचरने लगा ।

भावार्थ—उपक्षेप पूर्ववत् है । हे जम्बू ! उस काल और उस समय काम्पिल्यपुर नगर था । उस नगर के बाहर सहस्राम्रवन नामक रमणीय उद्यान था । वहाँ पर जितशत्रु राजा राज्य करता था । उस नगर मे कुण्डकौलिक नामक प्रसिद्ध गाथापति था । उस गाथापति की पूपा नामक धर्म पत्नी थी । कुण्डकौलिक के पास छह करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे सुरक्षित थी, छह करोड सुवर्ण मुद्राएँ व्यापार मे लगी हुई थी और छह करोड घर तथा गृहोपकरण मे प्रयुक्त थी । उस गाथापति के पास छह व्रज पशु-धन था । उसी काल और समय में श्रमण भगवान् ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए काम्पिल्यपुर नगर के बाहर सहस्राम्रवन उद्यान में पधारे । आनद गाथापति के सदृश्य कुण्डकौलिक भी भगवान् का धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए गया । फलस्वरूप उसने भी द्वादश व्रतरूप गृहस्थधर्म अङ्गीकार किया । यावत् श्रमण-निर्ग्रन्थो को आहार-पानी वहराते हुए सेवा-भक्ति से अपना जीवन यापन करने लगा ।

कुण्डकौलिक द्वारा अशोकवनिका में धर्मानुष्ठान—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-कालसमयंसि जेणेव असोगवणिया, जेणेव पुढवि-सिला-पट्टए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता नाम-मुद्दगं च उत्तरिज्जगं च पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ, ठवित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १६४ ॥

छाया—तत खलु स कुण्डकौलिक· श्रमणोपासकोऽन्यदा कदाचित्पूर्वापराह्णकाल-समये येनैवाऽशोकवनिका येनैव पृथिवी-शिला-पट्टकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य नाम-मुद्रिकां चोत्तरीयकं च पृथिवी-शिला-पट्टके स्थापयति, स्थापयित्वा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुसम्पद्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ—तदनन्तर वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक अन्य किसी दिन पुव्वावरण्हकालसमयंसि—मध्याह्नकाल के समय जेणेव असोगवणिया—जहाँ अशोक-वनिका थी जेणेव पुढविसिलापट्टए—जहाँ पृथ्वी-शिला-पट्ट था तेणेव उवागच्छइ—वहाँ पर आया उवागच्छित्ता—आकर नाम मुद्दगं च—नामाङ्कित मुद्रिका (अगूठी) तथा उत्तरिज्जगं च—उत्तरीय अर्थात् दुपट्टे को पुढविसिलापट्टए ठवइ—पृथ्वी शिला पट्ट पर रखा, ठवित्ता रख करके समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं—श्रमण भगवान् महावीर के पास स्वीकार की हुई धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—धर्मप्रज्ञप्ति को अङ्गीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—तत्पश्चात् किसी दिन कुण्डकौलिक श्रमणोपासक मध्याह्न के समय अशोकवनिका (वाटिका) मे गया, वहाँ पृथ्वी-शिला-पट्ट पर अपने नाम से अङ्कित हाथ की अगूठी और ऊपर ओढने वाले उत्तरीय वस्त्र को रख दिया। तत्पश्चात् श्रमण भगवान् से प्राप्त की हुई धर्म-प्रज्ञप्ति का आराधन करने लगा।

देव का आगमन—

मूलम्—तए णं तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ॥ १६५ ॥

छाया—तत. खलु तस्य कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्यैको देवोऽन्तिके प्रादुरभूत्।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स—उस कुण्ड-कौलिक श्रमणोपासक के पास एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ।

भावार्थ—जिस समय कुण्डकौलिक श्रमणोपासक भगवान् महावीर के धर्म की आराधना कर रहा था उस समय वहाँ पर एक देव प्रकट हुआ।

देव द्वारा नियति-वाद की प्रशसा—

मूलम्—तए णं से देवे नाममुद्दं च उत्तरिज्जं च पुढवि-सिला-पट्टयाओ गेण्हइ, गिण्हित्ता सखिखिणिं अंतलिक्ख-पडिवन्ने कुण्डकोलिय समणोवासयं

एवं वयासी—"हंभो कुण्डकोलिया ! समणोवासया ! सुन्दरी णं देवाणुप्पिया ! गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती,—नत्थि उट्ठाणे इ वा, कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव परक्कमे इ वा, अणियया सव्वभावा" ॥ १६६ ॥

छाया—ततः खलु स देवो नाममुद्रां चोत्तरीयं च पृथिवी-शिला-पट्टकाद् गृह्णाति, गृहीत्वा सकिङ्किणिक अंतरिक्षप्रतिपन्नः कुण्डकौलिकं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हंभोः कुण्डकौलिक ! श्रमणोपासक ! सुन्दरी खलु देवानुप्रिय ! गोशालस्य मङ्खलि-पुत्रस्य धर्मप्रज्ञप्तिः, नास्ति उत्थानमिति वा, कर्मेति वा, बलमिति वा, वीर्यमिति वा, पुरुषकार-पराक्रमौ इति वा, नियताः सर्वभावाः। मंगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्मप्रज्ञप्ति., अस्ति उत्थानमिति वा, यावत्पराक्रम इति वा अनियता. सर्वभावा॰ ।

शब्दार्थ—**तए णं से देवे**—तदनन्तर उस देव ने **नाममुद्दं च उत्तरिज्जं च**—नाम-मुद्रिका और उत्तरीय को **पुढवि-सिला-पट्टयाओ गेण्हइ**—पृथिवी-शिला-पट्टक से उठाया **गिण्हित्ता**—उठाकर **सखिखिणि**—घुघरु का शब्द करते हुए **अंतलिक्ख-पडिवन्ने**—उडकर अन्तरिक्ष मे रुक गया **कुण्डकोलियं समणोवासयं एवं वयासी**—कुण्डकौलिक श्रावक को इस प्रकार कहने लगा—**हंभो कुण्डकोलिया ! समणोवासया !**—हे कुण्डकौलिक ! श्रमणोपासक ! **सुन्दरी णं देवाणुप्पिया ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती**—हे देवानुप्रिय ! मखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है, **नत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा**—(उसमे) उत्थान, कर्म, बल, (शारीरिक शक्ति) **वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा**—वीर्य, पुरुषकार तथा पराक्रम स्वीकार नही किया गया, **नियया सव्वभावा**—अर्थात् विश्व के समस्त परिवर्तन नियत अर्थात् निश्चित हैं, **मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती**—श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति मिथ्या है । **अत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा**—क्योकि उसमे उत्थान और पराक्रमादि को स्वीकार किया गया है। **अणियया सव्वभावा**—वहाँ सब भाव अनियत हैं ।

भावार्थ—उस देव ने नामाङ्कित मुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र को शिलापट पर से उठा लिया और घुंघरु बजाते हुए आकाश मे उड कर कुण्डकौलिक से कहने लगा—"हे कुण्डकौलिक श्रावक! देवानुप्रिय! मखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है। उसमे उत्थान (कर्म के लिए उद्यत होना) कर्म (गमनादि क्रियाएँ) बल (शारीरिक बल) वीर्य (आत्म तेज) पुरुषकार (पौरुष) तथा पराक्रम को स्वीकार नही किया गया। विश्व के समस्त परिवर्तन नियत हैं अर्थात् जो कुछ होना है होकर रहेगा। उसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता। इसके विपरीत श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असुन्दर अथवा मिथ्या है। उसमे उत्थान पराक्रमादि को स्वीकार किया गया है तथा जगत के परिवर्तन अनियत हैं अर्थात् पुरुषार्थ आदि के द्वारा उनमे परिवर्तन किया जा सकता है।"

टीका—पिछले पाँच अध्ययनो की अपेक्षा प्रस्तुत कुण्डकौलिक-अध्ययन भिन्न प्रकार का है। इसमे देवता उपसर्ग उपस्थित नही करता किन्तु कुण्डकौलिक के सामने भिन्न धार्मिक परम्परा का प्रतिपादन करता है, जो महावीर के समय अत्यन्त प्रचलित थी और उसके अनुयायियो की सख्या महावीर से भी अधिक थी। प्रस्तुत सूत्र में दोनो का परस्पर भेद दिखाया गया है। गोशालक नियतिवादी था। उसके मत मे विश्व के समस्त परिवर्तन नियत अर्थात् निश्चित हैं। उन्हे कोई बदल नही सकता। प्रत्येक जीव को ८४ लाख योनियो मे घूमना पडेगा और उसके पश्चात् अपने-आप मुक्ति प्राप्त हो जायगी। इन योनियो मे जो सुख-दु ख हैं वे भोगने ही पड़ेगे। कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ पराक्रम द्वारा उसमे परिवर्तन नही कर सकता। अत समस्त साधनाएँ, तपस्याएँ तथा भाग-दौड व्यर्थ हैं। इस मत का दूसरा नाम आजीविक भी है और उसका उल्लेख अशोक की धर्मलिपियो मे मिलता है, तत्पश्चात् सम्प्रदाय के रूप मे उल्लेख न मिलने पर भी भारतीय जीवन पर उसका प्रभाव अब भी अक्षुण्ण है। अब भी इस देश मे पुरुषार्थ छोडकर भाग्य के भरोसे बैठे रहने वालो की सख्या कम नही है। मलूकदास का नीचे लिखा दोहा साधु सन्यासी तथा फकीरो मे ही नही, गृहस्थो मे भी घर किए हुए है—

"अजगर करे न चाकरी पछी करे न काम।
दास मलूका कह गए सब के दाता राम॥"

सस्कृत साहित्य मे भी इस प्रकार के अनेक श्लोक मिलते हैं। जो पुरुषार्थ को व्यर्थ बताते हैं—

"प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थ',
सोऽवश्य भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपीह प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाश ॥"

पुरुषो को नियति अर्थात् होनहार के आधीन जो शुभ अथवा अशुभ प्राप्त करना होता है वह अवश्यमेव प्राप्त होता है अर्थात् जैसा भाग्य मे लिखा है वह होकर ही रहता है। प्राणी कितना ही प्रयत्न करे, जो वात नियति मे नही है, नही हो सकती। इसी प्रकार जो होनी है वह टल नही सकती।

"नहि भवति यन्न भाव्य, भवति च भाव्यं बिनाऽपि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥"

होनहार नही है वह कभी नही हो सकता और जो होनहार है वह विना ही प्रयत्न के हो जाता है। जिसकी होनहार अथवा भाग्य समाप्त हो गया है उसकी हाथ मे आई हुई सपत्ति भी नष्ट हो जाती है।

इसके विपरीत महावीर की परम्परा मे पुरुषार्थ के लिए पर्याप्त स्थान है। वहाँ यह माना है कि व्यक्ति पुरुषार्थ द्वारा अपने भविष्य को वदल सकता है। उसका वनाना या विगाडना स्वय उसके हाथ मे है। पूर्व जन्म के सञ्चित कर्मो को भी इस जन्म के पुरुषार्थ द्वारा वदला जा सकता है। इसी आशय का एक श्लोक योगवशिष्ठ मे भी आया है—

"द्वौ हुडाविव युद्धयेते, पुरुषार्थौ परस्परम्।
प्राक्तनोऽद्यतनश्चैव, जयत्यधिकवीर्यवान् ॥"

पुराना और नया पुरुपार्थ मेढो की तरह आपस मे टकराते रहते हैं, जिसमे अधिक शक्ति होती है वही जीत जाता है।

इस विषय की विशेष चर्चा के लिए जैन कर्म-सिद्धान्त का मनन करना चाहिए।

सूत्र मे पुरुपार्थ का अभिप्राय प्रकट करने के लिए कई शब्द दिए हैं, उनका सूक्ष्म आशय नीचे लिखे अनुसार है—

१. उत्थान—किसी काम को करने के लिए उठना अर्थात् खडे होना। मानसिक दृष्टि से इस का अर्थ है उत्साह।

२. कर्म—क्रिया, जाना-आना, हाथ-पैर हिलाना आदि शारीरिक व्यापार।

३ बल—शारीरिक शक्ति।

४. वीर्य—आत्म-बल अर्थात् हिम्मत न हारना, उत्साह को स्थिर रखना।

५. पुरुषकार—पुरुषत्व का अभिमान, सकटो के सामने पराजित न होना, कठिनाइयाँ आने पर भी हार न मानना।

६ पराक्रम—सफलता प्राप्त करने की शक्ति।

कुण्डकौलिक का उत्तर और देव का पराजित होना—

मूलम्—**तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—"जइ णं देवा! सुन्दरी गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा जाव अणियया सव्वभावा। तुमे णं देवा! इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी, दिव्वा देवज्जुई, दिव्वे देवाणुभावे किणा लद्धे, किणा पत्ते, किणा अभिसमन्नागए? किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं? उदाहु अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं?" ॥ १६७ ॥**

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकस्तं देवमेवमवादीद्—"यदि खलु देव! सुन्दरी गोशालस्य मंखलिपुत्रस्य धर्मप्रज्ञप्तिः—नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियताः सर्वभावा, मंगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्मप्रज्ञप्तिः—अस्त्युत्थानमिति वा यावदनियताः सर्वभावाः। त्वया खलु देवानुप्रिय! इयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिः, दिव्या देवद्युतिः, दिव्यो देवानुभावः केन लब्धः? केन प्राप्तः, केनाभिसमन्वागतः? किमुत्थानेन यावत्पुरुषकारपराक्रमेण? उताहो! अनुत्थानेनाऽकर्मणा यावदपुरुषकारपराक्रमेण?"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से कुण्डकोलिए समणोवासए**—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक **तं देवं**—उस देव को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**जइ णं देवा !**—हे देव ! यदि **सुन्दरी गोसालस्स मंखली-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती**—मखलीपुत्र गोशाल की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन है, **नत्थि उट्ठाणे इ वा**—क्योकि इसमे उत्थान नही है, **जाव नियया सव्वभावा**—यावत् सर्वभाव नियत हैं, **मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती**—तथा श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असमीचीन है। **अत्थि उट्ठाणे इ वा**—क्योकि उसमे उत्थान है **जाव अणियया सव्वभावा**—यावत् सब भाव अनियत हैं, **तुमे णं देवा !**—हे देव ! तुम्हे **इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी**—इस प्रकार की दिव्य दैवी सम्पत्ति **दिव्वा देवज्जुई**—दिव्य कान्ति **दिव्वे देवाणुभावे**—दिव्य अनुभाव (अलौकिक प्रभाव) **किणा लद्धे**—कैसे मिला ? **किणा पत्ते**—कैसे प्राप्त हुआ ? **किणा अभिसमन्नागए**—कैसे समन्वागत हुआ **किं उट्ठाणेणं**—क्या उत्थान से **जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं**—यावत् पुरुपकार-पराक्रम से **उदाहु**—अथवा **अणुट्ठाणेणं**—विना उत्थान **अकम्मेणं जाव अपुरिसक्कार परक्कमेणं**—विना कर्म से यावत् विना पुरुषकार और पराक्रम के प्राप्त हुआ ?

भावार्थ—कुण्डकौलिक ने उत्तर दिया हे देव ! "यदि मखलिपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन है क्योकि उसमे उत्थान नही है, यावत् सब पदार्थ नियत हैं और श्रमण भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन नही है क्योकि उसमे उत्थान है यावत् समस्त पदार्थ अनियत हैं तो हे देव ! तुम्हे यह दिव्य-अलौकिक देव ऋद्धि, अलौकिक कान्ति, अलौकिक अनुभाव कहाँ से मिला ? कैसे प्राप्त हुआ ? और कैसे समन्वागत हुआ ? क्या यह उत्थान यावत् पराक्रम अथवा पुरुपकार से प्राप्त हुआ ? या उनके विना ?"

मूलम्—तए णं से देवे कुण्डकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया" ॥ १६८ ॥

छाया—तत खलु स देव कुण्डकौलिकं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"एवं खलु देवानुप्रिय ! मयैतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिः ३ अनुत्थानेन यावद् अपुरुषकारपराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे—उस देव ने कुण्डकोलियं समणोवासयं—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहा—एवं खलु देवाणुप्पिया!—हे देवानुपिय! मए—मुझे इमेयारूवा—इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देव-ऋद्धि अणुट्ठाणेणं—विना उत्थान जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं—यावत् विना पुरुषकार और पराक्रम के लद्धा—मिली है, पत्ता—प्रप्त हुई है, अभिसमन्नागया—पास आइ है।

भावार्थ—तदनन्तर देव ने उत्तर दिया हे देवानुप्रिय! "मुझे यह अलौकिक देव-ऋद्धि विना उत्थान, पुरुपकार-पराक्रम के मिली है।"

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—"जइ णं देवा! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया? जेसिं णं जीवाणं नत्थि उट्ठाणेइ वा, परक्कमे इ वा, ते किं न देवा? अह णं, देवा! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ उट्ठाणेणं जाव परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया, तो जं वदसि—सुन्दरी णं गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती—नत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती—अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव अणियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा" ॥ १६९ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकस्तं देवमेवमवादीत्—"यदि खलु देव! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरनुत्थानेन यावद् अपुरुषकारपराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता? येषां खलु जीवानां नास्त्युत्थानमिति वा, यावत् पराक्रम इति वा, ते किं न देवा? अथ खलु देव! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरुत्थानेन यावत्पराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता, ततो यद्वदसि-सुन्दरी खलु गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य धर्म-प्रज्ञप्ति, नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियता सर्वभावा, मगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्म-प्रज्ञप्ति अस्त्युत्थानमिति वा, यावदनियता सर्वभावास्तत्ते मिथ्या।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—उस कुण्डकोलिक श्रमणोपासक ने देवं—उस देव को एवं वयासी—इस प्रकार कहा जइ णं देवा!—हे देव! यदि तुमे इमा एयारूवा—तुम्हें यह इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देव ऋद्धि अणुट्ठाणेणं उत्थान जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं—यावत् पुरुषकार पराक्रम के बिना ही लद्धा—मिली है, पत्ता—प्राप्त हुई है अभिसमन्नागया—सामने आई है, तो जेसि णं जीवाणं—जिन जीवों के नत्थि—नहीं है उट्ठाणे इ वा—उत्थान परक्कमेइ वा अथवा पराक्रम ते किं न देवा—वे देव क्यों नहीं बने? अह णं देवा!—और हे देव! यदि तुमे—तुमने इमा एयारूवा—यह इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देवऋद्धि उट्ठाणेणं जाव परक्कमेणं—उत्थान यावत् पराक्रम से लद्धा, पत्ता—प्राप्त की है, प्राप्त की है, अभिसमन्नागया—तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुई है, तो जं वदसि—जो तू कहता है कि सुन्दरी णं गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती—गोशालक मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है, क्योंकि उसमें नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नहीं है जाव—यावत् नियया सव्वभावा—सब भाव नियत हैं, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती—श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असुन्दर है क्योंकि उसमें अत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान है जाव अणियया सव्वभावा—यावत् सब भाव अनियत हैं, तं ते मिच्छा—तो तेरा यह कथन मिथ्या है।

भावार्थ—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने उस देव से पुनः पूछा—हे देव! यदि तुम्हें इस प्रकार की अलौकिक देव ऋद्धि उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम के बिना ही मिली है, तो जिन जीवों के उत्थान यावत् पराक्रम नहीं है तो वे देव क्यों न बने? हे देव! यदि तू ने यह ऋद्धि उत्थान यावत् पराक्रम से प्राप्त की है, तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या है कि मंखलिपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन है। और श्रमण भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन नहीं है।

टीका—देव द्वारा की गई महावीर के सिद्धान्त की निन्दा तथा गोशालक के सिद्धान्त की प्रशंसा सुनकर कुण्डकौलिक ने देव से पूछा—आपको जो यह दैवी शक्ति तथा सम्पत्ति प्राप्त हुई है, क्या इसके लिए किसी प्रकार की तपस्या या धर्मानुष्ठान नहीं करना पड़ा? यदि ऐसा है, तो समस्त प्राणी तुम्हारे सरीखे देव क्यों नहीं बन गए? उनमें परस्पर भेद क्यों है? कोई सुखी है, कोई दुःखी, कोई दुर्बल, कोई

वलवान। कोई सम्पन्न कोई दरिद्र ! इस विषमता का एक मात्र कारण है—पुरुषार्थ, जिसने जैसा उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम किया है उसने तदनुसार फल प्राप्त किया है। कुण्डकौलिक ने पुरुषार्थ के आधार पर कर्मवाद की ओर सकेत किया है। कुण्डकौलिक ने देव के समक्ष दो विकल्प उपस्थित किए और उससे पूछा—तुमने यह समृद्धि पुरुषार्थ आदि के द्वारा प्राप्त की है या उनके विना ? यदि उनके विना, तो विश्व के समस्त जीव तुम्हारे सरीखे क्यो नही हैं ? इसके विपरीत यदि पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त की है, तो महावीर का सिद्धान्त असमीचीन कैसे हो सकता है ?" यहा टीकाकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

"ततोऽसौ कुण्डकोलिकः तं देवमेवमवादीत्—यदि गोशालकस्य सुन्दरो धर्मो, नास्ति कर्मादीत्यतो नियताः सर्वभावा इत्येवरूपो, मंगुलश्च महावीरधर्मोऽस्ति कर्मादीत्यनियताः सर्वभावा इत्येवं स्वरूप, तन्मतमनूद्य कुण्डकोलिकस्तन्मतदूषणाय विकल्पद्वयं कुर्वन्नाह—'तुमे णमित्यादि, पूर्ववाक्ये यदीति पदोपादानादेतस्य वाक्यस्यादौ तदेति पदं द्रष्टव्यं इति, त्वयाय दिव्यो-देवर्ध्यादिगुणः केन हेतुना लब्ध ? किमुत्थानादिना 'उदाहु'त्ति' अहोश्वित् अनुत्थानादिना ?, तपोब्रह्मचर्यादीनामकरणेनेति भावः, यद्युत्थानादेरभावेनेति पक्षो गोशालकमताश्रितत्वाद् भवतः तदा येषा जीवानां नास्त्युत्थानादि—तपश्चरणकरणमित्यर्थ, 'ते' इति जीवाः किं न देवा ? पृच्छतोऽयमभिप्राय—यथा त्वं पुरुपकार विना देव संवृत्त स्वकीयाभ्युपगमत एवं सर्वजीवा ये उत्थानादिवर्जितास्ते देवा प्राप्नुवन्ति, न चैतदेवमिष्टमित्युत्थानाद्यपलापपक्षे दूषणम्। अथ त्वयेयं ऋद्धिरुत्थानादिना लब्धा ततो यद्वदसि—सुन्दरा गोशालकप्रज्ञप्तिरसुन्दरा महावीरप्रज्ञप्ति इति, तत्ते—तव मिथ्यावचनं भवति, तस्य व्यभिचारादिति।"

देव का निरुत्तर होकर वापिस लौटना—

मूलम्—तए णं से देवे कुण्डकोलिएणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए जाव कलुससमावन्ने नो संचाएइ कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स किंचि पामोक्खमाइक्खित्तए; नाम-मुद्दयं च उत्तरिज्जयं च पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ, ठवेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए, तामेव दिसिं पडिगए॥ १७०॥

छाया—तत खलु स देव कुण्डकौलिकश्रमणोपासकेनैवमुक्त सन् शङ्कितो यावत् कलुषसमापन्नो नो शक्नोति कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्य किञ्चित् प्रातिमुख्य-माख्यातुम् । नाम-मुद्रिकां चोत्तरीयकं च पृथ्वी-शिला-पट्टके स्थापयति, स्थापयित्वा यामेव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं प्रतिगत ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से देवे**—वह देव **कुण्डकोलिएणं समणोवासएण**—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक द्वारा **एवं वुत्ते समाणे**—इस प्रकार कहे जाने पर **संकिए**—शङ्कित हो गया, **जाव**—यावत् **कलुससमावन्ने**—कलुप (हतप्रभ) हो गया, **कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स**—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को **किंचि**—कुछ भी **पामोक्खमाइक्खित्तए**—उत्तर मे नही कह सका **नाम-मुद्दयं च उत्तरिज्जयं च**—उसने नाम मुद्रा और उत्तरीय वस्त्र को **पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ**—पृथ्वी-शीला-पट्ट पर रख दिया **ठवित्ता**—रखकर **जामेव दिसिं पाउब्भूए**—जिस दिशा से प्रकट हुआ था **तामेव दिसिं पडिगए**—उसी दिशा को चला गया ।

भावार्थ—कुण्डकौलिक के इस प्रकार कहने पर देव के मन मे शङ्का उत्पन्न हो गई यावत् वह हतप्रभ हो गया और कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को कुछ भी उत्तर न दे सका । तव नाम मुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र को पृथ्वी-शिला-पट्ट पर रख कर जिधर से आया था उधर चला गया ।

भगवान् महावीर का आगमन—

मूलम्—**तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे ॥ १७१ ॥**

छाया—**तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समवसृत. ।**

शब्दार्थ—**तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल और उस समय **सामी समोसढे**—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए ।

भावार्थ—उस समय भगवान् महावीर स्वामी पधारे ।

कुण्डकौलिक का दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे हट्ठ जहा कामदेवो तहा, निग्गच्छइ, जाव पज्जुवासइ, धम्मकहा ॥ १७२ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिक. श्रमणोपासकोऽस्या कथायां लब्धार्थ सन् हृष्टो यथा कामदेवस्तथा निर्गच्छति, यावत् पर्यु पास्ते । धर्मकथा ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक इमीसे कहाए लद्धट्ठे—इस समाचार को सुनकर हट्ठ—प्रसन्न हुआ, जहा कामदेवो तहा निग्गच्छइ—कामदेव की तरह दर्शनार्थ निकला जाव पज्जुवासइ—यावत् पर्यु पासना की धम्मकहा—भगवान् का धर्म उपदेश हुआ ।

भावार्थ—कुण्डकौलिक भी भगवान् के आने की बात सुनकर प्रसन्न हुआ और कामदेव के समान दर्शनार्थ गया, भगवान् की पर्यु पासना की । भगवान् का धर्मोपदेश हुआ ।

भगवान् द्वारा कुण्डकौलिक की प्रशंसा और साधु-साध्वियो को उद्बोधन—

मूलम्—"कुण्डकोलिया" ! इ समणे भगवं महावीरे कुण्डकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—"से नूणं कुण्डकोलिया ! कल्लं तुब्भ पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि असोग-वणियाए एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था । तए णं से देवे नाममुद्दं च तहेव जाव पडिगए । से नूणं कुण्डकोलिया ! अट्ठे समट्ठे ?" "हन्ता ! अत्थि ।" "तं धन्नेसि णं तुमं कुण्डकोलिया !" (जहा कामदेवो) "अज्जो" ! इ समणे भगवं महावीरे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी—"जइ ताव, अज्जो ! गिहिणो गिहिमज्झा-वसंता णं अन्न-उत्थिए अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य निप्पट्ठ-पसिणवागरणे करेंति, सक्का पुणाइं, अज्जो ! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसङ्गं गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं अन्न-उत्थिया अट्ठेहि य जाव निपट्ठ-पसिणवागरणा करित्तए" ॥ १७३ ॥

छाया—"कुण्डकौलिक" ! इति श्रमणो भगवान् महावीर कुण्डकौलिकं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—'अथ नून कुण्डकौलिक !' कल्ये तव पूर्वापराह्णकालसमये अशोकवनिकायामेको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत् । तत· खलु स देवो नाम-मुद्रां च तथैव यावन्निर्गत । स नून कुण्डकौलिक ! 'अर्थ. समर्थ ? 'हन्तास्ति !' 'तद्धन्योऽसि खलु त्वं कुण्डकौलिक !' यथा कामदेव. । 'आर्या' ! इति श्रमणो भगवान् महावीर· श्रमणान्निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थीश्चाऽऽमन्त्र्यैवमवादीत्—'यदि तावदार्या. ! गृहिणो गृहमध्यावसन्त खलु अन्ययूथिकान् अर्थैश्च हेतुभिश्च प्रश्नैश्च कारणैश्च व्याकरणैश्च नि स्पष्ट-(निष्पिष्ट) प्रश्नव्याकरणान् कुर्वन्ति, शक्या पुनरार्या ! श्रमणैर्निर्ग्रन्थैर्द्वादशाङ्गं गणिपिटकमधीयानैरन्ययूथिका अर्थैश्च यावन्नि स्पष्टप्रश्नव्याकरणा कर्तुम् ।'

शब्दार्थ—**कुण्डकोलिया !**—हे कुण्डकौलिक ! **इ समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **कुण्डकोलिय समणोवासय**—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को **एव वयासी**—इस प्रकार कहा—**से नूणं कुण्डकोलिया !**—हे कुण्डकौलिक ! **कल्लं पुव्वावरण्ह कालसमयंसि**—कल दोपहर के समय **असोगवणियाए**—अशोक वणिका मे **एगे देवे**—एक देव **अतियं**—तुम्हारे पास **पाउब्भवित्था**—प्रकट हुआ था, **तए णं**—तदनन्तर **से देवे**—उस देव ने **नाम मुद्दं च**—नाम मुद्रिका उठाई **तहेव जाव पडिगए**—उसी प्रकार सारा वृत्तान्त कहा यावत् चला गया, **से नूण कुण्डकोलिया !**—हे कुण्डकौलिक ! **अट्ठे समट्ठे ?**—क्या यह बात ठीक है ? **हंता अत्थि**—हाँ भगवन् ठीक है, **तं धन्नेसि णं तुमं कुण्डकोलिया !**—महावीर स्वामी ने कहा—हे कुण्डकौलिक ! तुम धन्य हो, **जहा कामदेवो**—इत्यादि कथन कामदेव की तरह समझना । **अज्जो !**—हे आर्यो ! **इ समणे भगवं महावीरे**—इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने **समणे निग्गंथे य**—श्रमण निर्ग्रन्थ **निग्गंथीओ य**—और निर्ग्रन्थियो को **आमतित्ता**—बुलाकर **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**जइ ताव अज्जो !**—हे आर्यो ! यदि **गिहिणो गिहिमज्झावसंता ण**—घर मे रहने वाले गृहस्थ भी **अन्नउत्थिए**—अन्य यूथियो को **अट्ठेहि य**—अर्थो से, **हेऊहि य**—हेतुओ से, **पसिणेहि य**—प्रश्नो से, **कारणेहि य**—युक्तियो से, **वागरणेहि य**—और व्याख्याओ से **निप्पट्ठपसणिवागरणे करेंति**—निरुत्तर कर सकते हैं तो **सक्का पुणाइं अज्जो!**—हे आर्यो ! तुम भी समर्थ हो, अत **समणेहिं निग्गंथेहि**—तुम श्रमण निर्ग्रन्थो को **दुवालसंगं गणिपिड**

अहिज्जमाणेहि—जो द्वादशाङ्ग-गणिपिटक का अध्ययन करते हैं, अन्नउत्थिया—अन्ययूथिको को अट्ठेहि य जाव निप्पट्ठपसिणवागरणा करित्तए—अर्थ से, हेतु से, यावत् युक्ति के द्वारा निरुत्तर करना।

भावार्थ—भगवान् महावीर ने कुण्डकौलिक को सम्बोधित करते हुए कहा—हे कुण्डकौलिक श्रमणोपासक! कल अशोकवनिका (वाटिका) मे एक देव तुम्हारे पास आया था। उसने तुम्हारी नाम मुद्रा और उत्तरीय को उठाकर कहा यावत् भगवान् ने देव प्रकट होने से लेकर तिरोधान तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उससे पूछा—कुण्डकौलिक! क्या यह ठीक है? हाँ भगवन्! यह ठीक है (कुण्डकौलिक ने उत्तर दिया) भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को सम्बोधित करके कहा—आर्यो! यदि घर मे रहने वाला एक गृहस्थ भी विविध अर्थो, हेतुओ, युक्तियो एव व्याख्याओ द्वारा अन्य-यूथिको को निरुत्तर कर सकता है तो हे आर्यो! आप लोग तो समर्थ हैं। द्वादशाङ्ग-गणिपिटक का अध्ययन करते हैं। आपको भी चाहिए कि इसी प्रकार अन्य यूथिको को अर्थ, हेतु तथा युक्ति आदि के द्वारा निरुत्तर करे।

मूलम्—तए णं समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति ॥ १७४ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणा निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणा निग्गंथा य—श्रमण निर्ग्रन्थ निग्गंथीओ य—और निर्ग्रन्थियो ने समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के एयमट्ठं—इस कथन को तहत्ति—तथेति कह कर विणएणं पडिसुणेति—विनयपूर्वक स्वीकार किया।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो ने श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन विनयपूर्वक स्वीकार किया।

टीका—पिछले चार सूत्रो मे भगवान् महावीर के आगमन और उनके द्वारा कुण्डकौलिक की प्रशंसा का वर्णन है। इसमे कई बाते ध्यान देने योग्य हैं—

१ कुण्डकौलिक श्रावक था फिर भी भगवान ने उसकी प्रशसा की और निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थियो के सामने उसे उदाहरण के रूप मे उपस्थित किया। इस से यह सिद्ध होता हैं कि साधु के लिए गृहस्थ की प्रशसा करना वर्जित नही है। सद्गुण कही भी हो उसकी प्रशसा करना महानता का लक्षण है। इससे चित्त-शुद्धि होती है।

सूत्र मे अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण और व्याकरण पाँच शब्द आए हैं। इनका उन दिनो शास्त्रार्थ मे उपयोग होता था। इसका अर्थ नीचे लिखे अनुसार है—

२. अर्थ—पदार्थ अर्थात् अपने सिद्धान्त मे प्रतिपादित जीव, अजीव आदि वस्तुएँ अथवा प्रमाण रूप मे उद्धृत आगम पाठ का अर्थ। न्यायदर्शन मे प्रतिवादी दो प्रकार के बताए गए हैं—(क) समान तन्त्र अर्थात् आगम के रूप मे उन्ही ग्रन्थो को मानने वाले जिन्हे वादी मानता है अथवा एक ही परम्परा के अनुयायी। (ख) प्रतितन्त्र अर्थात् वादी से भिन्न परम्परा वाले, भिन्न आगमो को प्रमाण मानने वाले। समान तन्त्र के साथ शास्त्रार्थ करते समय प्राय मूल पाठ का अर्थ किया जाता है और प्रतितन्त्र के साथ शास्त्रार्थ करते समय अपने सिद्धान्तो मे प्रतिपादित वस्तुओ का निरूपण किया जाता है।

३. हेतु—वह वस्तु जिसके आधार पर लक्ष्य या साध्य को सिद्ध किया जाए। जैसे धुँए के आधार पर अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करना, क्योकि धुँआ अग्नि के विना नही होता।

४. प्रश्न—इसका अर्थ है—प्रतिवादी से विविध प्रकार के प्रश्न पूछना जिस से वह अपनी मिथ्या धारणा को छोडदे, इसे शास्त्रार्थ मे विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytic approach) कहते हैं।

५. कारण—युक्तियो द्वारा पक्ष का उपपादन।

६. व्याकरण—प्रतिवादी द्वारा पूछे गए प्रश्न की व्याख्या या खुलासा।

कुण्डकौलिक का प्रत्यागमन—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमसित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठमादियइ, अट्ठमादित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। सामी बहिया जणवय विहारं विहरइ ॥ १७५ ॥

छाया—ततः खलु कुण्डकौलिकः श्रमणोपासक श्रमण भगवंत महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य प्रश्नान् पृच्छति, पृष्ट्वाऽर्थमाददाति, अर्थमादाय यस्याः एव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं प्रतिगल । स्वामी बहिर्जनपद विहारं विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके पसिणाइं पुच्छइ—प्रश्न पूछे, पुच्छित्ता—पूछकर अट्ठमादियइ—अर्थ ग्रहण किया, अट्ठमादित्ता—अर्थ ग्रहण करके जामेव दिसिं पाउब्भूए—जिस दिशा से आया था तामेव दिसि पडिगए—उसी दिशा मे वापिस चला गया। सामी वहिया जणवय विहारं विहरइ—भगवान महावीर स्वामी भी अन्य जनपदो मे प्रस्थान कर गए।

भावार्थ—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार किया, प्रश्न पूछे, अर्थ ग्रहण किया और वापिस लौट गया। भगवान महावीर स्वामी भी देश-देशान्तरो मे विहार करने लगे।

उपसंहार—

मूलम्—तए णं तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ (जहा कामदेवो तहा) जेट्ठपुत्तं ठवेत्ता तहा पोसह-सालाए जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। एवं

एक्कारस उवासग-पडिमाओ तहेव जाव सोहम्मे कप्पे अरुणज्झए विमाणे जाव अंतं काहिइ। निक्खेवो ॥ १७६ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं छट्ठं कुण्डकोलियज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु तस्य कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शील यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सराणि व्यतिक्रान्तानि, पञ्चदशं सवत्सरमन्तरावर्तमानस्यान्यदा कदाचिद् यथा कामदेवस्तथा ज्येष्ठपुत्रं स्थापयित्वा तथा पौषधशालायां यावद्धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्य विहरति। ए वमेकादशोपासकप्रतिमास्तथैव यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणध्वजे विमाने यावदन्तं करिष्यति।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स**—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को **बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स**—बहुत से शील-व्रत आदि के पालन द्वारा आत्मा को भावित करते हुए **चोद्दस सवच्छराइं वइक्कंताइं**—चौदह वर्ष व्यतीत हो गए **पण्णरसमस्स सवच्छरस्स अंतरावट्टमाणस्स**—पन्द्रहवे वर्ष के बीच मे **अन्नया कयाइ**—एक दिन **जहा कामदेवो तहा**—कामदेव की तरह **जेट्ठपुत्तं ठवेत्ता**—ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार देकर **तहा पोसह-सालाए**—उसी प्रकार पौषध-शाला मे **जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ**—धर्म-प्रज्ञप्ति स्वीकार करके विचरने लगा, **एव एक्कारस उवासगपडिमाओ**—उसी तरह ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ अङ्गीकार की **तहेव जाव सोहम्मे कप्पे**—यावत् सौधर्मकल्प के **अरुणज्झए विमाणे**—अरुणध्वज विमान मे देवरूप मे उत्पन्न हुआ **जाव अंतं काहिइ**—यावत् समस्त कर्मो का अन्त करेगा अर्थात् सिद्ध होगा।

भावार्थ—विविध प्रकार के शील एव व्रतो के द्वारा आत्म-विकास करते हुए कुण्डकौलिक को चौदह वर्ष बीत गए। पन्द्रहवे वर्ष मे उसने कामदेव के समान घर का भार ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और स्वय पौषधशाला मे रहकर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म-प्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। क्रमश ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की और मरकर सौधर्म-कल्प के अरुणध्वज नामक विमान मे उत्पन्न हुआ। वहा से च्यव कर वह भी महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और कर्मो का अन्त करेगा।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा-सूत्र का छठा कुण्डकौलिक अध्ययन समाप्त ॥

सत्तमज्झयणं

सप्तम अध्ययन

मूलम्—सत्तमस्स उक्खेवो, पोलासपुरे नामं नयरे। सहस्संबवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया ॥ १७७ ॥

छाया—सप्तमस्योपक्षेप, पोलासपुर नामक नगरम्। सहस्राम्रवन-मुद्यानम्। जित-शत्रू राजा।

शब्दार्थ—सत्तमस्स उक्खेवो—सप्तम का उपक्षेप, पोसालपुरे नामं नयरे—पोसालपुर नामक नगर सहस्संबवणे उज्जाणे—सहस्राम्रवन उद्यान और जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था।

भावार्थ—उस काल उस समय पोलासपुर नामक नगर था। उसके बाहिर सहस्राम्र नामक उद्यान था। वहाँ जितशत्रु राजा राज्य करता था।

मूलम्—तत्थ णं पोलासपुरे नयरे सद्दालपुत्ते नामं कुम्भकारे आजीवि-ओवासए परिवसइ। आजीविय-समयंसि लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगयट्ठे, अट्ठि-मिंज-पेमाणुराग-रत्ते य "अयमाउसो! आजीवियसमए अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे" त्ति आजीविय समएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ १७८ ॥

छाया—तत खलु पोलासपुरे नगरे सद्दालपुत्रो नाम कुम्भकार आजीविकोपासकः प्रतिवसति। आजीविकसमये लब्धार्थ, गृहीतार्थ, पृष्टार्थ, विनिश्चितार्थ, अभि-गतार्थः, अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्तश्च—"अयमायुष्मन्! आजीविकसमयोऽर्थ, अयं परमार्थ, शेषोऽनर्थ" इत्याजीविकसमयेनात्मानं भावयन् विहरति।

शब्दार्थ—तत्थ णं पोलासपुरे नयरे—उस पोलासपुर नगर मे सद्दालपुत्ते नामं कुम्भकारे—सद्दालपुत्र नामक कुम्भकार आजीविओवासए परिवसइ—आजीविक

(गोशालक) के मत का अनुयायी रहता था, आजीवियसमयसि—आजीविक के सिद्धान्त मे लद्धट्ठे—लब्धार्थ था अर्थात् उस सिद्धान्त को उसने अच्छी तरह समझा था, गहियट्ठे—स्वीकार किया था, पुच्छियट्ठे—प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया हुआ था, विणिच्छियट्ठे—उनका निश्चय अर्थात् निर्णय किया हुआ था, अभिगयट्ठे—पूरी तरह जाना था, अट्ठिमिञ्जपेमाणुरागरत्ते य—(आजीविक सिद्धान्तो का) प्रेम तथा अनुराग उसकी अस्थि-हड्डियो और मज्जा मे समाया हुआ था, (वह कहता था) अयमाउसो—हे आयुष्मन् ! आजीविय-समए अट्ठे—यह आजीविक सिद्धान्त ही अर्थ है, अय परमट्ठे—यही परमार्थ है, सेसे अणट्ठे—शेष अर्थात् दूसरे सिद्धान्त अनर्थ हैं, त्ति—इस प्रकार आजीविय-समएण—आजीविक सिद्धान्त के द्वारा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ—आत्मा को भावित करता हुआ विचर रहा था ।

भावार्थ—पोलासपुर नगर मे आजीविक मत का अनुयायी, सद्दालपुत्र नामक कुम्भकार रहता था । उसने आजीविक सिद्धान्त को अच्छी तरह समझा हुवा था, स्वीकार किया था, प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया था, निश्चय किया था और सम्यक् जाना था । आजीविक सिद्धान्तो का पूर्णतया अनुराग उसकी अस्थि तथा मज्जा मे प्रविष्ट हो चुका था । वह कहता था—हे आयुष्मन् ! आजीविक सिद्धान्त ही अर्थ है । अन्य सिद्धान्त अनर्थ हैं । इस प्रकार आजीविक सिद्धान्त के द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ विचर रहा था ।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एक्का हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एक्का वुड्ढि-पउत्ता, एक्का पवित्थरपउत्ता, एक्के वए दस-गोसाहस्सिएणं वएणं ॥ १७९ ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्यैका हिरण्यकोटि. निधान-प्रयुक्ता, एका वृद्धि-प्रयुक्ता, एका प्रविस्तर-प्रयुक्ता, एको व्रजो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन ।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के पास एक्का हिरण्ण कोडी—एक करोड सुवर्ण मुद्राएँ निहाण-पउत्ता—कोष मे सञ्चित थी एक्का वुड्ढि-पउत्ता—एक करोड व्यापार मे लगे हुए थे, एक्का

पवित्थर-पउत्ता—और एक करोड गृह और उपकरणो मे लगे हुए थे एवके वए दस-गोसाहस्सिएणं वएणं—दस हजार गायो का एक व्रज था ।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के पास एक करोड सुवर्ण कोप मे सञ्चित थे, एक करोड व्यापार से लगे हुए थे और एक करोड घर तथा सामान मे । दस हजार गौओ वाला एक व्रज था ।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था ॥ १८० ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्य आजीविकोपासकस्याग्निमित्रा नाम भार्याऽऽसीत् ।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था—अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी ।

भावार्थ—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी ।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पंच कुम्भकारावण-सया होत्था । तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लि बहवे करए य वारए य पिहडए य घडए य अद्ध-घडए य कलसए य अलिजरए य जम्बूलए य उट्टियाओ य करेंति । अन्ने य से बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लि तेहिं बहूहिं करएहि य जाव उट्टियाहि य राय-मग्गंसि वित्ति कप्पेमाणा विहरंति ॥ १८१ ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य पोलासपुरान्नगराद् बहिः पंचकुम्भकारापणशतान्यासन् । तत्र खलु बहवः पुरुषा दत्त-भृति-भक्त वेतना, कल्याकल्यि बहून् करकाँश्च, वरकाँश्च, घटकाँश्च, कलशाँश्चालिञ्जरांश्च, जम्बूलकाँश्चोष्ट्रिकाश्च कुर्वन्ति । अन्ये च तस्य बहव. पुरुषा दत्त-भृति-भक्ता-वेतनः कल्याकल्यि तैर्बहुभि करकैश्च यावदुष्ट्रिकाभिश्च राजमार्गे वृत्तिं कल्पयन्तो विहरन्ति ।

शब्दार्थ—**तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स**—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की **पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया**—पोसालपुर नगर के बाहिर **पंच कुम्भ-कारावणसया होत्था**—पॉच सौ वर्तनो के आपण थे **तत्थ णं**—उनमे **बहवे पुरिसा**—बहुत से पुरुष **दिण्ण-भइ-भत्त वेयणा**—भृति—दैनिक मजदूरी, भक्त—भोजन और वेतन प्राप्त करके **कल्लाकल्लि**—प्रतिदिन प्रभात होते ही **बहवे**—बहुत से **करए य**—करक, जलघटी **वारए य**—गुल्लक याम टकने **पिहडए य**—स्थालीयाँ या कु डे **घडए य**—घडे **अद्धघडए य**—अर्धघटक—वडे कू डे, **कलसए य**—कलश—वडे घडे **अलिजरए य**—अलिञ्जर—मट्ट **जम्बूलए**—जम्बूलक—मुराहियाँ **उट्टियाओ य**—उष्ट्रिका—छोटे मुँह लम्बी गर्दन और वडे पेट वाले वर्तन (कुप्पी) जिनमे तेलादि डाला जाता है। **करेंति**—वनाते थे, **अन्ने य से बहवे पुरिसा**—और वहुत से अन्य पुरुष **दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा**—भृति, भक्त और वेतन प्राप्त करके **कल्लाकल्लि**—प्रतिदिन प्रात **तेहिं बहूहिं करएहि य** उन करक, जल घटिकाओ **जाव**—यावत् **उट्टियाहि य**—उष्ट्रिकाओ को वेचकर **रायमग्गंसि**—राजमार्ग पर वैठकर **वित्ति कप्पेमाणा विहरंति**—आजीविका का उपार्जन करते थे।

भावार्थ—सद्दालपुत्र के पोलासपुर नगर के वाहिर ५०० आपण थे, जहाँ प्रतिदिन सैकडो व्यक्ति प्रात होते ही पहुँच जाते थे और दैनिक मजदूरी, भोजन तथा वेतन प्राप्त करके तरह तरह के वर्तन वनाते थे। इसी प्रकार वहुत से पुरुष दैनिक मजदूरी तथा वेतन पर उन वर्तनो को नगर के चौराहो पर, मार्गो पर वेचते थे। और इस प्रकार आजीविका कमाते थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे सद्दालपुत्र की सम्पत्ति का वर्णन है। उसके पास १ करोड सुवर्ण कोष मे सञ्चित थे, एक करोड व्यापार मे तथा एक करोड गृह तथा उपकरणो मे लगे हुए थे। दस हजार गायो वाला एक व्रज था। इसके अतिरिक्त उसके पोलासपुर नगर से वाहिर ५०० आपण थे, जहाँ सैकडो व्यक्ति वर्तन वनाते थे, और सैकडो नगर के चौराहो पर वेचा करते थे। इन व्यक्तियो को तीन प्रकार से पारिश्रमिक मिलता था। किसी को दैनिक मजदूरी, किसी को भोजन और किसी को मासिक या साप्ताहिक वेतन मिलता था।

शास्त्रकार ने मिट्टी के वर्तनो का विस्तृत वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि उन दिनो इस प्रकार के वर्तन वना करते थे। वर्णन मे नीचे लिखे प्रकार दिये गये हैं।

१. करए—(करक) पानी ठण्डा रखने के लिए काम मे आने वाला घडा।

२. वारए—(वारक) गुल्लक।

३. पिहडए—(पिठर) चपटे पेंदे वाली मिट्टी की परात या कठौती जिसे दुकानदार दही जमाने के काम मे लेते हैं।

४. घडए—(घट) कुआ, तालाव, नदी आदि से पानी भरने के काम मे आने वाला मटका।

५. अद्धघडए—(अर्धघटक) छोटा मटका।

६. जम्वूलए—(जाम्वूनद) सुराही।

७ उट्टियाए—(उष्ट्रिका) लम्वी गर्दन और वडे पेट वाले मटके जो तेल, घी आदि भरने के काम आते हैं।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि जेणेव असोग-वणिया तणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स अंतियं धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १८२ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽन्यदा कदाचित् पूर्वापराह्न-काल-समये येनैवाऽशोकवनिका तेनैवोपागच्छति, उपागत्य गोशालस्य मंखलि-पुत्रस्याऽऽन्तिकीं धर्म-प्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते आजीवियोवासए**—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र **अन्नया कयाइ पुव्वावरण्हकालसमयसि**—एक दिन दोपहर के समय **जेणेव असोग-वणिया**—जहाँ अशोक-वनिका थी **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आया **उवागच्छित्ता**—आ कर **गोसालस्स मखलि-पुत्तस्स अंतियं**—गोशालक मखलि-पुत्र के पास

से स्वीकृत धम्मपण्णत्ति—धर्म प्रज्ञप्ति को उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र एक दिन दोपहर के समय अशोक-वनिका मे आया और गोशालक मखलिपुत्र की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा।

मूलम्—**तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ॥ १८३ ॥**

छाया—तत खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्यैको देवोऽन्तिके प्रादुरभूत्।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस सद्दालपुत्र आजीविकोपासक के अंतियं—पास एगे देवे पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ।

भावार्थ—तत्पश्चात् उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के समीप एक देव प्रकट हुआ।

मूलम्—**तए णं से देवे अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिंखिणियाइं जाव परिहिए सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—"एहिइ णं देवाणुप्पिया! कल्लं इहं महा-माहणे, उप्पन्नणाण-दंसणधरे, तीय-पडुपन्न-मणागय-जाणए, अरहा जिणे केवली, सव्वण्णू, सव्व-दरिसी, तेलोक्क-वहिय-महिय-पूइए, स-देव मणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे, वंदणिज्जे, सक्कारणिज्जे, सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं जाव पज्जुवासणिज्जे, तच्चकम्म-संपया-संपउत्ते। तं णं तुमं वंदेज्जाहि जाव पज्जुवासेज्जाहि, पाडिहारिएणं पीढ-फलग-सिज्जासंथारएणं उवनिमंतेज्जाहि।" दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ, वइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए ॥ १८४ ॥**

छाया—तत. खलु स देवोऽन्तरिक्षप्रतिपन्न. सकिङ्किणीकानि यावत्परिहित· सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—" एष्यति खलु देवानुप्रिय! कल्यमिह

महामाहन:, उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधरोऽतीत प्रत्युत्पन्नानागतज्ञोऽर्हन् जिनः केवलीसर्वज्ञ', सर्वदर्शी, त्रैलोक्य वहित-महित-पूजित., सदेवमनुजासुरस्य लोकस्यार्चनीयो वन्दनीय, सत्करणीय', सम्माननीय., कल्याणं मगलं दैवत चैत्यो यावत्पर्युपासनीय, तथ्यकर्म-सम्पदा सम्प्रयुक्त । तत् खलु त्वं वन्दस्व यावत् पर्युपासस्व, प्रातिहारिकेण पीठ-फलक-शय्या-सस्तारकेणोपनिमन्त्रय !" द्वितीयमपि तृतीयमप्येव वदति । उदित्वा यस्या एव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं प्रतिगतः ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से देवे**—वह देव **अतलिक्खपडिवन्ने**—आकाश मे स्थित होकर **सखिखिणियाइं जाव परिहिए**—घुगरुओ वाले वस्त्र पहने हुए **सद्दाल-पुत्त आजीविओवासगं** आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**एहिइ ण देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिय ! आएँगे **कल्लं इह**—कल यहाँ **महामाहणे**—महामहनीय, **उप्पन्न नाणदंसणधरे**—अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन के धारक, **तीयपडुप्पन्नमणागयजाणए**—अतीत, वर्तमान और अनागत के जानने वाले, **अरहा**—अरिहन्त **जिणे**—जिन **केवली**—केवली **सव्वण्णू**—सर्वज्ञ, **सव्वदरिसी**—सर्वदर्शी **तेलोक्क वहिय-महिय-पूइए**—तीनो लोको के द्वारा ध्यात, महित तथा पूजित **सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे**—देव, मनुष्य तथा असुरो के अर्चनीय, **वंदणिज्जे**—वदनीय, **सक्कारणिज्जे**—सत्कार करने योग्य, **सम्माणणिज्जे**—सम्मान-नीय, **कल्लाणं**—कल्याण स्वरूप, **मंगलं**—मगल स्वरूप, **देवयं**—देव स्वरूप, **चेइयं**—ज्ञान-स्वरूप **जाव**—यावत् **पज्जुवासणिज्जे**—पर्युपासना करने योग्य, **तच्चकम्म संपया सपउत्ते**—तथ्य कर्मरूप सपत्ति से युक्त, **तं णं**—उनकी **तुमं वदेज्जाहि**—तुम वन्दना करना **जाव पज्जुवासेज्जाहि**—यावत् पर्युपासना करना, **पाडिहारिएणं**—प्रातिहारिक—ऐसी वस्तुएँ जिन्हे साधु काम मे लेकर वापिस कर देते हैं, **पीढ फलग सिज्जा-संथारएणं उवनिमंतेज्जाहि**—पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए निमन्त्रित करना, **दोच्चं पि तच्च पि एवं वयइ**—इसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार कहा **वइत्ता**—कह कर **जामेव दिसं पाउब्भूए**—जिस दिशा से प्रकट हुआ था **तामेव दिसं पडिगए**—उसी दिशा मे चला गया ।

भावार्थ—वह देव जो घुघरू वाले वस्त्र पहने हुए था, आकाश स्थित होकर सद्दालपुत्र से कहने लगा—"हे देवानुप्रिय ! कल यहाँ महामाहन, अप्रितहत ज्ञान,

दर्शन के धारक, अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानने वाले अरिहत, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिनका तीनो लोक ध्यान, स्तुति तथा पूजन करते हैं। देव, मनुष्य तथा असुरो के अर्चनीय, वदनीय, सत्कारणीय तथा सम्माननीय, कल्याण-स्वरूप, मगल स्वरूप, देवता स्वरूप और ज्ञान स्वरूप यावत् पर्युपासनीय तथ्य-कर्म सम्पत्ति के स्वामी कल यहाँ आएँगे। तुम उन्हे वन्दना यावत् पर्युपासना करना। उन्हे प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक आदि के लिए निमन्त्रित करना।" दूसरी और तीसरी बार भी उसने इसी प्रकार कहा और जिस दिशा से आया था उसी दिशा मे चला गया।

टीका—एक दिन सद्दालपुत्र अपनी अशोक-वनिका मे गोशालक के कथनानुसार धर्मानुष्ठान कर रह था। दोपहर के समय उसके पास एक देव प्रकट हुआ। उसने सूचना दी कि कल यहा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहन्त, जिन, केवली आएँगे। साथ ही सद्दालपुत्र से अनुरोध किया—तुम भगवान को वन्दना नमस्कार करने के लिए जाना। उनकी उपासना करना, उन्हे पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक आदि के लिए निमन्त्रित करना। देव ने जिन विशेषणो का प्रयोग किया है वे श्रमण महावीर के लिए हैं। उसका लक्ष्य भगवान महावीर की ओर था।

वे विशेषण इस बात को प्रकट करते हैं कि उन दिनो धर्माचार्यो मे किस प्रकार के गुणो की अपेक्षा की जाती थी। वे विशेषण इस प्रकार हैं—

१. 'महामाहणे' त्ति—जैन आगमो मे भगवान महावीर के 'महामाहन', 'महामुणी' आदि विशेषण मिलते हैं। माहन का शब्दार्थ है 'मत मारो'। भगवान महावीर सर्वत्र अहिसा या 'मत मारो' का उपदेश दिया करते थे। इसलिए उनका नाम 'माहन' या 'महामाहन' पड गया। कई स्थानो पर इसका अर्थ ब्राह्मण भी किया जाता है, जिसका अभिप्राय है 'ज्ञानी'। टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—जो व्यक्ति स्वय किसी को न मारने का निश्चय करता है। साथ ही दूसरो को न मारने का उपदेश भी देता है। जो सूक्ष्म तथा स्थूल समस्त जीवो की हिसा से सदा के लिए निवृत्त है, वही महामाहन है—**माहन्मि—न हन्मीत्यर्थ., आत्मना वा हननान्निवृत्त. परं प्रति 'मा हन' इत्यैवमाचष्टे य. स माहन, स एव मन प्रभृतिकरणादिभिराजन्म सूक्ष्मादिभेदभिन्नजीवहननिवृत्तत्वात् महान्माहनो महामाहन।"**

२. उप्पन्ननाण-दंसण-धरे—(उत्पन्न-ज्ञान-दर्शन-धर) अव्याहत ज्ञान और दर्शन के धारक। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन से सम्पन्न है। किन्तु उसके यह गुण कर्मों के आवरण से दबे हुए हैं। कर्म-मल दूर होते ही वे अपने आप प्रकट हो जाते हैं। ज्ञान का अर्थ है—साकार या सविकल्पक बोध और दर्शन का अर्थ है—निराकार या निर्विकल्पक प्रतीति। भगवान महावीर को पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण दर्शन प्रकट हो चुका था।

३. तीय-पडुपन्न-मणागय-जाणए—(अतीत प्रत्युत्पन्नानागतज्ञाता) भूत, वर्तमान तथा भविष्यत तीनों कालों को जानने वाले।

४. अरहा—(अर्हत्) संस्कृत में 'अर्ह' पूजायाम् धातु है अतः अर्हत् शब्द का अर्थ पूज्य है। इसका दूसरा अर्थ है 'योग्य'। इसका तीसरा अर्थ आरि अर्थात् 'आत्म शत्रुओं को मारने वाला' भी किया जाता है।

५. जिणे—(जिन) रागद्वेष को जीतने वाला। ई० पूर्व षष्ठ शताब्दी में जिन शब्द अत्यन्त प्रतिष्ठा का सूचक था। महावीर, गोशालक, जामाली, बुद्ध आदि धर्म-प्रवर्तकों के अनुयायी अपने २ शास्ता को जिन कहने में गौरव का अनुभव करते थे। इस विषय में उनका परस्पर विवाद भी चलता रहता था और प्रत्येक अनुयायी अपने उपास्य को जिन सिद्ध करने का प्रयत्न करता था। भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में लिखा है—**"सावत्थीए णयरीए अजिणे जिणप्पलावी, अजिणे जिण-सद्दं पगासमाणे विहरइ"** अर्थात् श्रावस्ती नगरी में गोशालक मखलिपुत्र जिन न होता हुआ भी जिन, अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ न होता हुआ भी अपने आपको अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ कहता हुआ विचरता था।

६. केवली—इसका अर्थ है केवलज्ञान तथा केवलदर्शन के धारक। केवल शब्द का अर्थ है—शुद्ध मिश्रण से रहित। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेक को कैवल्य कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार कैवल्य ज्ञान का अर्थ है—विशुद्ध एवं विश्व जगत का पूर्ण ज्ञान।

७. सव्वण्णू—(सर्वज्ञ) सब वस्तुओं को जानने वाले।

८. सव्वदरिसी—(सर्वदर्शी) सब वस्तुओं को देखने वाले।

९. तेलोक्कवहिय-महिय-पूइए—(त्रैलोक्यावहितमहितपूजित) तीनो लोकों के द्वारा अवहित, महित तथा पूजित। अवहित शब्द संस्कृत की धा धातु के साथ 'अव' उपसर्ग लगाने पर बना है। इसी से अवधान शब्द भी बनता है जिसका अर्थ है–ध्यान। अवहित का अर्थ है ध्यान अर्थात् तीनो लोकों के द्वारा जिनका ध्यान अथवा चिन्तन किया जाता है। महित का अर्थ है—'प्रतिष्ठित', अपनी महानता के लिए सर्व विदित। पूजित का अर्थ स्पष्ट है। वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की है। त्रैलोक्येन—त्रिलोकवासिना जनेन, 'वहिय त्ति' समग्रैश्वर्याद्यतिशयसन्दोहदर्शनसमाकुलचेतसा हर्षभरनिर्भरेण प्रबलकुतूहलबलादनिमिष लोचनेनावलोकित, 'महिय' त्ति सेव्यतया वाञ्छित, पूजितः—पूजितश्च।

१०. सदेवमणुयासुरस्सलोगस्स अच्चणिजे सम्माणणिज्जे—देव, मनुष्य तथा असुर सभी द्वारा अर्चनीय, वन्दीय, सत्कार करने योग्य तथा सन्मान करने योग्य।

प्राचीन समय मे देव, मनुष्य और असुर सृष्टि के प्रधान एव शक्तिशाली अङ्ग माने जाते थे। महापुरुष का वर्णन करते समय उसे तीनो का ही पूज्य बताया जाता था।

११ कल्लाण—(कल्याण) कल्याण स्वरूप अर्थात् प्राणीमात्र के उद्धारक।

१२. मंगलं—(मगल) मगल स्वरूप अर्थात् सच्चा सुख प्राप्त कराने वाले।

१३. देवयं—(दैवत) दैवत का अर्थ है—अतिन्द्रिय तेज तथा शक्ति के धारक साथ ही इष्ट देवता के रूप मे पूजनीय।

१४. चेइयं—(चैत्य) इस शब्द के अनेक अर्थ किए जाते है। यहाँ इसका अर्थ है ज्ञानस्वरूप। यह सस्कृत की चिति-सज्ञाने धातु से बना है चिञ्-चयने धातु से भी यह शब्द बनाया जाता है। जिस का अर्थ है—ईंटो का चिना हुआ चबूतरा। इसी से 'चिता' शब्द भी बनता है। किन्तु यहाँ यह अर्थ नही लिया जा सकता।

१५ पज्जुवासणिज्जे—(पर्युपासनीय) यह शब्द आस्—उपवेशने धातु के साथ 'परि' तथा 'उप' उपसर्ग लगाने पर बना है। उपासनीय का अर्थ है–उपासना करने या पास में बैठने योग्य। परि का अर्थ है सब तरह से किसी महापुरुष के पास

बैठना, उसकी सगति करना, उपासना कहा जाता है। जो व्यक्ति सव प्रकार से उपासना करने योग्य हो उसे पर्युपासनीय कहा जाता है।

१६. **तच्च-कम्म-संपया संपउत्ते**—(तथ्यकर्म-सम्पदा-सम्प्रयुक्त) यह विशेषण महत्वपूर्ण है। भगवान् महावीर केवल उपदेष्टा ही नही थे। कर्म-सम्पदा अर्थात् आचरण रूप सम्पत्ति के भी स्वामी थे। कर्म-सम्पत्ति भी दो प्रकार की होती है— (१) तथ्य अर्थात् सफल—जीवन को ऊँचा उठाने वाली जो विधि के अनुसार की जाती है। (२) अतथ्य अर्थात् निष्फल—जो केवल दिखावा है, वह आत्म-शुद्धि के लिए उपयोगी नही है। भगवान महावीर के समय तापस, सन्यासी, परिव्राजक आदि अनेक प्रकार की तपस्याएँ—अज्ञान तप किया करते थे कोई अपने चारो ओर आग सुलगा कर पञ्चाग्नि तप किया करता था, कोई वृक्ष से उल्टा लटका रहता था। कोई हाथ ऊपर उठा कर घूमता रहता था और कोई काँटो पर लेटता था। इस प्रकार शारीरिक कष्ट उठाने पर भी वे लोग क्रोधी एव दम्भी हुआ करते थे। उनकी साधना केवल लोक दिखावा थी जिससे भोली जनता आकृष्ट हो जाती थी। आत्म शुद्धि के लिए उसका कोई उपयोग न था। महावीर और बुद्ध दोनो ने इस प्रकार की तपस्या को बुरा बताया है। इसके विपरीत महावीर की कर्म-सम्पदा तथ्य थी अर्थात् वह जिस उद्देश्य से की जाती थी वह वास्तव मे उस पर पहुँचाने वाली थी। तथ्य शब्द एक अन्य वात को भी प्रकट करता है, गोशालक नियतिवादी था। उसकी दृष्टि मे उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, आदि निष्फल हैं, अर्थात् इनसे कोई लाभ नही क्योकि विश्व मे समस्त परिवर्तन नियत हैं जो होना है अवश्य होगा, उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता। इसके विपरीत महावीर की दृष्टि मे उत्थान आदि के द्वारा घटना चक्र मे परिवर्तन लाया जा सकता है। पुरुषार्थ निष्फल नही होता अत महावीर की कर्म-सम्पदा तथ्य अर्थात् फलवती है। जबकि गोशालक की फल शून्य है। यहाँ वृत्तिकार के ये शब्द हैं—

"तथ्यानि सत्फलानि अव्यभिचारितया यानि कर्माणि–क्रियास्तत्सम्पदा सत्समृद्धचा य सम्प्रयुक्तो–युक्त· स तथा।"

देव ने सद्दालपुत्र से कहा तुम भगवान की वन्दना यावत् उपासना करना उन्हे प्रातिहारिक पीठ, फलक आदि के लिए निमन्त्रित करना।

प्रातिहारिक—इस शब्द का अर्थ है—वे वस्तुएँ जिन्हे काम पूरा हो जाने पर लौटा दिया जाता है। यहाँ दो शब्द मननीय हैं—आहार और प्रतिहार भोजन सामग्री को आहार कहा जाता है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ पूरी तरह, और हृ धातु का अर्थ है हरण करना या लाना। जो वस्तु एक वार लाकर वपिस नही की जाती उसे आहार कहा जाता। भोजन इसी प्रकार की वस्तु है। इसके विपरीत बैठने का पीढा, सोने के लिए चौकी आदि वस्तुएँ कुछ दिनो के लिए लाइ जाती हैं और काम पूरा हो जाने पर वापिस कर दी जाती है। इन्हे प्रतिहार कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र प्रतिहारी के रूप चार वस्तुओ का उल्लेख है (१) पीठ अर्थात् पीढा—बैठने की चौकी। (२) फलक—पट्टा या सोने की चौकी। पजावी मे इसे फट्टा कहा जाता है। (३) शय्या—निवास स्थान तथा (४) संस्तारक—विछौना के लिए घास या चटाई आदि।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। देव ने भोजन, पानी आदि का उल्लेख नही किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि महावीर की परम्परा मे निमन्त्रित भोजन स्वीकार नही किया जाता था। यह परम्परा अब भी अक्षुण्ण है। निमन्त्रित भोजन को साधु के लिए दोषपूर्ण माना जाता है। इसके विपरीत बुद्ध तथा गोशालक के साधु निमन्त्रित भोजन स्वीकार कर लेते थे।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—"एवं खलु ममं धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलि-पुत्ते, से णं महामाहणे उप्पन्नणाण-दंसणधरे जाव तच्च कम्म-संपया-संपउत्ते, से णं कल्लं इहं हव्वमागच्छिस्सइ। तए णं तं अहं वंदिस्सामि जाव पज्जुवासिस्सामि पाडिहारिएणं जाव उवनिमंतिस्सामि ॥ १८५ ॥

छाया—तत. खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य तेन देवेनैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४ समुत्पन्न.—"एव खलु मम धर्माचार्यो धर्मोपदेशको गोशालो मङ्खलि-पुत्र, स खलु महामाहन उत्पन्नज्ञानदर्शनधरो यावत्तथ्य-कर्मसम्पदा

सम्प्रयुक्त , स खलु कल्ये इह हव्यमागमिष्यति, ततः खलु तमहं वन्दिष्ये, प्रातिहारिकेण यावदुपनिमन्त्रयिष्यामि ।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के तेणं देवेणं—उस देव द्वारा एवं वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहे जाने पर इमेयारूवे—यह अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—विचार उत्पन्न हुआ—एवं खलु—इस प्रकार मम—मेरे धम्मायरिए—धर्माचार्य धम्मोवएसए—धर्मोपदेशक गोसाले मंखलि-पुत्ते—गोशाल मखलि-पुत्र है, से ण महामाहणे—वे महामाहन हैं, उप्पन्नणाणदंसणधरे—अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारक हैं, जाव तच्च-कम्म संपया सपेउत्ते—यावत् तथ्य-कर्म रूप सपत्ति के स्वामी हैं, सेणं कल्लं इहं हव्वमागच्छिस्सइ—वे कल यहाँ आएंगे, तए णं त अहं वंदिस्सामि—तब मैं उनको वन्दना करूँगा, जाव पज्जुवासिस्सामि—यवत् पर्युपासना करूँगा, पाडिहारिएणं जाव उवनिमंतिस्सामि—प्रातिहारिक—पीठ-फलक आदि के लिए यावत् निमन्त्रित करूँगा ।

भावार्थ—उस देव के ऐसा कहने पर आजीविकोपासक सद्दाल-पुत्र के मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि "मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक गोशालक मखलि-पुत्र, महामाहन, अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारक यावत् तथ्य-कर्म रूप सपत्ति के स्वामी कल यहाँ आएंगे । मैं उन्हे वन्दना करूँगा यावत् उनकी पर्युपासना करूँगा । उन्हे प्रातिहारिक पीठ-फलकादि के लिए निमन्त्रित करूँगा ।"

मूलम्—**तए णं कल्लं जाव जलंते समणे भगवं महावीरे जाव समोसरिए । परिसा निग्गया जाव पज्जुवासइ ॥ १८६ ॥**

छाया—ततः खलु यावज्ज्वलति श्रमणो भगवान् महावीरो यावत् समवसृत । परिषन्निर्गता, यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर कल्लं जाव जलते—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर जाव समोसरिए—यावत् पधारे परिसा निग्गया—परिपद् निकली जाव पज्जुवासइ—यावत् पर्युपासना की ।

भावार्थ—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही भगवान् महावीर पधारे, यावत् परिषद् धर्म श्रवण के लिए निकली। यावत् पर्युपासना हुई।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—"एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव पज्जुवासामि" एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए-जाव-पायच्छित्ते सुद्ध-प्पावेसाइं-जाव अप्पमहग्घाभरणालंकिय-सरीरे-मणुस्सवग्गुरा-परिगए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसित्ता जाव पज्जुवासइ॥ १८७॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽस्या कथाया लब्धार्थ सन्—"एव खलु श्रमणो भगवान् महावीरो यावद्विहरति, तद् गच्छामि खलु श्रमणं भगवन्त महावीर वन्दे यावत् पर्युपासे" एव सम्प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य स्नातो यावत् प्रायश्चित्त शुद्धप्रवेश्यानि यावद् अल्पमहार्घाभरणालङ्कृतशरीरो मनुष्यवागुरा परिगत. स्वस्माद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य पोलासपुर नगरं मध्यं-मध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव सहस्राम्रवणमुद्यानं येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिकृत्व आदक्षिण-प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा यावत् पर्युपासते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—इस वृतान्त को सुना कि एवं खलु समणे भगवं महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर जाव विहरइ—यावत् विचर रहे हैं, तं गच्छामि णं—इसलिये मैं जाता हूँ समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को वंदामि जाव पज्जुवासामि—वन्दना करूंगा यावत् पर्युपासना करूंगा एवं संपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता—विचार करके

ण्हाए—स्नान किया जाव पायच्छित्ते—यावत् प्रायश्चित्त अर्थात् मङ्गलाचार किया, सुद्धप्पावेसाइं—शुद्ध तथा सभा मे प्रवेश करने योग्य वस्त्र जाव—यावत् अप्पमहग्घा-भरणालंकियसरीरे—अल्प भार वाले वहुमूल्य आभूपणो से शरीर को आलकृत किया, और मणुस्सवग्गुरापरिगए—जन-समूह के साथ साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ—अपने घर मे निकला पडिणिक्खमित्ता—निकल कर पोलासपुर नगर मज्झ-मज्झेणं निग्गच्छइ—पोलासपुर नगर के वीचो-वीच होता हुआ वाहिर निकला, निग्गच्छित्ता—निकल कर जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे—जहाँ सहस्राम्रवन उद्यान था, जेणेव समणे भगवं महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छित्ता—आकर तिक्खुत्तो आयाहिणं-पयाहिणं करेइ—दाहिनी ओर से तीन वार प्रदक्षिणा की करेत्ता वंदइ नमंसइ—प्रदक्षिणा कर के वन्दना की, नमस्कार किया वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासइ—वन्दना नमस्कार कर के यावत् पर्युपासना की ।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने इस वृत्तान्त को सुना कि श्रमण भगवन् महावीर यावत् विचर रहे हैं, उसके मन मे आया "मै जाता हूँ और उन्हे वन्दना नमस्कार करता हूँ यावत् पर्युपासना करता हूँ ।" इस प्रकार विचार कर के स्नान किया यावत् कौतुक तथा मगलाचार किये तथा सभा मे जाने योग्य शुद्ध वस्त्र पहने । अल्प भार किन्तु वहुमूल्य आभूपणो द्वारा अपने शरीर को आलकृत किया और जन समूह के साथ घर से निकल कर पोलासपुर नगर के वीचो-वीच होता हुआ सहस्राम्रवन उद्यान मे भगवान् महावीर के पास पहुँचा । उन्हे वन्दना नमस्कार करके पर्युपासना करने लगा ।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य महइ जाव धम्मकहा समत्ता ॥ १८८ ॥

छाया—तत. खलु श्रमणो भगवान् महावीर सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य तस्यां च महति यावद् धर्मकथा समाप्ता ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र तीसे य महइ—तथा

उस विशाल परिषद् को (धर्म कथा सुनाई) जाव धम्मकहा समत्ता—यावत् धर्म-कथा समाप्त हुई।

भावार्थ—तब श्रमण भगवान् महावीर ने उस विशाल परिषद् मे आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को धर्मकथा कही यावत् वह समाप्त हो गई।

मूलम्—"सद्दालपुत्ता"! इ समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीवीओवासयं एवं वयासी—"से नूणं, सद्दालपुत्ता! कल्लं तुमं पुव्वावरण्ह कालसमयंसि जेणेव असोग-वणिया जाव विरहसि। तए णं तुब्भं एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था। तए णं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने एवं वयासी—"हंभो सद्दालपुत्ता!" तं चेव सव्वं जाव "पज्जुवासिस्सामि"। से नूणं, सद्दालपुत्ता! अट्ठे समट्ठे?" "हंता! अत्थि"। नो खलु, सद्दालपुत्ता! तेणं देवेणं गोसाल मंखलि-पुत्त पणिहाय एवं वुत्ते"॥ १८९॥

छाया—"सद्दालपुत्र"! इति श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—"तन्नूनं सद्दालपुत्र! कल्ये त्वं पूर्वापराह्णकालसमये येनैवाऽशोक-वनिका यावद् विहरसि। ततः खलु तवैको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत्। ततः खलु स देवोऽन्तरिक्षप्रतिपन्न एवमवादीत्—"हंभो सद्दालपुत्र"! तदेव सर्वं यावत् पुर्युपासिष्ये", तन्नून सद्दालपुत्र! अर्थः समर्थः?" "हन्तास्ति"। नो खलु सद्दालपुत्र! तेन देवेन गोशालं मखलिपुत्रं प्रणिधायैवमुक्तम्।"

शब्दार्थ—सद्दालपुत्ता!—हे सद्दालपुत्र इ समणे भगवं महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एव वयासी—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को इस प्रकार कहा—से नूणं सद्दालपुत्ता—निश्चय ही हे सद्दालपुत्र! कल्लं तुमं पुव्वावरण्हकालसमयंसि—तुम कल दोपहर के समय जेणेव असोग-वणिया जाव विहरसि—जहाँ अशोक-वनिका मे बैठे थे तए णं—तब एगे देवे—एक देव तुब्भ अंतियं पाउब्भवित्था—तुम्हारे पास प्रकट हुआ, तए णं—तब से देवे—उस देव ने अंतलिक्ख-पडिवन्ने एवं वयासी—आकाश मे स्थित होकर यह कहा—हंभो सद्दालपुत्ता!—हे सद्दालपुत्र! तं चेव सव्वं—पूर्वोक्त सारा वृतान्त उसी प्रकार कह सुनाया जाव—

पज्जुवासिस्सामि—यावत् पर्युपासना करूँगा से नूण सद्दालपुत्ता !—निश्चय ही हे सद्दालपुत्र ! अट्ठे समट्ठे—क्या यह बात ठीक है ? हंता ! अत्थि—हाँ भगवन् ! हे सद्दालपुत्र ! ठीक है, नो खलु सद्दालपुत्ता ! तेणं देवेणं गोसालं मंखलिपुत्त पणिहाय एवं वुत्ते—उस देव ने मङ्खलिपुत्र गोशालक को लक्ष्य करके ऐसा नही कहा था ।

भावार्थ—इस प्रकार भगवान महावीर ने सद्दालपुत्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे सद्दालपुत्र ! तुम जब अशोकवनिका मे थे, एक देव तुम्हारे पास आया और उसने बताया कि इस प्रकार अरिहंत केवली आएँगे। भगवान ने सद्दालपुत्र के द्वारा पर्युपासना सम्बन्धी निश्चय तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त मे पूछा—क्या यह बात ठीक है ?" हाँ भगवन्—ठीक है, सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया। भगवान् ने फिर कहा—"सद्दालपुत्र ! देव ने यह बात गोशालक को लक्ष्य करके नही कही थी ।"

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—"एस णं समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्न-णाण-दंसणधरे, जाव तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते। तं सेयं खलु ममं समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता पाडिहारिएणं पीढ-फलग जाव उवनिमंतित्तए ।" एवं संपेहेइ, संपेहित्ता उट्ठाए उट्ठेइ, उठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, वन्दित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—"एवं खलु भंते ! ममं पोलासपुरस्स नयरस्स वहिया पंच कुम्भकारावणसया। तत्थ णं तुब्भे पाडिहारियं पीढ जाव संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरह" ॥ १९० ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य श्रमणेन भगवता महावीरेणैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिक ४—"एवं खलु श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधरो यावत्तथ्य-कर्म सम्पदा सम्प्रयुक्तस्तत् श्रेयः खलु मम श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दित्वा नमस्कृत्य प्रातिहारिकेण पीठ-फलक यावदुपनिमन्त्रयितुम्" एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य उत्थायोतिष्ठति, उत्थित्वा श्रमण भगवन्तं महावीरं

वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"एव खलु भदन्त ! मम पोलास-पुरान्नगराद् बहि पञ्च कुम्भकारापणशतानि, तत्र खलु यूयं प्रातिहारिकं पीठं संस्तार-कमवगृह्य विहरत ।"

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **समणेणं भगवया महावीरेणं**—श्रमण भगवान् महावीर के **एव वुत्तस्स समाणस्स**—इस प्रकार कहने पर **सद्दालपुत्तस्स आजीविओ-वासयस्स**—आजीविकोपासक सद्दाल-पुत्र के मन मे **इमेयारूवे अज्झत्थिए ४**—यह विचार उत्पन्न हुआ **एस णं समणे भगवं माहावीरे**—यह श्रमण भगवान् महावीर **महामाहणे**—महामाहन **उप्पन्नणाण-दंसणधरे**—अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक **जाव तच्च-कम्म-सपया संपउत्ते**—यावत् तथ्य-कर्म सम्पदा के स्वामी हैं **तं सेयं खलु ममं**—इसलिए उचित है कि मैं **समणं भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर को **वन्दित्ता नमसित्ता**—वन्दना नमस्कार करके **पाडिहारिएण पीढ फलग जाव उव-निमंतित्तए**—प्रातिहारिक पीठ फलक आदि के लिए निमन्त्रित करूँ । **एवं सपेहेइ**—उसने इस प्रकार विचार किया, **सपेहित्ता उट्ठाए उट्ठेइ**—विचार कर उठा **उट्ठित्ता**—उठ कर **समणं भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान महावीर को **वंदइ नमंसइ**—वन्दना की नमस्कार किया, **वदित्ता नमसित्ता एवं वयासी**—वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा **एवं खलु भते !**—हे भगवन् ! **पोलासपुरस्स नयरस्स वहिया**—पोलासपुर नगर के बाहिर **ममं पंच कुंभकारावणसया**—मेरे कुम्हार सम्बन्धी पाँच सौ आपण हैं **तत्थ णं तुब्भे**—वहा से आप **पाडिहारिय**—प्रातिहारिक पीठ **जाव संथारय**—पीठ यावत् सस्तारक आदि **ओगिण्हित्ता णं विहरह**—ग्रहण करके विचरे ।

भावार्थ—श्रमण भगवान् की बात सुन कर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने सोचा—"यह अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक यावत् सम्पदा और कर्म-सम्पदा के स्वामी श्रमण भगवान् महावीर हैं । मुझे इन्हे वन्दना नमस्कार करके प्रातिहारिक पीठ-फलक आदि के लिए निमन्त्रित करना चाहिए । यह विचार कर उठा, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और निवेदन किया—हे भदन्त ! पोलासपुर नगर के वाहिर मेरे पाच सौ आपण हैं वहा से आप प्रातिहारिक पीठ यावत् सस्तारक ग्रहण करके मुझे अनुगृहित करे ।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एयट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पंचकुम्भ-कारावणसएसु फासुएसणिज्जं पाडिहारियं पीढफलग जाव संथारयं ओगि-ण्हित्ता णं विहरइ ॥ १९१ ॥

छाया—तत. खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्यै-तमर्थं प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य पञ्चसु कुम्भकारापण-शतेषु प्रासुकैपणीयं प्रातिहारिकं पीठ-फलक शय्या संस्तारकमवगृह्य विहरति ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **समणे भगव महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर ने **सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स**—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की **एयमट्ठं पडिसुणेइ**—इस विनती को स्वीकार किया, **पडिसुणित्ता**—स्वीकार करके **सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स**—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की **पचकुम्भकारावणसएसु**—पाँच सौ आपणो से **फासुएसणिज्जं**—प्रासुक और एपणीय **पाडिहारिय**—प्रातिहारिक **पीढफल-गसिज्जासंथारयं**—पीढ-फलक, शय्या सस्तारक **ओगिण्हित्ता णं विहरइ**—ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—तव श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की इस प्रार्थना को स्वीकार किया और सद्दालपुत्र की पाँच सौ दुकानो से प्रासुक, एपणीय और प्रातिहारिक पीठ-फलक, शय्या-सस्तारक ग्रहण करके विचरने लगे ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ वायाहयगं कोलाल-भंडं अंतो सालाहिंतो बहिया नीणेइ, नीणित्ता, आयवंसि दलयइ ॥ १९२ ॥

छाया—तत. खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽन्यदा कदाचिद् वाताहतक कौलालभाण्डमन्त शालाया बहिर्नयति, नीत्वाऽऽतपे ददाति ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए**—वह आजीविको-पासक सद्दालपुत्र **अन्नया कयाइ**—एक दिन **वायाहययं कोलाल-भंड**—कुम्हार द्वारा

वनाए जाने वाले हवा से शुष्क मिट्टी के वर्तनो को अतो सालाहिंतो वहिया नीणेइ—अन्दर के कोठे से वाहिर लाया **नीणित्ता**—लाकर आयवसि दलयइ—धूप मे रखने लगा।

भावार्थ—एक दिन आजीविकोपासक सद्दालपुत्र हवा से कुछ सूखे हुए वर्तनो को अन्दर के कोठे से वाहिर लाकर धूप मे सुखाने लगा।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—"सद्दालपुत्ता! एस ण कोलालभंडे कओ?" ॥ १९३ ॥

छाया—तत. खलु श्रमणो भगवान् महावीर सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—"सद्दालपुत्र! एष खलु कौलालभाण्डः कुत ?"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर ने **सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं**—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को **एवं वयासी**—इस प्रकार पूछा—**सद्दालपुत्ता!**—हे सद्दालपुत्र! **एस णं कोलालभंडे कओ**—यह मिट्टी के वर्तन कहाँ से आए अर्थात् कैसे वने ?

भावार्थ—यह देखकर भगवान महावीर ने सद्दालपुत्र से पूछा—"यह वर्तन कैसे वने ?"

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते अजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—"एस णं भंते! पुव्विं मट्टिया आसी, तओ पच्छा उदएणं निगिज्जइ, निगिज्जित्ता छारेण य करिसेण य एगयाओ मीसिज्जइ, मीसिज्जित्ता चक्के आरोहिज्जइ, ताओ बहवे करगा य जाव उट्टियाओ य कज्जंति ॥ १९४ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक. श्रमणं भगवन्तं महावीरमेवमवादीत्—"एष खलु भदन्त! पूर्वं मृत्तिकाऽऽसीत्, तत पश्चादुदकेन निमज्ज्यते, निम-

ज्ज्य क्षारेण च करीषेण चैकतो मिश्यते मिश्रयित्वा चक्रे आरोप्यते, ततो बहव कर-काश्च यावदुष्ट्रिकाश्च क्रियन्ते ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को एवं वयासी—इस प्रकार बोला–एस णं भंते !—हे भगवन् ! यह पुव्विं मट्टिया आसी—पहले मिट्टी थी, तओ पच्छा—तत्पश्चात् उदएण निगिज्जइ—इन्हे पानी मे भिगोया गया, निगिज्जित्ता—भिगो कर छारेण य करिसेण य—क्षार और करीष के साथ एगओ मीसिज्जइ—एकत्र मिलाया गया मीसिज्जित्ता—मिलाकर चक्के आरोहिज्जइ—चाक पर चढाया तओ बहवे करगा य—तब बहुत से करक जाव उट्टियाओ—यावत् उष्ट्रिकाएँ बनाई जाती हैं ।

भावार्थ—सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—"भगवन् ! सर्व प्रथम मिट्टी लाई गई, उसे पानी मे भिगोया गया । तत्पश्चात् क्षारतत्व और गोवर के साथ मिला कर चाक पर चढाया गया । तव यह वर्तन वने ।"

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—"सद्दालपुत्ता ! एस णं कोलाल-भंडे किं उट्ठाणेणं जाव पुरिस-क्कार-परक्कमेणं कज्जंति उदाहु अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति ?" ॥ १९५ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीर सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेव-मवादीत्—"सद्दालपुत्र ! एतत् खलु कौलाल-भाण्डं किमुत्थानेन यावत् पुरुषकार-पराक्रमेण क्रियते उताहो ! अनुत्थानेन यावत् पुरुषकार-पराक्रमेण क्रियते ?"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से एवं वयासी–यह पूछा–सद्दालपुत्ता !—हे सद्दालपुत्र ! एस णं कोलाल-भंडे–यह मिट्टी के वर्तन किं उट्ठाणेणं

—उत्थान से जाव पुरिसक्कार-परक्कमेण कज्जति—यावत् पुरुपकार-पराक्रम से वनाए जाते हैं, उदाहु—अथवा अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसकार-परक्कमेणं—विना उत्थान यावत् पुरुपार्थ-पराक्रम से कज्जंति—वानाए जाते हैं ?

भावार्थ—भगवान् ने फिर पूछा—"सद्दालपुत्र ! यह वर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार पराक्रम से वने है ? अथवा उनके विना ही वने हैं ?"

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—"भंते ! अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा" ॥ १९६ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक श्रमण भगवन्तं महावीरमेव-मवादीत्—"भदन्त ! अनुत्थानेन यावदपुरुषकारपराक्रमेण, नास्त्युत्थानमिति वा यावत्पराक्रमइति वा, नियता सर्वभावा. ।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समणं भगव महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को एवं वयासी—इस प्रकार बोला—भंते !—हे भगवन् ! अणुट्ठाणेणं—उत्थान जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेण—यावत् पुरुषकार-पराक्रम के विना वनते हैं, नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नही, जाव परक्कमे इ वा—यावत् पराक्रम भी नही है, नियया सव्वभावा—सव भाव नियत हैं ।

भावार्थ—सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—"भगवन् ! यह सव वर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम के विना ही वने हैं । उत्थान आदि का कोई अर्थ नही है । समस्त परिवर्तन नियत हैं ।"

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—"सद्दालपुत्ता! जइ णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं

वा कोलाल-भंडं अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोग-भोगाइं भुञ्जमाणे विहरेज्जा, तस्स णं तुमं पुरिसस्स किं दंडं वत्तेज्जासि ?" "भंते ! अहं णं तं पुरिसं आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बन्धेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा ।"

"सद्दालपुत्ता ! नो खलु तुब्भ केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलाल-भंडं अवहरइ वा जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोग-भोगाइं भुञ्जमाणे विहरइ, नो वा तुमं तं पुरिसं आओसेज्जसि वा हणेज्जसि वा जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि, जइ नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा नियया सव्वभावा । अह ण तुब्भ केइ पुरिसे वायाहयं जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा जाव विहरइ, तुमं ता तं पुरिसं आओसेसि वा जाव ववरोवेसि । तो जं वदसि नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा ।"

एत्थ णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए संबुद्धे ।। १९७ ।।

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीर. सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—"सद्दालपुत्र ! यदि खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहतं वा पक्वं वा कौलाल-भाण्डमपहरेद्वा, विकिरेद्वा, भिन्द्याद्वा, आछिद्याद्वा, परिष्ठापयेद्वा, अग्निमित्रया भार्यया सार्द्धं विपुलान् भोग-भोगान् भुञ्जानो विहरेत्, तस्य खलु त्वं पुरुषस्य कि दण्डं वर्त्तये· ?" (सद्दालपुत्र उवाच) "भदन्त ! अहं खलु त पुरुषमाक्रोशयेयं वा, हन्यां वा, बध्नीयां वा, मथ्नीयां वा, तर्जयेयं वा, ताडयेयं वा, निश्छोटयेयं वा, निर्भर्त्सयेय वा, अकाल एव जीविताद्व्यपरोपयेयं वा"। (भगवानुवाच) "सद्दालपुत्र ! नो खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहतं वा पक्वं वा कौलालभाण्डमपहरति वा, यावत् परिष्ठापयति वा, अग्निमित्रया वा भार्यया सार्द्धं विपुलान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति । नो वा त्वं त पुरुषमाक्रोशसि वा हंसि वा यावदकाले एव जीविताद्व्यपरोपयसि ।

यदि नास्त्युत्थानमिति वा यावत्पराक्रम इति वा नियता' सर्वभावा, अथ खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहतं यावत्परिष्ठापयति वा, अग्निमित्रया वा यावद्विहरति, त्वं त पुरुषमाक्रोशसि वा यावद् व्यपरोपयसि तर्हि यद्वदसि—"नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियता सर्वभावास्तत्ते मिथ्या।"

अत्र खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक. सम्बुद्ध.।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने सद्दालपुत्त आजीविओवासयं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को एवं वयासी—इस प्रकार कहा—सद्दालपुत्ता—हे सद्दालपुत्र! जइ णं—यदि केइ पुरिसे—कोई पुरुष तुब्भं—तेरे वायाहयं वा—हवा लगे हुए पक्केल्लयं वा कोलालभंडं—अथवा पके हुए वर्तनो को अवहरेज्जा वा—अपहरण करले विक्खिरेज्जा वा—विखेर दे भिंदेज्जा वा—फोड दे अच्छिंदेज्जा वा—छीन ले परिट्ठवेज्जा वा—फैंक दे अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं—अथवा अग्निमित्रा भार्या के साथ विउलाइं भोग भोगाइं भुञ्जमाणे विहरेज्जा—विपुल भोग भोगता हुआ विचरे तस्स णं तुमं पुरिसस्स—उस पुरुष को तुम किं दंडं वत्तेज्जासि—क्या दण्ड दोगे? (सद्दालपुत्र उवाच) सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया भंते! —हे भगवन्! अहं णं तं पुरिसं—मैं उस पुरुष को आओसेज्जा वा—फटकारूँगा, हणेज्जा वा—पीटूँगा, बंधेज्जा वा—बाँध दूँगा महेज्जा वा—कुचल दूँगा, तज्जेज्जा वा—तर्जना करूँगा, तालेज्जा वा—ताडना करूँगा, निच्छोडेज्जा वा—छीना-झपटी करूँगा, निब्भच्छेज्जा वा—निर्भर्त्सना करूँगा, अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा वा—अथवा अकाल मे ही मार डालूँगा। (भगवान ने कहा) सद्दालपुत्ता! —हे सद्दालपुत्र! नो खलु केइ पुरिसे—ऐसा कोई पुरुष तुब्भं—तेरे वायाहयं वा—हवा लगे हुए पक्केल्लयं वा—अथवा पके हुए कोलालभंडं—वर्तनो को अवहरइ वा—नही चुराता जाव परिट्ठवेइ वा—यावत् नही फैंकता अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं अथवा अग्निमित्रा भार्या के साथ विउलाइं भोग-भोगाइं भुञ्जमाणे विहरइ—विपुल भोग भोगता हुआ नही विचरता है, नो वा तुमं तं पुरिसं—न ही तुम उस पुरुष को आओसेज्जसि वा—फटकारते हो हणेज्जसि वा—मार-पीट करते हो जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि—यावत् प्राणापहरण करते हो जइ—यदि नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नही है, जाव परक्कमे इ वा—यावत् पराक्रम नही है नियया सव्व-

भावा—और सब भाव नियत है, **अह णं केइ पुरिसे**—यदि कोई पुरुष. **तुब्भं वायाहयं जाव परिट्ठवेइ वा**—तेरे हवा लगे हुए वर्तनो को चुराता है यावत् वाहिर फैंकता है **अग्गिमित्ताए वा जाव विहरइ**—यावत् अग्निमित्रा भार्या के साथ विहार करता है, **तुमं वा तं पुरिसं**—और तुम उस पुरुष को **आओसेसि**—फटकारते हो, **जाव ववरोवेसि**—यावत् प्राण लेते हो, **तो जं वदसि**—तो फिर भी यह कहते हो कि **नत्थि उट्ठाणे इ वा**—उत्थान नही है, **जाव नियया सव्वभावा**—यावत् सब भाव नियत हैं, **त ते मिच्छा**—तेरा यह कहना मिथ्या है।

एत्थ णं—इस पर से **सद्दालपुत्ते आजीविओवासए संबुद्धे**—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समझ गया अर्थात् उसे बोध हो गया।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से पूछा—"हे सद्दालपुत्र! यदि कोई पुरुष हवा लगे हुए अथवा पके हुए तेरे बर्तनो को चुराले, कही वाहिर ले जाकर रख दे और तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ काम-भोग सेवन करे तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे?" सद्दालपुत्र—"भदन्त! मै उस पुरुष को गालिया दूगा, फटकारूँगा, पीटूगा, वाध दूगा, पैरो तले कुचल दूगा, धिक्कारूँगा, ताडना करूँगा, नोच डालूँगा, भला-वुरा कहूँगा, अथवा उसके प्राण लेलूँगा।" भगवान् ने कहा—"हे सद्दालपुत्र! तुम्हारी मान्यता के अनुसार न तो कोई पुरुष वर्तनो को चुराता है, और न अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार करता है। न ही तुम उस पुरुष को दण्ड देते हो या मारते हो। क्योकि उत्थान यावत् पुरुपकार तो हैं ही नही—जो कुछ होता है अपने आप होता है, इसके विपरीत यदि कोई पुरुष तुम्हारे वर्तनो को वास्तव मे चुराता है, या अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार सेवन करता है और तुम उसे गाली-गलौच देते हो यावत् मारते हो तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या है कि उत्थान यावत् पुरुपार्थ कुछ नही है, और सब भाव नियत हैं।" यह सुनकर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र वास्तविकता को समझ गया।

टीका—पिछले तथा इन सूत्रो मे भगवान महावीर ने गोशालक के नीतिवाद का खण्डन करने के लिए युक्तिया दी हैं। नीतिवाद का स्वरूप कुण्डकौलिक अध्ययन मे वताया जा चुका है। देवता ने जव कुण्डकौलिक के सामने गोशालक के सिद्धान्त को

समीचीन बताकर विश्व के समस्त परिवर्तनो को नियत बनाया और कहा कि जीवन मे प्रयत्न तथा पुरुषार्थ का कोई स्थान नही है तो कुण्डकोलिक ने उससे पूछा--"यदि सब बाते नियत है तो सभी प्राणी तुम्हारी तरह देव क्यो नही बन गये ?" इस पर देव निरुत्तर हो कर चला गया।

सद्दालपुत्र भी गोशालक का अनुयायी था। एक दिन वह बर्तनो को धूप मे रख रहा था। भगवान ने पूछा--यह बर्तन कैसे बने ? सद्दालपुत्र ने बताया--पहले मिट्टी को पानी मे भिगोते है फिर उसमे क्षार और करीष मिलाते है फिर चाक पर चढाते है तब जा कर तरह २ के बर्तन बनते है।

भगवान ने पूछा--क्या इनके लिये पुरुषार्थ या प्रयत्न की आवश्यकता नही होती ? सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया नही यह पुरुषार्थ और पराक्रम के बिना ही बन जाते है। यद्यपि गोशालक का उत्तर ठीक नही था फिर भी भगवान् ने उसे दूसरी तरह समझाने का निश्चय किया। उन्होने देखा कि सद्दालपुत्र अपने को भी नियति का एक अङ्ग मान रहा है और स्वय जो प्रयत्न कर रहा है उसे भी नियति ही समझ रहा है। अत ऐसे उदाहरण देने चाहिए जो अस्वाभाविक या अनपेक्षित हो। जिसे वह प्रतिदिन के व्यवहार मे सम्मिलित न कर सके। भगवान् ने पूछा--सद्दालपुत्र ! यदि तुम्हारे इन बर्तनो को कोई चुरा ले, फोड दे या इधर-उधर फेंक दे अथवा तुम्हारी भार्या अग्निमित्रा के साथ दुर्व्यवहार करे तो उसे क्या दण्ड दोगे ?

"भगवन् ! मै उस पुरुष को धिक्कारूगा, पीटूगा, उसे पकड लूगा यहाँ तक कि उसके प्राण भी ले सकता हूँ।" सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया। भगवान् ने पूछा--तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार सब भाव नियत है। अर्थात् जो होनहार है वही होता है, व्यक्ति कुछ नही करता। ऐसी स्थिति मे तुम्हारे बर्तन फूटने ही वाले थे। उनके लिए कोई व्यक्ति उत्तरदायी नही है फिर तुम ऐसा करने वाले को दण्ड क्यो देते हो ? सद्दालपुत्र ने अपने उत्तर मे यह कहा था कि बर्तन आदि फोडने वाला व्यक्ति अकाल मे ही जीवन से हाथ धो बैठेगा। यह उत्तर अपने आप नियतिवाद का खण्डन करता है।

भगवान् का उत्तर सुनकर सद्दालपुत्र समझ गया और वह नियतिवाद को छोड कर पुरुषार्थ मे विश्वास करने लगा।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—"इच्छामि णं, भंते ! तुब्भं अंतिए धम्मं निसामेत्तए" ॥ १९८ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकः श्रमणं भगवन्तं महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"इच्छामि खलु भदन्त ! युष्माकमन्तिके धर्मं निशामयितुम् ।"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए**—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने **समणं भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर को **वंदइ नमंसइ**—वन्दना नमस्कार किया **वंदित्ता नमंसित्ता**—वन्दना नमस्कार करके **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**इच्छामि णं भंते !**—हे भगवन् ! मैं चाहता हूँ कि **तुब्भं अंतिए**—आपके पास **धम्मं निसामेत्तए**—धर्म सुनूँ ।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और कहा—"हे भगवन् ! मैं आप से धर्म सुनना चाहता हूँ ।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य जाव धम्मं परिकहेइ ॥ १९९ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य तस्यां च यावद्धर्मं परिकथयति ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स**—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को **तीसे य जाव धम्मं परिकहेइ**—उस महती परिषद् मे यावत् धर्म सुनाया ।

भावार्थ—इस पर श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को महती परिषद् मे धर्मोपदेश किया ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव हियए जहा आणंदो तहा गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। नवरं एगा हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एगा हिरण्ण-कोडी वुड्ढि-पउत्ता, एगा हिरण्ण-कोडी पवित्थर-पउत्ता, एगे वए दस गो-साहस्सिएणं वएणं जाव समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव पोलासपुरे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झं-मज्झेणं जेणेव सए गिहे, जेणेव अग्गिमित्ता भारिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, अग्गिमित्तं एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिए! समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे, तं गच्छाहि णं तुमं, समणं भगवं महावीरं वंदाहि जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि" ॥ २०० ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक-श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्टतुष्टो यावत् हृदयो यथाऽऽनन्दस्तथा गृहिधर्मं प्रतिपद्यते, नवरमेका हिरण्यकोटिर्निधान-प्रयुक्ता, एका हिरण्यकोटिर्वृद्धि-प्रयुक्ता, एका हिरण्यकोटि प्रविस्तर-प्रयुक्ता, एको व्रजो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन यावत् श्रमणं भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य येनैव पोलासपुरं नगरं तेनैवोपागच्छति, उपागत्य पोलासपुर नगरं मध्यं-मध्येन येनैव स्वक गृहं येनैवाग्निमित्राभार्या तेनैवोपागच्छति, उपागत्याग्निमित्रां भार्यामेवमवादीत्—"एवं खलु देवानुप्रिये! श्रमणो भगवान् महावीरो यावत् समवसृत, तद्गच्छ खलु त्वं श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दस्व, यावत्पर्युपास्स्व श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं गृहिधर्मं प्रतिपद्यस्व।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए—श्रमण भगवान् महावीर के समीप धम्मं सोच्चा निसम्म—धर्म को सुनकर हृदयगम करके हट्ठ-तुट्ठ जाव हियए—मन मे प्रसन्न तथा संतुष्ट हुआ, जहा आणदो तहा गिहिधम्मं पडिवज्जइ—आनन्द की

तरह गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया **नवर**—केवल इतना अन्तर है कि **एगा हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता**—उसके पास एक करोड सुवर्ण कोष मे **एगा हिरण्ण-कोडी—वुड्ढि-पउत्ता**—एक करोड व्यापार मे **एगा हिरण्ण-कोडी पवित्थर-पउत्ता**—और एक करोड गृह तथा उपकरणो मे रखने की मर्यादा की। **एगे वए दसगोसाहस्सिएणं वएण**—इस प्रकार दस हजार गायो का एक व्रज रखा **जाव**—यावत् **समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ**—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया **वंदित्ता नमंसित्ता**—वन्दना नमस्कार करके **जेणेव पोलासपुरे नयरे**—जहा पोलासपुर नगर था, **तेणेव उवागच्छइ**—वहा आया, **उवागच्छित्ता**—आकर **पोलासपुर नयर मज्झं मज्झेणं**—पोलासपुर नगर के बीच होता हुआ **जेणेव सए गिहे**—जहा अपना घर था **जेणेव अग्गिमित्ता भारिया**—जहाँ अग्निमित्रा भार्या थी **तेणेव उवागच्छइ**—वहा आया **उवागच्छित्ता**—आकर **अग्गिमित्तं भारियं**—अग्निमित्रा भार्या से **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**एव खलु देवाणुप्पिए!**—हे देवानुप्रिये! **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर **जाव समोसढे**—यावत् समवसृत हुए ह, **त गच्छाणं तुमं**—इसलिए तुम जाओ **समण भगव महावीर**—श्रमण भगवान् को **वंदाहि**—वन्दना करो **जाव पज्जुवासाहि**—यावत् पर्युपासना करो, **समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए**—श्रमण भगवान् महावीर के पास **पंचाणुव्वइयं**—पाच अणुव्रत **सत्तसिक्खावइय**—और सात शिक्षाव्रतरूप **दुवालसविहं**—वाहर प्रकार के **गिहिधम्मं पडिवज्जाहि**—गृहस्थ धर्म को स्वीकार करो।

भावार्थ—इस पर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने हर्ष और सन्तोष का अनुभव किया। उसने भी आनन्द की भाति गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। इतना ही अन्तर है कि उसके पास एक करोड सुवर्ण कोष मे थे, एक करोड व्यापार मे और एक करोड गृह और उपकरणो मे लगे हुए थे। दस हजार गायो का एक व्रज था। सद्दालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को पुन वन्दना नमस्कार किया और पोलासपुर नगर मे से होता हुआ अपने घर पहुँचा। वहा जाकर अग्निमित्रा भार्या से कहा—हे देवनुप्रिये! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं। तुम जाओ, उन्हे वन्दना नमस्कार यावत् उनकी पर्युपासना करो। उनसे पॉच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म स्वीकार करो।

मूलम्—तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएण पडिसुणेइ ॥ २०१ ॥

छाया—तत. खलु साऽग्निमित्रा भार्या सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य तथेति एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर सा अग्गिमित्ता भारिया—उस अग्निमित्रा भार्या ने सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स तहत्ति एयमट्ठं—सद्दालपुत्र श्रमणोपासक के वचन 'तथेति' इस प्रकार कहकर विणएण पडिसुणेइ—विनयपूर्वक स्वीकार किए ।

भावार्थ—अग्निमित्रा ने सद्दालपुत्र के कथन को 'तथेति' कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए कोडुम्बिय-पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—"खिप्पामेव, भो देवाणुप्पिया ! लहुकरण-जुत्त-जोइयं सम-खुर-बालिहाण समलिहिय-सिंगएहिं, जंबूणयामय-कलाव-जोत्त पइविसिट्ठएहिं रययामय-घंट-सुत्त-रज्जुग वरकंचण-खइय-नत्था-पग्गहोग्गहियएहिं, नीलुप्पल-कयामेलएहिं, पवर-गोण-जुवाणएहिं नाणा-मणि-कणग-घंटिया-जाल-परिगयं सुजाय-जुग-जुत्त-उज्जुग-पसत्थ-सुविरइय-निम्मियं पवर-लक्खणोववेयं जुत्तामेव धम्मियं जाण-प्पवरं उवट्ठवेह, उवट्ठवित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह" ॥ २०२ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकः कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दापयति, शब्दापयित्वा एवमवादीत्—"क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियया. ! लघुकरणयुक्तयौगिकसमखुरवालिधानसमलिखितशृङ्गकाभ्यां जाम्बूनदमयकलापयोक्त्रप्रतिविशिष्टाभ्यां रजतमयघण्टसूत्र रज्जुकवरकाञ्चनखचितनस्ताप्रग्रहावगृहीतकाभ्यां नीलोत्पल कृताऽऽपीडकाभ्यां प्रवरगो युवाभ्यां नानामणि-कनकघण्टिकाजालपरिगत सुजातयुगयुक्तर्जु कप्रशस्त-सुविरचितनिर्मितं प्रवरलक्षणोपेतं युक्तमेव धार्मिकं यानप्रवरमुपस्थापयत, उपस्थाप्य ममैतामज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयत ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते समणोवासए**—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने **कोडुम्बिय पुरिसे सद्दावेइ**—कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाया **सद्दावित्ता एवं वयासी**—और बुलाकर इस प्रकार कहा—**खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रियो ! **लहुकरण**—शीघ्रगामी **जुत्तजोइयं**—ऐसे बैलो से युक्त **समखुरवालिहाण समलिहिय सिंगएहिं**—जिनके खुर तथा पूँछ एक समान हो और सीग रगे हुए हो **जंबूणयामय कलाव जोत्त पइविसिट्ठएहिं**—कठाभरण सुवर्णमय तथा रस्सिया सुनहरे तारो से मढी हुई हो **रययमयघट सुत्त रज्जुग वरकंचण खइय नत्थापगहोग्गहिएहिं** चादी के घटे सूत की डोरियो के साथ बधे हुए तथा नकेल सुवर्ण से मढी हुए हो **नीलुप्पल-कयामेलएहिं**—मस्तिष्क पर नीले कमल सजे हुए हो **पवर गोणजुवाणएहिं** तथा किशोर आयु हो, ऐसे बैलो से युक्त **नाणामणिकणग घटिया जाल परिगयं सुजाय जुग जुत्त उज्जुगं पसत्थ सुविरइय निम्मियं**—नाना मणियो से मडित और घटियो से युक्त अच्छी लकडी के युग अर्थात् जुए वाले **पवर लक्खणोववेयं**—उत्तम लक्षणो से युक्त **धम्मियं जाण प्पवरं**—धर्म-क्रिया के योग्य श्रेष्ठ रथ को **उवट्ठवेह**—उपस्थित करो। **उवट्ठवित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह**—मेरी इस प्रकार की आज्ञा को पूरी करके मुझे सूचना दो।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाकर कहा—"हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही तेज चलने वाला रथ सजाओ। उसमे नई उमर के ऐसे उत्तम बैलो की जोडी जोतना, जिनके खुर तथा पूँछ एक ही रग के हो। सीग विभिन्न रगो से रगे हुए हो। उनके गले मे आभूषण पहनाना। नाक की (नकेल) रस्सियो को भी सुवर्ण के तागो से सुशोभित करना। मस्तक नीले कमलो से सजे हो। रथ नाना प्रकार की मणियो से मडित हो। युग (जुआ) उत्तम लकडी का बना हुआ हो। बनावट समीचीन ऋजु, तथा प्रशस्त हो। धर्मक्रिया के लिए उपयुक्त ऐसे उत्तम रथ को उपस्थित करो और आज्ञा का पालन करके मुझे सूचना दो।"

मूलम्—**तए णं ते कोडुम्बिय-पुरिसा जाव पच्चप्पिणंति ॥ २०३ ॥**

छाया—ततः खलु ते कौटुम्बिकपुरुषा. यावत्प्रत्यर्पयन्ति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर ते कोडुम्बिय-पुरिसा जाव पच्चप्पिणंति—उन कौटुम्बिक-पुरुषो—सेवको ने आज्ञा पालन करके सूचना दी।

भावार्थ—कौटुम्बिक-पुरुषो ने आज्ञा पूरी करके सद्दालपुत्र को सूचना दी।

मूलम्—तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया जाव पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियासरीरा चेडिया-चक्कवाल-परिकिण्णा धम्मियं-जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता पोलासपुरं नगरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता चेडियाचक्कवालपरिवुडा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो जाव वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे जाव पञ्जलिउडा ठिइया चेव पज्जुवासइ ॥ २०४ ॥

छाया—ततः खलु साग्निमित्रा भार्या स्नाता यावत् प्रायश्चित्ता शुद्धात्मवेष्याणि यावदल्प-महार्घाभरणालंकृतशरीरा चेटिका-चक्रवाल परिकीर्णा धार्मिकं यानप्रवरं दूरोहति, दूरुह्य पोलासपुरं नगरं मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव सहस्राम्रवण-मुद्यानं येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य धार्मिकाद् यानप्रवरात् प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य चेटिका-चक्रवालपरिवृत्ता येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य त्रि कृत्वो यावद्वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य नात्यासन्ने नातिदूरे यावत्प्राञ्जलिपुटा स्थितैव पर्युपास्ते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया—उस अग्निमित्रा भार्या ने स्नान किया, जाव पायच्छित्ता—यावत् प्रायश्चित्त अर्थात् पाप नाशक कर्म किए, सुद्धप्पावेसाइं—शुद्ध तथा सभा मे प्रवेश करने योग्य उत्तम वस्त्र धारण किए, जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा—यावत् अल्प भार तथा बहुमूल्य आभूषणो से अपने शरीर को आभूषित किया, चेडिया-चक्कवाल परिकिण्णा—चेटिका चक्रवाल—दासी समूह से घिरी हुई, वह अग्निमित्रा धम्मियं जाण-प्पवरं दुरुहइ—

धार्मिक यान श्रेष्ठ पर सवार हुई, **दुरुहित्ता**—सवार हो कर **पोलासपुरं नगरं मज्झ-मज्झेणं**—पोलासपुर नगर के बीचो-बीच **निग्गच्छइ**—निकली, **निग्गच्छित्ता**—निकल कर **जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे** जहाँ सहस्राम्रवन उद्यान था, **जेणेव समणे भगवं महावीरे**—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे **तेणेव**—वहाँ **उवागच्छइ**—आई, **उवागच्छित्ता**–आकर **धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ**—उस धार्मिक यानप्रवर-रथ से नीचे उतरी **पच्चोरुहित्ता**—उतर कर **चेडिया चक्कवाल परिवुडा**—दासी-समूह मे घिरी हुई **जेणेव समणे भगवं महावीरे**—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आई **उवागच्छित्ता**—आकर **तिक्खुत्तो जाव वदइ नमसइ**—तीन बार यावत् वन्दना नमस्कार किया **वदित्ता नमसित्ता**—वन्दना नमस्कार करके **नच्चासन्ने नाइदूरे**—न तो बहुत समीप और न ही बहुत दूर **जाव पञ्जलिउडा**—यावत् प्राञ्जलिपुट होकर अर्थात् हाथ जोडे हुए **ठिइया चेव पज्जुवासइ**—खडी-खडी पर्युपासना करने लगी।

भावार्थ—अग्निमित्रा भार्या ने स्नान किया, शुद्ध तथा सभा मे प्रवेश करने योग्य उत्तम वस्त्र धारण किये यावत् अल्प भार किन्तु बहुमूल्य आभूषणो से अपने शरीर को आभूषित किया। दासी समूह से घिरी हुई धार्मिक रथप्रवर पर सवार हुई तथा पोलासपुर नगर के बीच होती हुई सहस्राम्रवन उद्यान मे पहुँची। रथ से उतर कर चेटि-परिवार से घिरी हुई भगवान् महावीर के पास पहुँची। भगवान् को तीन बार वन्दना नमस्कार किया, न बहुत समीप न अति दूर खडी हुई और हाथ जोडकर उपासना करने लगी।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे अग्गिमित्ताए तीसे य जाव धम्मं कहेइ ॥ २०५ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽग्निमित्रायै तस्या च यावद् धर्म कथयति।

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **अग्गिमित्ताए**—अग्निमित्रा को **तीसे य जाव धम्म कहेइ**—उस महती परिषद् मे यावत् धर्मोपदेश किया।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने अग्निमित्रा को उस महती परिषद् में धर्मोपदेश किया।

मूलम्—तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठा समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, नमंसित्ता एवं वयासी—"सद्दहामि णं, भंते ! निग्गंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वयह, जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा भोगा जाव पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि देवाणुप्पियाणं अंतिए मुण्डा भवित्ता जाव अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त-सिक्खावइयं दुवालस-विहं गिहि-धम्मं पडिवज्जिस्सामि।" "अहासुहं, देवाणप्पिया ! मा पडिबंधं करेह" ॥ २०६ ॥

छाया—तत. खलु सा अग्निमित्रा भार्या श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्म श्रुत्वा निशम्य हृष्ट-तुष्टा श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"श्रद्धामि खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं यावत् तद् यथैतद् यूयं वदथ। यथा खलु देवानुप्रियाणामन्तिके बहव उग्रा भोगा यावत् प्रव्रजिता, नो खल्वहं तथा शक्नोमि देवानुप्रियाणामन्तिक मुण्डा भूत्वा यावद्, अहं खलु देवानुप्रियाणामन्तिके पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविधं गृहि-धर्मं प्रतिपत्स्ये।" "यथा-सुखं देवानुप्रिये ! मा प्रतिबन्धं कुरु।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर सा अग्गिमित्ता भारिया—वह अग्निमित्रा भर्या समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए—श्रमण भगवान् महावीर के पास धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठा—धर्मोपदेश सुनकर हृष्ट-तुष्ट हुई और समणं भगवं महावीरं वंदइ नमसइ—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार बोली—सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं—हे भगवन् ! मै निर्ग्रन्थ प्रवचन मे श्रद्धा करती हूँ, जाव से जहेयं तुब्भे वयह—यावत् जैसे आप कहते हैं वह यथार्थ है जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए—जिस प्रकार देवानुप्रिय के पास बहवे उग्गा भोगा—बहुत से उग्रवंशी, भोगवंशी जाव

पव्वइया—यावत् प्रव्रजित—दीक्षित हुए हैं **नो खलु अहं तहा संचाएमि**—मैं उस प्रकार समर्थ नही हूँ कि **देवाणुप्पियाणं अंतिए मुण्डा भवित्ता**—देवानुप्रिय के पास मुण्डित हो सकू **जाव अह ण**—यावत् मैं **देवाणुप्पियाणं अंतिए**—देवानुप्रिय के पास **पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं**—पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षा व्रत रूप **दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि**—बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार करूँगी, **अहासुहं देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिये ! तुम्हे जिस तरह सुख हो **मा पडिवंधं करेह**—विलम्ब मत करो।

भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर के धर्मोपदेश को सुन कर अग्निमित्रा भार्या अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और कहा—हे भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करती हूँ। जिस तरह आप कहते हैं, यह उसी प्रकार है। आप देवानुप्रिय के पास जिस तरह बहुत से उग्रवशी यावत् भोगवशी प्रव्रजित-दीक्षित हो चुके हैं मैं उस प्रकार दीक्षित होने मे समर्थ नही हूँ। मैं आपसे पाच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकार के गृहस्थ-धर्म को स्वीकार करूँगी।" भगवान् ने कहा—"जैसे तुम्हे सुख हो। विलम्ब मत करो।"

मूलम्—**तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुवइयं सत्तसिक्खा-वइयं दुवालस-विहं सावग-धम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता तमेव धम्मियं जाण-प्पवरं दुरुहइ दुरुहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ॥ २०७ ॥**

छाया—ततः खलु साऽग्निमित्रा भार्या श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पचाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविध श्रावकधर्म प्रतिपद्यते। प्रतिपद्य श्रमणं भगवन्तं महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य तदेव धार्मिक यानप्रवरं दूरोहति, दूरुह्य यामेव दिशं प्रादुर्भूता तामेव दिशं प्रतिगता।

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **सा अग्गिमित्ता भारिया**—उस अग्निमित्रा भार्या ने **समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए**—श्रमण भगवान् महावीर के पास **पंचाणुव्वइयं**

सत्तसिक्खावइयं—पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ—बारह प्रकार के श्रावक धर्म को ग्रहण किया, पडिवज्जित्ता—ग्रहण करके समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ—उसी धार्मिक रथ पर सवार हुई दुरुहित्ता—सवार होकर जामेव दिसं पाउब्भूया—जिस दिशा से आई थी तामेव दिसं पडिगया—उसी दिशा मे चली गई।

भावार्थ—इस अग्निमित्रा भार्या ने श्रमण भगवान महावीर के पास पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार किया। श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार किया और उसी धार्मिक रथ पर सवार होकर जिस दिशा से आई थी उसी दिशा चली मे गई।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ पोलास पुराओ नयराओ सहस्संबवणाओ, पडिनिग्गच्छइ पडिनिगच्छित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ ॥ २०८ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचित् पोलासपुरात् नगरात् सहस्राम्रवणात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदविहार विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर अन्नया कयाइ—एक दिन पोलास पुराओ नयराओ—पोलासपुर नगर सहस्संबवणाओ—सहस्राम्रवन से पडिनिक्खमइ—विहार कर गए पडिनिक्खमित्ता—विहार करके बहिया जणवय विहारं विहरइ—बाहिर के जनपदो मे विचरने लगे।

भावार्थ—उसके बाद एक दिन श्रमण भगवान् महावीर पोलासपुर के सहस्राम्र-वन उद्यान से विहार कर गये और बाहिर के जनपदो मे विचरने लगे।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते समणोवासए जाए अभिगए-जीवा जीवे जाव विहरइ ॥ २०९ ॥

छाया—तत. खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासकोऽभिगतजीवाजीवो यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र अभिगय-जीवाजीवे—जीव-अजीव का ज्ञाता होकर जाव विहरइ—यावत् विचरने लगा।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक सद्दालपुत्र जीवाजीव का ज्ञाता बनकर जीवन व्यतीत करने लगा।

मूलम्—तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—"एवं खलु सद्दालपुत्ते आजीविय-समयं वमित्ता समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठि पडिवन्ने। तं गच्छामि णं सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठिं वामेत्ता पुणरवि आजीविय-दिट्ठि गेण्हावित्तए" त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता आजीविय-संघ-सम्परिवुडे जेणेव पोलासपुरे नयरे, जेणेव आजीविय-सभा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आजीवियसभाए भण्डग-निक्खेवं करेइ, करेत्ता कइवएहिं आजीविएहिं सद्धिं जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ २१० ॥

छाया—ततः खलु स गोशालो मखलि-पुत्रोऽस्या कथायां लब्धार्थ सन्—"एवं खलु सद्दालपुत्र आजीविकसमयं वमित्वा श्रमणानां निर्ग्रन्थानां दृष्टिं प्रतिपन्न', तद् गच्छामि खलु सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकं श्रमणानां निर्ग्रन्थानां दृष्टिं वामयित्वा पुनरप्याजीविकदृष्टिं ग्राहयितुम्" इति कृत्वा, एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्याजीविकसंघ संपरिवृतो येनैव पोलासपुर नगरं येनैवाजीविकसभा तेनैवोपागच्छति, उपागत्याजीविकसभाया भाण्डकनिक्षेप करोति, कृत्वा कतिपयैराजीविकै. सार्द्धं येनैव सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से गोसाले मंखलिपुत्ते—वह गोशालक मखलिपुत्र इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—इस वृत्तान्त को सुनकर एव खलु सद्दालपुत्ते—कि इस प्रकार सद्दालपुत्र ने आजीवियसमयं वमित्ता—आजीविक सिद्धान्त को त्याग कर समणाण निग्गंथाणं दिट्ठि पडिवन्ने—श्रमण निर्ग्रन्थो की मान्यता को अङ्गीकार कर

लिया है तं गच्छामि ण—इस लिए मैं जाता हूँ और सद्दालपुत्ते आजीविओवासयं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को समणाणं निग्गथाणं दिट्ठि वामेत्ता—श्रमण निर्ग्रन्थो की मान्यता छुडा कर पुणरवि—पुन आजीवियदिट्ठि गेण्हावित्तए—आजीविक दृष्टि ग्रहण कराता हूँ त्ति कट्टु एवं संपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया सपेहित्ता—विचार करके आजीवियसंघसम्परिवुडे—आजीविक सघ के साथ जेणेव पोलासपुरे नयरे—जहाँ पोलासपुर नगर था जेणेव आजीवियसभा—और जहाँ आजीविक सभा थी तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया उवागच्छित्ता—आकर आजीवियसभाए—आजीविक सभा मे भण्डग निक्खेवं करेइ—भाण्ड-उपकरण रख दिए करेत्ता—ऐसा करके कइवर्एहि आजीविर्एहि सद्धि—कुछ आजीविको के साथ जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए—जहाँ सद्दालपुत्र श्रमणोपासक रहता था तेणेव उवागच्छइ—वहाँ पहुँचा ।

भावार्थ—कुछ दिन बीतने पर मखलिपुत्र गोशाल ने यह समाचार सुना कि सद्दालपुत्र आजीविक सिद्धान्त को छोडकर श्रमण निर्ग्रन्थो का अनुयायी बन गया है । उसने मन ही मन विचार किया कि मुझे पोलासपुर जाकर सद्दालपुत्र को पुन आजीविक सम्प्रदाय मे लाना चाहिए । यह विचार कर आजीविक सघ के साथ वह पोलासपुर पहुँचा और आजीविक सभा मे अपने भाण्डोपकरण रखकर कुछ आजीविको के साथ सद्दालपुत्र श्रमणोपासक के पास आया ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलि-पुत्तं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता नो आढाइ, नो परिजाणाइ, अणाढायमाणे, अपरिजाणमाणे तुसिणीए संचिट्ठइ ॥ २११ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र. श्रमणोपासको गोशालं मखलिपुत्रमायातं पश्यति, दृष्ट्वा नो आद्रियते, नो परिजानाति, अनाद्रियमाणोऽपरिजानन् तूष्णीक. सन् तिष्ठति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने गोसाल मंखलिपुत्तं एज्जमाणं पासइ—मखलिपुत्र गोशाल को आते हुए देखा पासित्ता—देखकर नो आढाइ नो परिजाणाइ—न तो आदर ही किया और न

पहचाना अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे—विना आदर किए तथा विना पहचाने तुसिणीए संचिट्ठइ—चुप-चाप बैठा रहा।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशाल को आते हुए देखा किन्तु न तो उसका आदर किया और न ही पहचाना (अपरिचित के समान उपेक्षा भाव रखा) अपितु चुप-चाप बैठा रहा।

मूलम्—तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे पीढ-फलग-सिज्जा-संथारट्ठयाए समणस्स भगवओ महावीरस्स गुण-कित्तण करेमाणे सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—"आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-माहणे" ? ॥ २१२ ॥

छाया—तत खलु स गोशालो मंखलिपुत्र सद्दालपुत्रेण श्रमणोपासकेनानाद्रियमाणोऽपरिज्ञायमान. पीठ-फलक-शय्या-संस्तारार्थं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य गुण-कीर्तन कुर्वाणः सद्दालपुत्र श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"आगतः खलु देवानुप्रिय ! इह महामाहनः ?"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से गोसाले मंखलिपुत्ते**—वह मखलिपुत्र गोशाल **सद्दालपुत्तेण समणोवासएण**—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र द्वारा **अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे**—विना आदर तथा परिज्ञान प्राप्त किए **पीढ-फलग-सिज्जा-सथारट्ठयाए**—पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर का **गुणकित्तण करेमाणे**—गुण कीर्तन करता हुआ **सद्दालपुत्तं समणोवासय एवं वयासी**—सद्दालपुत्र श्रमणोपासक को इस प्रकार बोला—**आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महामाहणे**—हे देवानुप्रिय ! क्या यहाँ महामाहन आए थे ?"

भावार्थ—मखलिपुत्र गोशाल को सद्दालपुत्र की ओर से कोई सन्मान सत्कार या परिज्ञान प्राप्त नही हुआ। फिर भी उसने पीठ, फलक शय्या तथा सस्तारक आदि प्राप्त करने के लिए पूछा—"क्या यहाँ महामाहन आए थे।

मूलम्——तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी——"के णं, देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?" ॥ २१३ ॥

छाया——ततः खलु स सद्दालपुत्र. श्रमणोपासको गोशालं मंखलिपुत्रमेवमवादीत्–"क. खलु देवानुप्रिय ! महामाहनः ?"

शब्दार्थ——तए णं—तदन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र गोसाल मंखलिपुत्तं—गोशाल मखलिपुत्र से एवं वयासी—इस प्रकार बोला—के णं देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?—हे देवानुप्रिय ! महामाहन कौन हैं ?

भावार्थ——श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक से पूछा—"हे देवानुप्रिय ! महामाहन कौन हैं ? अर्थात् आपका अभिप्राय किस से है ?"

मूलम्——तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी–"समणे भगवं महावीरे महामाहणे" । "से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ–समणे भगवं महावीरे महामाहणे ।"

"एवं खलु, सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्न-णाण-दंसणधरे जाव महिय–पूइए जाव तच्चकम्म-संपया-संपउत्ते । से तेणट्ठेण, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महामाहणे" । "आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महागोवे" ? "के णं, देवाणुप्पिया ! महागोवे" ! "समणे भगवं महावीरे महागोवे" । "से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! जाव महागोवे ?"

"एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्जमाणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे धम्ममएणं दण्डेण सारक्खमाणे संगोवेमाणे, निव्वाण-महावाडं साहत्थिं संपावेइ । से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे-महा-गोवे ।" "आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-सत्थवाहे ?"

"के णं, देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ?" "सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे।" "से केणट्ठेणं० ?" "एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे धम्ममएणं पंथेणं सारक्खमाणे निव्वाण-महा-पट्टणाभिमुहे साहत्थिं संपावेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे।" "आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-धम्म-कही ?" के णं देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?"

"समणे भगवं महावीरे महा-धम्मकही।" "से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महा-धम्मकही ?"

"एवं खलु, देवाणप्पिया ! समणे भगवं महावीरे महइ-महालयंसि संसारंसि बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्ज-माणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे उम्मग्ग-पडिवन्ने सप्पहविप्पणट्ठे मिच्छत्त-बला-भिभूए अट्ठविह-कम्म-तम-पडल-पडोच्छन्ने, बहूहिं अट्ठेहि य जाव वागरणेहि य चाउरंताओ संसारकंताराओ साहत्थि नित्थारेइ। से तेणट्ठेणं, देवाणु-प्पिया ? एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही।' "आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महानिज्जामए ?"

"के णं, देवाणुप्पिया ! महा-निज्जामए ? "समणे भगव महावीरे माहानिज्जामए।" "से केणट्ठेणं० ?"

"एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसार-महा-समुद्दे बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे ४ बुड्डमाणे निबुड्डमाणे उप्पियमाणे धम्ममईए नावाए निव्वाण-तीराभिमुहे साहत्थि सपावेइ। से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एव वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महा-निज्जा-मए" ॥ २१४ ॥

छाया—तत खलु स गोशालो मङ्खलिपुत्रः सद्दालपुत्र श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन. !" "तत्केनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते

श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन. ?" "एवं खलु सद्दालपुत्र ! श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन उत्पन्न-ज्ञानदर्शनधरो यावन्महितपूजितो यावत्तथ्यकर्म-सम्पदा-सम्प्रयुक्त·, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन ।" "आगत खलु, देवानुप्रिय ! इह महागोपः ?" "कः खलु, देवानुप्रिय ! इह महा-गोप· ?" "श्रमणो भगवान् महावीरो महागोपः !" "तत्केनार्थेन देवानुप्रिय ! यावन्महागोप ?" "एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीरः ससाराटव्यां बहून् जीवान् नश्यतो विनश्यतः खाद्यमानान् भिद्यमानान् लुप्यमानान् विलुप्यमानान् धर्ममयेन दण्डेन संरक्षन् संगोपयन् निर्वाण-महावाट स्वहस्तेन संप्रापयति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महागोप ।" "आगतः खलु देवानु-प्रिय ! इह महासार्थवाह ?" "क खलु देवानुप्रिय ! महासार्थवाह· ?" "सद्दाल-पुत्र ! श्रमणो भगवान् महावीरो महासार्थवाह ।" "तत्केनार्थेन ?" "एव खलु देवानु-प्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीरः ससाराटव्यं बहून् जीवान् नश्यतो विनश्यतो यावद् विलुप्यमानान् धर्ममयेन पथा सरक्षन् निर्वाणमहापत्तनाभिमुखान् स्वहस्तेन सम्प्रापयति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महासार्थवाह ।" "आगतः खलु देवानुप्रिय । इह महाधर्मकथी ?" "क खलु देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी ?" "श्रमणो भगवान् महावीरो महाधर्मकथी ।" "तत्केनार्थेन श्रमणो भगवान् महावीरो महाधर्मकथी ?" "एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीरो महातिमहालये संसारे बहून् जीवान् नश्यतो विनश्यत खाद्यमानान् छिद्यमानान् भिद्यमानान् लुप्यमानान् विलुप्यमानान् उन्मार्गप्रतिपन्नान् सत्पथविप्रनष्टान् मिथ्यात्वबलाभिभूतानष्टविधकर्म-तम पटलप्रत्यवच्छन्नान् बहुभिरर्थेश्च यावद् व्याकरणैश्च चातुरन्तात्ससारकान्तारात् स्वहस्तेन निस्तारयति, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महाधर्मकथी। "आगत खलु देवानुप्रिय ! इह महानिर्यामिक ?" "क खलु, देवानु-प्रिय ! "महानिर्यामक ?" "श्रमणो भगवान् महावीरो महानिर्यामक ।" "तत्के-नार्थेन ?" एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीर ससारमहासमुद्रे बहून् जीवान् नश्यतो विनश्यतो यावद् विलुप्यमानान् ब्रुडतो निब्रुडत उत्प्लवमानान् धर्ममय्या नावा निर्वाणतीराभिमुखे स्वहस्तेन सम्प्रापयति, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महानिर्यामकः ।"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से गोसाले मंखलिपुत्ते**—वह मंखलिपुत्र गोशालक **सद्दालपुत्तं समणोवासयं**—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**समणे भगवं महावीरे महामाहणे**—श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं, **से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया! एवं वुच्चइ**—हे देवानुप्रिय! यह किस लिए कहा जाता है कि **समणे भगवं महावीरे महामाहणे**—श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं?

गोशालक ने कहा—**एवं खलु सद्दालपुत्ता!**—हे सद्दालपुत्र! **समणे भगवं महावीरे महामाहणे**—श्रमण भगवान महावीर ही महामाहन हैं, **उप्पन्न णाणदंसणधरे**—अप्रतिहत केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धारण करने वाले **जाव**—यावत् **महिय पूइए**—महित तथा पूजित **जाव**—यावत् **तच्च कम्म संपया संपउत्ते**—सत्फल प्रदान करने वाली कर्तव्यरूपी सम्पत्ति से युक्त हैं, **से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया! एवं वुच्चइ**—हे देवानुप्रिय! इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि **समणे भगवं महावीरे महामाहणे**—श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं।

आगए णं देवाणुप्पिया इहं महागोवे? हे देवानुप्रिय! क्या यहाँ महागोप—[गायों अर्थात् प्राणियों के रक्षकों में सब से बड़े] आए थे? **के णं देवाणुप्पिया! महागोवे?**—हे देवानुप्रिय! महागोप कौन हैं? **समणे भगवं महावीरे महागोवे**—(गोशालक ने कहा)—श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।

से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया! जाव महागोवे—(सद्दालपुत्र ने पूछा)—हे देवानुप्रिय! किस कारण से यावत् श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं? **एवं खलु देवाणुप्पिया!** हे देवानुप्रिय! यह इस अभिप्राय से है **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर **संसाराडवीए**—संसार अटवी में **बहवे जीवे**—बहुत से जीव **नस्समाणे**—जो नष्ट हो रहे हैं **विणस्समाणे**—विनष्ट हो रहे हैं, **खज्जमाणे**—खाए जा रहे हैं, **छिज्जमाणे**—छेदन किए जा रहे हैं, **भिज्जमाणे**—भेदन किए जा रहे हैं, **लुप्पमाणे**—विकलाङ्ग किए जा रहे हैं **विलुप्पमाणे**—और घायल किए जा रहे हैं, उन सबकी **धम्ममएणं दण्डेणं**—धर्म रूपी दण्ड द्वारा **सारक्खमाणे**—रक्षा करते हैं, **संगोवेमाणे**—गोपन करते हैं, **निव्वाणमहावाडं**—निर्वाण रूपी विशाल वाड़े में **साहत्थि संपावेइ**—अपने हाथ से पहुँचाते हैं, **से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता! एवं वुच्चइ**—हे सद्दालपुत्र! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि **समणे भगवं महावीरे महागोवे**—श्रमण भगवान् महावीर महागोप हैं। **आगए णं देवाणुप्पिया! इहं महासत्थवाहे?**—हे देवानुप्रिय! क्या महासार्थवाह यहाँ आए थे।

के ण देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ? हे देवानुप्रिय ! महासार्थवाह कौन हैं ? सद्दालपुत्र ने पूछा। **सद्दालपुत्ता ! समणे भगव महावीरे महासत्थवाहे**—हे सद्दालपुत्र ! श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं, **से केणट्ठेण०?** **एवं खलु देवाणुप्पिया !** हे देवानुप्रिय ! यह किस कारण से कहा जाता है ? (गोशालक ने उत्तर दिया)—**समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर **संसाराडवीए**—ससार अटवी मे **वहवे जीवे**—वहुत से जीव **नस्समाणे**—जो कि नष्ट हो रहे हैं **विणस्समाणे**—विनष्ट हो रहे हैं **जाव**—यावत् **विलुप्पमाणे**—घायल किए जा रहे हैं, (उन सव को) **धम्ममएणं पथेण सारक्खमाणे**—धर्मरूपी मार्ग द्वारा रक्षा करते हैं **निव्वाणमहापट्टणाभिमुहे**—निर्वाण—मोक्षरूपी महानगर की ओर उन्मुख करते है **साहत्थि संपावेइ**—अपने हाथ से उन्हे वहाँ पहुँचाते हैं, **से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ**—हे सद्दालपुत्र ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि **समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे**—श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं।

आगए ण देवाणुप्पिया ! इह महाधम्मकही—हे देवानुप्रिय ! क्या यहा महाधर्मकथी आए थे ? **के ण देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?**—हे देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी कौन हैं ? **समणे भगव महावीरे महाधम्मकही**—श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं, **से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही ?** किस कारण से श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं ? **एवं खलु देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर **महइमहालयंसि संसारंसि**—इस अत्यन्त विशाल ससार से **वहवे जीवे**—वहुत से जीव **जाव**—यावत् **नस्समाणे**—जो नष्ट हो रहे हैं **विणस्समाणे**—विनष्ट हो रहे हैं **खज्जमाणे ४**—खाए जा रहे है ४ **उम्मग्गपडिवन्ने**—उन्मार्ग पर चल रहे हैं, **सप्पहविप्पणट्ठे**—सन्मार्ग से दूर हो रहे हैं **मिच्छत्तवलाभिभूए**—मिथ्यात्व मे फँस रहे हैं **अट्ठविह-कम्म तम-पडल-पडोच्छन्ने**—अष्टविध कर्मरूपी अन्धकार पटल से घिरे हुए हैं (उन्हे) **वहूहिं अट्ठेहि य**—अनेक प्रकार की वातो **जाव**—यावत् **वागरणेहि य**—व्याख्याओ द्वारा **चाउरंताओ संसारकंताराओ**—चार गतिरूप ससाररूपी आरण्य से **साहत्थि नित्थारेइ**—आपने हाथ से पार करते है, **से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ**—हे देवानुप्रिय ! यह इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि **समणे भगव महावीरे महाधम्मकही**—श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी हैं।

आगए ण, देवाणुप्पिया ! इहं महा-निज्जामए ?—हे देवानुप्रिय ! क्या यहाँ पर महानिर्यामक (महाकर्णधार) आए थे ? **के ण देवाणुप्पिया ! महानिज्जामए**—हे देवानुप्रिय ! महानिर्यामक-महाकर्णधार कौन हैं ? **समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए**—श्रमण भगवान् महावीर महाकर्णधार हैं **से केणट्ठेणं ?** यह किस अभिप्राय से कहते हो (कि श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं) **एवं खलु देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिय ! यह बात इस अभिप्राय से कही जाती है **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर **संसारमहासमुद्दे**—ससाररूपी महान् समुद्र मे **बहवे जीवे**—बहुत से जीवो को **नस्समाणे**—जो नष्ट हो रहे हैं **विणस्समाणे**—विनष्ट हो रहे हैं **जाव विलुप्पमाणे**—यावत् जो घायल किए जा रहे हैं, **बुड्डमाणे**—डूब रहे है **निवुड्डमाणे**—गोते खा रहे हैं **उप्पियमाणे**—तथा वह रहे हैं, **धम्ममईए नावाए**—धर्मरूपी नाव के द्वारा **निव्वाणतीराभिमुहे**—निर्वाणरूपी किनारे पर **साहत्थि सपावेइ**—अपने हाथ से पहुँचाते हैं, **से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ**—हे देवानुप्रिय ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि **समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए**—श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक-महाकर्णधार हैं।

भावार्थ—मखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सद्दालपुत्र से कहा—कि श्रमण भगवान् महावीर महामाहन है।"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! किस अभिप्राय से श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं ?"

गोशालक—"क्योकि भगवान महावीर अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक है। महित, पूजित यावत् तथ्य अर्थात् सफल कर्मसम्पदा के स्वामी हैं। इसी लिए मैं कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं।"

गोशालक—"क्या यहाँ महागोप आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! महागोप कौन हैं ?

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।

सद्दालपुत्र—तुम यह किस अभिप्राय से कहते हो ? कि श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं ?"

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर ससार अटवी मे नष्ट होते हुए, भटकते हुए, विविध कष्टो से पीडित होते हुए, विनष्ट होते हुए, छिन्न-भिन्न, क्षत एव विक्षत किए जाते हुए, प्राणियो को धर्मरूपी दण्ड लेकर रक्षा करते हैं, बचाते हैं और अपने हाथ से निर्वाणरूपी विशाल बाडे मे पहुँचाते हैं। इसी लिए कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।"

गोशालक—"सद्दालपुत्र ! क्या यहाँ महासार्थवाह आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! महासार्थवाह कौन है ?"

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं ?"

सद्दालपुत्र—"आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं ?"

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर ससार अटवी मे भटकते हुए विविध प्रकार के कष्टो से पीडित क्षत-विक्षत छिन्न-भिन्न प्राणियो को धर्मरूपी मार्ग पर पहुँचाते हैं और निर्वाणरूपी नगर की ओर ले जाते हैं। इसी अभिप्राय से मैं कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं।"

गोशालक—"क्या यहा महाधर्मकथी आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी कौन हैं ?"

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं।"

सद्दालपुत्र—"आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं ?"

गोशालक—"हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान महावीर इस विशाल ससार मे भटकते हुए, पथभ्रष्ट, कुमार्गगामी, सन्मार्ग से भ्रष्ट, मिथ्यात्व मे फँसे हुए तथा आठ प्रकार के कर्मरूपी अन्धकार से घिरे हुए प्राणियो को अनेक प्रकार की युक्तियो, उपदेशो यावत् व्याख्याओ द्वारा भयकर अटवी के पार पहुँचाते हैं। इसी अभिप्राय से श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी कहे जाते हैं।"

गोशालक—"क्या यहाँ (तुम्हारे पास) महानिर्यामक आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"महानिर्यामक कौन हैं ?

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं।"

सद्दालपुत्र—आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं ?"

गोशालक—"हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान महावीर ससाररूपी महासमुद्र मे नष्ट होते हुए, विनष्ट होते हुए, डूबते हुए, गोते खाते हुए और बहते हुए बहुत से जीवो को धर्मरूपी नौका द्वारा निर्वाणरूपी तट पर ले जाते हैं। इस लिए श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक अथवा महाकर्णधार कहे जाते हैं।"

टीका—प्रस्तुत पाठ मे गोशालक द्वारा की गई भगवान् महावीर की प्रशसा का वर्णन है उसने पाँच विशेषण दिये हैं। और प्रत्येक विशेषण की व्याख्या करते हुए उसे महावीर के साथ घटाया है। वे विशेषण हैं—महामाहन, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथी और महानिर्यामक। प्रत्येक की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार है—

१. महामाहन—इसकी विस्तृत व्याख्या पहले आ चुकी है। इसी अध्ययन के प्रारम्भ मे देव ने सद्दालपुत्र को महामाहन का वर्णन करते हुए कहा था कि वे उत्पन्न ज्ञान और दर्शन के धारक हैं। यहाँ उत्पन्न शब्द का अर्थ अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन है। क्योकि साधारण ज्ञान और दर्शन प्रत्येक प्राणी मे सदा रहते हैं। जैन दर्शन मे ज्ञान के पाँच भेद है—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल। इनमे से मति, श्रुत, ज्ञान या अज्ञान रूप से प्रत्येक प्राणी मे होते हैं। किन्तु अन्तिम तीन विशेष शुद्धि द्वारा किसी-किसी को ही होते हैं। अन्तिम केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। यहाँ उसी से अभिप्राय है। इसी प्रकार दर्शन के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। यहाँ केवल दर्शन से अभिप्राय है। देव ने कहा था—वे अतीत, वर्तमान और अनागत के ज्ञाता हैं। अरिहन्त, जिन है, केवली हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, त्रिलोक द्वारा वन्दित, पूजित तथा सेवित हैं। देव, मनुष्य तथा असुरो के वन्दनीय, अर्चनीय, पूजनीय, सम्माननीय कल्याण तथा मगल रूप हैं। देवता स्वरूप हैं। उनके उपासनीय हैं। तथ्य अर्थात् सफल चारित्र सम्पत्ति के स्वामी हैं।

इन शब्दो की व्याख्या पिछली टीका मे दी जा चुकी है। यहाँ भी गोशालक ने महामाहन शब्द की व्याख्या करते हुए इन्ही बातो की ओर सकेत किया है।

महामाहन का दूसरा अर्थ है—मा हन (मत मारो) इस प्रकार का उपदेश देने वाले निर्ग्रन्थो के अग्रणी।

तीसरा अर्थ है श्रेष्ठ ब्राह्मण। जैन-शास्त्रो मे ब्राह्मण का अर्थ है वह व्यक्ति जो ब्रह्मचर्य का धारक है। स्थूल रूप से ब्रह्मचर्य का अर्थ है काम-भोग एव वासनाओ से विरक्ति। यह इसका निषेधात्मक अर्थ है। विध्यात्मक अर्थ है 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा मे विचरण।

जैन धर्म मे दोनो अर्थ लिए गये हैं, और उन्ही के आधार पर 'ब्राह्मण' या 'माहन शब्द की व्यख्या की गई है। **'बभचेरेण बम्हणो'** देखिये उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २५।

२. महागोप—दूसरे विशेषण के रूप मे भगवान् महावीर को महागोप कहा है। इसका अर्थ है ग्वाला या रक्षक। ससार के प्राणी अनेक कष्टो से पीडित हैं। वलवान् प्राणी दुर्वल को सता रहा है, सिंह आदि माँसाहारी अन्य प्राणियो को खा जाते हैं। कोई मारा जा रहा है, कोई बाँधा जा रहा है, कोई काटा जा रहा है, कोई छेदा जा रहा है। चारो ओर त्राहि २ मची हुई है। भगवान् महावीर हाथ मे धर्म रूपी दण्ड लेकर प्राणियो को बुरे कर्मो से रोकते हैं और जिस प्रकार ग्वाला अपने दण्डे से पशुओ को हाकता हुआ वाडे मे पहुँचा देता है। इसी प्रकार भगवान् महावीर भी अपने सम्पर्क मे आए हुए भव्य प्राणियो को मोक्ष रूपी वाडे मे पहुँचाते हैं इस लिए वे महागोप कहे जाते हैं।

३. महासार्थवाह तीसरा विशेषण है। सार्थ का अर्थ है 'काफिला' और 'सार्थवाह' का अर्थ काफिले का सचालन करने वाला उसका नेता। प्राचीन काल मे व्यापारी, यात्री तथा अन्य लोग इकट्ठे होकर यात्रा किया करते थे। क्योकि उन्हे घने जगल पार करने पडते थे और वहाँ चोर, डाकू, हिंसक जीव तथा अन्य सकटो का सामना करना पडता था। अत वे इकट्ठे होकर पूरी तैयारी के साथ चलते थे। उसका सचालन तथा सारी व्यवस्था किसी एक व्यक्ति के हाथ मे रहती थी। उसी को सार्थवाह कहा जाता था। धार्मिक साहित्य मे ससार को विशाल

अटवी की उपमा दी जाती है। उसमे अनेक यात्री रास्ता भूल जाते हैं। चोर उन्हे लूट लेते हैं, डाकू मार डालते है, हिसक प्राणी खा जाते हैं। सार्थवाह उन सव की रक्षा करता हुआ उन्हे पार ले जाता है और नगर तक पहुँचा देता है। भगवान् महावीर को भी इसी प्रकार मोक्ष रूपी नगर तक पहुँचाने वाला सार्थवाह वताया गया है।

४. **महाधर्म-कथी**—चौथा विशेपण है। इसका अर्थ है धर्मोपदेशक। भगवान् महावीर महान् धर्मोपदेशक थे। धर्मोपदेशक का कार्य है पथ भ्रष्टो को सत्पथ दिखाना। जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार मे पडे हुए हैं उन्हे प्रकाश देना तथा जीवन के उलझे हुए मार्ग को सुलझाना। भगवान् महावीर विविध प्रकार के दृष्टान्त-कथाओ, व्याख्याओ तथा प्रश्नोत्तरो द्वारा सवको धर्म का रहस्य समझाया करते थे। इसलिए उन्हे महाधर्म-कथी कहा गया है।

५. **महानिर्यामक**—पाँचवा विशेपण है। इसका अर्थ है महाकर्णधार। ससार एक समुद्र के समान है, जहा अनेक प्राणी डूव रहे हैं, भवर मे फसे हुए हैं। भगवान् महावीर उन्हे धर्म रूपी नौका द्वारा पार उतारते हैं। अतः वे महा-कर्णधार हैं।

उपरोक्त पाच विशेपणो मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो को उपस्थित किया गया है। महामाहन विशेपण मे उनकी ज्ञान एव चारित्र सम्पत्ति का वर्णन है। वहा वे सर्वोच्च आदर्श के रूप में उपस्थित होते हैं। महागोप विशेपण मे वे रक्षक के रूप मे सामने आते हैं। अज्ञानी जीव पशुओ के समान हैं। उन्हे धर्म रूपी दण्ड द्वारा इधर-उधर भटकने से रोकने वाला तथा उन्हे अपने इष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला महागोप है। यहा धर्म को दण्ड की उपमा दी गई है। दण्ड कठोरता या हिंसा का सूचक होता है। किन्तु साधक को दूसरो के प्रति मृदु किन्तु अपने प्रति सदा कठोर रहना चाहिए। इसी का नाम अनुशासन है और अनुशासन के विना जीवन का विकास नही हो सकता। तीसरे विशेपण मे ससार को अटवी वताया गया है और जीव को उसमे भटकने वाला पथिक। मोक्ष को वह नगर जहा पहुँचाना है। और महावीर को वहाँ पहुँचाने वाला सार्थवाह। यहाँ वे नेता या निर्यामक के रूप मे सामने आते हैं।

चौथे विशेपण मे उन्हे धर्म-कथी कहा गया है। अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रूपी अन्धकार मे फसे हुए हैं। सन्मार्ग छोड कर कुमार्ग को पकडे हुए हैं। धर्मोपदेशक

अन्धकार को दूर करके सन्मार्ग को आलोकित करता है। यहा वे पथप्रदर्शक के रूप मे सामने आते हैं। पाचवे विशेषण मे निर्यामक अर्थात् कर्णधार से उपमा दी गई है। ससार समुद्र है, प्राणी उसमे गोते खा रहे हैं, भगवान् धर्म रूपी नौका के द्वारा उन्हे पार उतारते हें। यहा उनका समुद्धारक रूप सामने आता है।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलि-पुत्तं एवं वयासी—"तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! इय-च्छेया जाव इय-निउणा, इय-नय-वादी, इय-उवएसलद्धा, इय-विण्णाण-पत्ता, पभू णं तुब्भे मम धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं भगवया महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए ?"

"नोतिणट्ठे समट्ठे" !

"से केणट्ठे णं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ-नो खलु पभू तुब्भे ममं धम्मायरिएणं जाव महावीरेणं सद्धिं विवाद करेत्तए ?"

"सद्दालपुत्ता ! से जहा नामए केइ पुरिसे तरुणे जुगवं जाव निउण-सिप्पोवगए एगं महं अयं वा, एलयं वा, सूयरं वा, कुक्कुडं वा, तित्तिरं वा, वट्टयं वा, लावयं वा, कवोयं वा, कविजलं वा, वायसं वा, सेणयं वा हत्थंसि वा, पायंसि वा, खुरसि वा, पुच्छंसि वा, पिच्छंसि वा, सिंगंसि वा, विसाणसि वा, रोमंसि वा, जहिं-जहिं गिण्हइ, तहिं-तहिं निच्चलं निप्फंदं धरेइ। एवामेव समणे भगवं महावीरे ममं बहूहि अट्ठेहि य हेऊहि य जाव वागरणेहि य जहिं-जहिं गिण्हइ, तहिं-तहिं निप्पट्ठ पसिण-वागरण करेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ नो खलु पभू अहं तव धम्मायरिएणं जाव महावीरेणं सद्धिं विवाद करेत्तए" ॥ २१५ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासको गोशाल मङ्खलिपुत्रमेवमवादीत्—"यूय खलु देवानुप्रिय ! इयच्छेका, यावद् इयन्निपुणा, इयन्नयवादिन, इयदुपदेशलब्धा, इयद्विज्ञानप्राप्ता। प्रभव खलु यूय मम धर्माचार्येण धर्मोपदेशकेन भगवता महावीरेण सार्द्ध विवादं कर्तुम् ?" "नायमर्थ समर्थ।" "तत्केनार्थेन

देवानुप्रियाः ! एवमुच्यते—नो प्रभवो यूयं मम धर्माचार्येण यावन्महावीरेण सार्द्ध विवादं कर्तुम् ?" "सद्दालपुत्र ! तद्यथानामक कोऽपि पुरुषस्तरुण, बलवान्, युगवान् यावन्निपुणशिल्पोपगत एकं महान्तमजं वा, एडकं वा, शूकर वा, कुक्कुट वा, तित्तिरं वा, वर्त्तक वा, लावकं वा, कपोत वा, कपिञ्जलं वा, वायसं वा, श्येनक वा, हस्ते वा, पादे वा, खुरे वा, पुच्छे वा, पिच्छे वा, शृङ्गे वा, विषाणे वा, रोम्णि वा, यत्र-यत्र गृह्णाति तत्र-तत्र निश्चल नि.स्पन्दं धरति। एवामेव श्रमणो भगवान् महावीरो मम बहुभिरर्थैश्च, हेतुभिश्च यावद् व्याकरणैश्च यत्र-यत्र गृह्णाति तत्र-तत्र निस्पष्ट-प्रश्नव्याकरणं करोति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते नो खलु प्रभुरहं तव धर्माचार्येण यावन्महावीरेण सार्द्ध विवाद कर्तुम्।"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते समणोवासए**—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र **गोसालं मंखलिपुत्त**—मखलिपुत्र गोशाल को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**तुब्भे ण देवाणुप्पिया** !—हे देवानुप्रिय ! तुम **इयच्छेया**—ऐसे विदग्ध अवसर के जानकार हो **जाव**—यावत् **इय-निउणा**—ऐसे निपुण हो **इय-नयवादी**—इस प्रकार के नीतिज्ञ हो **इय उवएसलद्धा**—उपदेश अर्थात् शिक्षा ग्रहण किये हुए हो **इय-विण्णाणपत्ता**—इस प्रकार विज्ञान को प्राप्त हो **पभू णं तुब्भे**—क्या तुम समर्थ हो ? **मम धम्मायरिएण**—मेरे धर्माचार्य **धम्मोवएसएण**—धर्मोपदेशक **भगवया महावीरेणं सद्धि**—भगवान् महावीर के साथ **विवादं करेत्तए** ?—विवाद करने मे ? **नो तिणट्ठे समट्ठे**—गोशालक ने कहा—नही यह सभव नही है, **से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया** ! **एव वुच्चइ**—हे देवानुप्रिय ! यह किस कारण से कहते हो **नो खलु पभू तुब्भे**—कि तुम समर्थ नही हो **मम धम्मायरिएण जाव महावीरेण सद्धि**—मेरे धर्माचार्य यावत् श्रमण भगवान् महावीर के साथ **विवाद करेत्तए**—विवाद करने मे **सद्दालपुत्ता** !—हे सद्दालपुत्र ! **से जहानामए केइ पुरिसे**—जैसे अज्ञात नाम वाला कोई पुरुप **तरुणो**—जवान **बलवं**—बलवान् **जुगवं**—युग वाला अर्थात् युगपुरुप **जाव**—यावत् **युवा**—निरोग तथा दृढ कलाई, हाथ-पैर, पसवाडे, पीठ तथा जघाओ वाला हो, **निउण सिप्पोवगए**—निपुण और कला कौशल का जानकार यदि **एग मह अयं वा**—एक महान् काय वाले बकरे को **एलयं वा**—अथवा मेढे को **सूयरं वा**—अथवा सूअर को **कुक्कुड वा**—अथवा मुर्गे को **तित्तिर वा**—अथवा तीतर को

वट्टय वा—अथवा बटेर को **लावय वा**—अथवा लावक पक्षी (चिडिया) को **कवोय वा**—अथवा कबूतर को **कविंजल वा**—कपिजल को **वायस वा**—अथवा कौए को **सेणय वा**—अथवा बाज को **हत्थंसि वा**—हाथ अथवा **पायसि वा**—पैर को **खुरसि वा पुच्छंसि वा**—खुर अथवा पूछ को **पिच्छंसि वा**—पख **सिगसि वा**—सीग अथवा **विसाणसि वा**—विषाण **रोमसि वा**—अथवा रोमो को **जहिं जहिं गिण्हइ**—जहाँ २ से भी पकडता है **तहिं तहिं निच्चलं निप्फंद धरेइ**—उसे वही वही निश्चल और नि स्पन्द कर देता है। अर्थात् उसे तनिक भी इधर उधर हिलने नही देता, **एवामेव**—इसी तरह **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर **ममं**—मुझको **बहूहिं अट्ठेहिं य**—बहुत से अर्थो **हेऊहिं य**—हेतुओ **जाव**—यावत् **वागरणेहि य**—व्याकरण—प्रश्नोत्तरो द्वारा **जहिं जहिं गिण्हइ**—जहाँ २ निगृहीत करते हैं अर्थात् पकडते हैं **तहिं तहिं**—वही मुझे **निप्पट्ठपसिण वागरणं करेइ**—निरुत्तर कर देते है, **से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता !**—इसलिए हे सद्दालपुत्र ! **एवं वुच्चइ**—मै कहता हूँ कि **नो खलु पभू अहं**—मैं समर्थ नही हूँ **तव धम्मायरिएणं**—तुम्हारे धर्माचार्य **जाव**—यावत् **महावीरेण सद्धि विवादं करेत्तए**—भगवान् महावीर के साथ विवाद करने मे।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक से कहा—"हे देवानुप्रिय ! तुम इस प्रकार विदग्ध, अवसर ज्ञाता, निपुण, नीतिज्ञ तथा सुशिक्षित हो। क्या तुम मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर के साथ शास्त्रार्थ कर सकते हो ?" गोशालक ने कहा—"नही" "मैं नही कर सकता।" सद्दालपुत्र ने फिर पूछा—"हे देवानुप्रिय ! "क्यो ?"

"सद्दालपुत्र ! जैसे कोई तरुण, बलवान्, भाग्यशाली, युवा, नीरोग तथा दृढ कलाई, हाथ-पैर, पसवाडे, पीठ के मध्य भाग, जघाओ वाला, कला-कौशल का जानकार पुरुष किसी बकरे, मेढे, सुअर, कपिजल, काक और बाज को हाथ, पैर, खुर, पूछ पख, सीग, दान्त, रोमादि जहाँ जहाँ से भी पकडता है वही से निश्चल और नि स्पन्द-दबा देता है और उसे जरा भी हिलने नही देता। इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर अनेक अर्थो, हेतुओ यावत् व्याकरणो एव प्रश्नोत्तरो द्वारा जहाँ कही से भी मुझे पकडते है, वही २ मुझे निरुत्तर कर देते हैं। हे सद्दालपुत्र ! इस लिये मै कहता हूँ कि तुम्हारे धर्माचार्य भगवान् महावीर के साथ मै शास्त्रार्थ करने मे समर्थ नही हूँ।"

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्त एवं वयासी—"जम्हा णं, देवाणुप्पिया ! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स संतेहिं, तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेह, तम्हा णं अहं तुब्भे पाडिहारिएणं पीढ जाव संथारएणं उवनिमंतेमि ।" नो चेव णं धम्मोत्ति वा, तवोत्ति वा, तं गच्छह णं तुब्भे मम कुम्भारावणेसु पाडिहारियं पीढ-फलग जाव ओगिण्हित्ताणं विहरह" ॥ २१६ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासको गोशालं मङ्खलिपुत्रमेवमवादीत्—"यस्मात्खलु देवानुप्रियाः ! यूय मम धर्माचार्यस्य यावन्महावीरस्य सद्भिस्तत्त्वैस्तथ्यैः सद्भूतैर्भावैर्गुणकीर्तन कुरुथ, तस्मात् खलु अह युष्मान् प्रातिहारीकेण पीठ यावत्संस्तारकेणोपनिमन्त्रयामि ।" नो चैव धर्म इति वा, तप इति वा, तद्गच्छत खलु यूयं मम कुम्भकारापणेषु प्रातिहारिकं पीठफलक यावद् अवगृह्य विहरत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र गोसालं मखलिपुत्तं—गोशाल मङ्खलिपुत्र को एव वयासी—इस प्रकार बोला—जम्हा ण देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! चूंकि तुब्भे—तुम ने मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स—मेरे धर्माचार्य यावत् श्रमण भगवान् महावीर का सतेहिं—सद्रूप सत्य तच्चेहि—तत्त्वरूप तहिएहि—तथ्यरूप सब्भूएहि भावेहिं—सद्भूत भावो द्वारा गुणकित्तण करेह—गुण कीर्तन किया है, तम्हा ण अह तुब्भे—इसलिए मैं तुम्हे पाडिहारिएणं—प्रातिहारिक पीढ जाव सथारएणं उवनिमतेमि—पीठ यावत् फलक, शय्या सस्तारक आदि के लिए उपनिमन्त्रणा करता हूँ, नो चेव ण धम्मोत्ति वा तवोत्ति वा—इसे धर्म या तप समझ कर नही त गच्छह णं तुब्भे—इसलिए आप जाओ और मम कुम्भारावणेसु—मेरी वर्तनो की दुकानो से पाडिहारियं पीढ फलग—प्रातिहारिक के रूप मे अर्थात् वापिस लौटाने की शर्त पर पीठ-फलक जाव—यावत् शय्या-सस्तारक आदि ओगिण्हित्ताण विहरह—ग्रहण करके विचरे ।

भावार्थ—इस पर श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक से कहा—"देवानुप्रिय ! चूंकि तुमने मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर का सत्य, तथ्य

तथा सद्भूत गुण कीर्तन किया है इसलिए मै तुम्हे प्रातिहारिक, पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए उपनिमन्त्रणा करता हूँ यद्यपि मै इसमे धर्म और तप नही मानता। तो आप जाएँ और मेरी वर्तनो की दुकानो से पीठ, फलक, शय्या सस्तारक आदि ग्रहण करके विचरे।"

मूलम्—**तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता कुम्भारावणेसु पाडिहारियं पीढ जाव ओगिण्हित्ताणं विहरइ ॥ २१७ ॥**

छाया—ततः खलु स गोशालो मङ्खलिपुत्रः सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्यैतमर्थं प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य कुम्भकारापणेषु प्रातिहारिक पीठ यावद् अवगृह्य विहरति।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से गोसाले मंखलिपुत्ते**—उस मखलिपुत्र गोशाल ने **सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स**—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र की **एयमट्ठ पडिसुणेइ**—इस वात को स्वीकार किया, **पडिसुणेत्ता**—स्वीकार करके **कुम्भारावणेसु**—बर्तनो की दुकानो से **पाडिहारियं पीढ जाव** प्रातिहारिक के रूप मे पीठ यावत् फलक, शय्या, सस्तारकादि **ओगिण्हित्ताणं विहरइ**—ग्रहण कर के विचरने लगा।

भावार्थ—मखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सद्दालपुत्र की इस बात को स्वीकार किया और उसकी वर्तनो की दुकानो से प्रातिहारिक रूप मे पीठ आदि ग्रहण करके विचरने लगा।

मूलम्—**तए णं से गोसाले मंखलि-पुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ बहूहि आघवणाहि य पण्णवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे संते तंते परितंते पोलासपुराओ नयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ ॥ २१८ ॥**

छाया—तत खलु स गोशालो मंखलिपुत्र. सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकं यदा नो शक्नोति बहुभिराख्यापनाभिश्च प्रज्ञापनाभिश्च सञ्ज्ञापनाभिश्च नैर्ग्रन्थ्यात् प्रवचना-

च्चालयितुं वा, क्षोभयितुं वा, विपरिणमयितु वा, तदा श्रान्तस्तान्तः परितान्तः पोलासपुरान्नगरात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य वहिर्जनपदविहारं विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से गोसाले मंखलिपुत्ते—वह मखलिपुत्र गोशालक वहूहिं आघवणाहिं य—अनेक प्रकार की आख्यापनाओ (सामान्य कथनो) पण्णवणाहि य—प्रज्ञापनाओ (विविध प्ररूपणाओ) सण्णवणाहि य—संज्ञापनाओ (प्रतिवोधो) विण्णवणाहि य—और विज्ञापनाओ (अनुनय वचनो के द्वारा) सद्दालपुत्त समणोवासयं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को निग्गंथाओ पावयणाओ—निर्ग्रन्थ प्रवचन से चालित्तए वा—विचलित करने मे खोभित्तए वा—क्षुब्ध करने मे विपरिणामित्तए वा—विचार वदलने मे जाहे नो संचाएइ—जव समर्थ न हो सका ताहे सते—तव श्रान्त तते—खिन्न परितंते—अत्यन्त दुखी होकर पोलासपुराओ नगराओ पडिणिक्खमइ—पोलासपुर नगर से वाहिर निकला पडिणिक्खमित्ता—निकलकर वहिया जणवय विहारं विहरइ—वाहिर के जनपदो मे विहार करने लगा।

भावार्थ—जव मखलिपुत्र गोशालक अनेक प्रकार की आख्यापनाओ, सामान्य कथनो से प्रज्ञापनाओ—प्रतिपादनो, सज्ञापनाओ—प्रतिवोधो तथा विज्ञापनाओ—अनुनय वचनो से—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित, क्षुब्ध और विरुद्ध न कर सका तव श्रान्त, खिन्न और अत्यन्त दुखी होकर पोलासपुर नगर से वाहिर चला गया और वाहिर के जनपदो मे विहार करने लगा।

टीका—किसी प्रकार की सासारिक अभिलाषा के विना यदि भगवान महावीर जैसे महापुरुषो का गुण कीर्तन किया जाए तो उससे सर्वोत्कृष्ट निर्जरा रूप फल की प्राप्ति होती है। गोशालक ने जो भगवान महावीर की स्तुति की थी वह अभिलाषा रहित न थी। इसलिए उसे मुख्य फल निर्जरा फल की प्राप्ति न होकर गौण फल अर्थात् प्रातिहारिक रूप मे पीठ फलक आदि प्राप्त हुए।

गोशालक ने सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ प्रवचन से स्खलित करने के लिए अनेक प्रकार के आख्यानो, प्रज्ञापनाओ विविध प्ररूपणाओ तथा अनुनयपूर्ण वचनो द्वारा भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल न हो सका। इसी अभिप्राय को सूचित करने के लिए सूत्रकार ने 'सते तते परितते' पद दिए हैं।

मूलम्——तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील० जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले जाव पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ २१९ ॥

छाया—तत· खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शीलव्रतानि यावद् भावयतश्चतुर्दश सवंतसराणि व्युत्क्रान्तानि, पञ्चदशं संवत्सरमन्तरावर्तमानस्य पूर्वरात्रापररात्रकाले यावत् पौषधशालायं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यऽऽन्तिकी धर्म-प्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स**—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के **बहूहिं सील० जाव भावेमाणस्स**—विविध प्रकार के शीलव्रत, नियम आदि के द्वारा आत्मा को भावित—सस्कारित करते हुए **चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता**—चौदह वर्ष व्यतीत हो गए **पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स**—जब पन्द्रहवाँ वर्ष चल रहा था **पुव्वरत्तावरत्तकाले**—मध्यरात्रि के समय **जाव**—यावत् **पोसहसालाए**—पौषधशाला मे **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर के **अंतियं धम्मपण्णत्ति**—समीप प्राप्त की हुई धर्मप्रज्ञप्ति को **उवसंपज्जित्ताणं विहरइ**—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को बहुत से शील यावत् व्रत नियम आदि के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। पन्द्रहवे वर्ष मे अर्धरात्रि के समय यावत् पौपधशाला मे श्रमण भगवान महावीर से प्राप्त की हुई धर्मप्रज्ञप्ति का आराधन करते हुए विचरने लगा।

मूलम्——तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ॥ २२० ॥

छाया—तत खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्रकाले एको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत्।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स अंतियं**—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के समीप **पुव्वरत्तावरत्त काले**—आधी रात्रि के समय **एगे देवे पाउब्भवित्था**—एक देव प्रकट हुआ।

भावार्थ—इसके बाद अर्धरात्रि में उस सद्दालपुत्र के पास एक देव प्रकट हुआ।

मूलम्—**तए ण से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—(जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्गं करेइ। नवरं एक्केक्के पुत्ते नव मंस-सोल्लए करेइ) जाव कनीयसं घाएइ, घाइत्ता जाव आयंचइ ॥ २२१ ॥**

छाया—**तत. खलु स देव एकं महान्तं नीलोत्पल यावद् असिं गृहीत्वा सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—यथा चुलनीपितुस्तथैव देव उपसर्ग करोति। नवरमेकैकस्मिन् पुत्रे नव मासशूल्यकानि करोति, यावत् कनीयासं घातयति, घातयित्वा यावदासिञ्चति।**

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **से देवे**—उस देव ने **एग महं नीलुप्पल**—नीले कमल के समान एक वडी **जाव**—यावत् चमकती हुई **असि गहाय**—तलवार लेकर **सद्दालपुत्तं समणोवासयं एव वयासी**—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को इस प्रकार कहा—**जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्गं करेइ**—चुलनीपिता श्रावक के समान देव ने उपसर्ग किये **नवरं**—विशेषता इतनी है कि **एक्के-क्के पुत्ते**—प्रत्येक पुत्र के **नव मस सोल्लए करेइ**—मास के नौ २ टुकडे किए **जाव कणीयसं घाएइ**—यावत् सबसे छोटे पुत्र को भी मार डाला **घाइत्ता जाव आयंचइ**—मार कर सद्दालपुत्र के शरीर पर मास और रुधिर के छींटे दिये।

भावार्थ—उस देव ने नील कमल के समान प्रभा वाली विशाल तलवार लेकर, चुलनीपिता के समान समस्त उपसर्ग किये। केवल इतना अन्तर है कि प्रत्येक पुत्र के नौ टुकडे किये। यावत सबसे छोटे लडके को मार डाला और सद्दालपुत्र के शरीर पर मास तथा रुधिर से छींटे दिये।

मूलम्——तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए अभीए जाव विहरइ ॥ २२२ ॥

छाया——ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकोऽभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ——तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दाल-पुत्र अभीए जाव विहरइ—भयरहित यावत् ध्यानस्थ रहा ।

भावार्थ——फिर भी श्रमणोपासक सद्दालपुत्र निर्भय यावत् समाधिस्थ रहा ।

मूलम्——तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता चउत्थंपि सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी——"हंभो सद्दालपुत्ता ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थया ! जाव न भंजसि तओ जा इमा अग्गि-मित्ता भारिया धम्म-सहाइया, धम्म-विइज्जिया धम्माणुराग-रत्ता सम-सुह-दुक्ख-सहाइया, तं ते साओ गिहाओ नोणेमी, नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाइत्ता नव मंस-सोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएणं य आयंचामि, 'जहा णं तुमं अट्ट, दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि" ॥ २२३ ॥

छाया——ततः खलु स देवः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमभीतं यावद् दृष्ट्वा चतुर्थमपि सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हंभो सद्दालपुत्र ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित-प्रार्थक ! यावन्न भनक्षि ततस्ते येयमग्निमित्रा भार्या धर्मसहायिका, धर्मवैद्या, धर्मानुरागरक्ता, समसुखदुःख सहायिका, ता ते स्वस्माद् गृहान्नयमि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा नव मासशूल्यकानि करोमि, कृत्वाऽऽदानभृते कण्टाहे आदहामि, आदह्य तव गात्र मासेन च शोणितेन चासिञ्चामि यथा खलु त्वामार्त्तो यावद् व्यपरोपयिष्यसे ।"

शब्दार्थ——तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने सद्दालपुत्तं समणोवासय—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को अभीय जाव पासित्ता—निर्भय यावत् समाधिस्थ देखकर

चउत्थंपि—चौथी वार भी **सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी**—श्रमणोपासक सद्दाल-पुत्र को इस प्रकार कहा—**हभो सद्दालपुत्ता ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थया !**—हे श्रमणोपासक ! सद्दालपुत्र ! मृत्यु को चाहने वाले ! **जाव न भंजसि**—यावत् तू शीलादि व्रतो को भङ्ग नही करेगा **तओ**—तो **ते जा इमा**—तेरी जो यह **अग्गिमित्ता भारिया**—अग्निमित्रा भार्या है और जो **धम्मसहाइया**—धर्म मे सहायता देने वाली, **धम्मविइज्जिया**—धर्म की वैद्य अर्थात् धर्म को सुरक्षित करने वाली, **धम्माणुरागरत्ता**—धर्म के अनुराग मे रगी हुई, **समसुहदुक्खसहाइया**—दु ख सुख मे समान रूप से सहायता करने वाली है **त**—उसको **ते साओ गिहाओ**—तेरे अपने घर से **नीणेमि**—लाऊँगा **नीणित्ता**—लाकर **तव अग्गओ घाएमि**—तेरे सामने मार डालूँगा **घाइत्ता**—मारकर **नव मससोल्लए करेमि**—मास के नौ टुकडे करूँगा **करेत्ता**—ऐसा करके **आदाण भरियसि कडाहयसि अद्दहेमि**—तेल से भरे हुए कडाहे मे तलूँगा, **अद्दहित्ता**—तलकर **तव गाय**—तेरे शरीर को **मसेण य सोणिएण य आयचामि**—मास और रुधिर से छीटे दूँगा, **जहा ण तुमं**—जिससे तू **अट्ट-दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि**—अति दुखार्त तथा विवश हो कर यावत् मर जाएगा।

भावार्थ—देव ने इस पर भी सद्दालपुत्र को निर्भय यावत् समाधिस्थ देखा तो चौथी वार वोला—अरे श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ! मृत्यु को चाहने वाले ! यदि तू शीलादि व्रतो को भङ्ग नही करेगा तो तेरी अग्निमित्रा भार्या को जो कि धर्म मे सहायता देने वाली, धर्म की वैद्य अर्थात् धर्म को सुरक्षित रखने वाली, धर्म के अनुराग मे रगी हुई, तथा दु ख सुख मे सहायक है, उसे तेरे घर से लाकर तेरे सामने मार कर नौ टुकडे करूँगा। उन्हे तेल से भरे कडाहे मे तलू गा। उसके तपे हुए खून एव मास से तेरे शरीर पर छीटे दू गा, जिससे तू चिन्तित दु खी तथा विवश हो कर असमय मे ही प्राणो से हाथ धो वैठेगा।

मूलम्—**तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए तेण देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ २२४ ॥**

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्त सन्नभीतो यावद् विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र तेणं देवेणं—उस देव द्वारा एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए जाव विहरइ—निर्भय यावत् समाधि मे स्थिर रहा।

भावार्थ—देव द्वारा इस प्रकार कहने पर भी सद्दालपुत्र समाधि मे स्थिर रहा।

मूलम्—तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—"हंभो सद्दालपुत्ता ! समणोवासया !" तं चेव भणइ ॥ २२५ ॥

छाया—तत. खलु स देव सद्दालपुत्र श्रमणोपासकं द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—हंभो. सद्दालपुत्र ! श्रमणोपासक ! तदेव भणति।

शब्दार्थ—तए णं तदनन्तर से देवे—उस देव ने साद्दलपुत्तं समणोवासय—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को दोच्चपि तच्चंपि एवं वयासी—दूसरी तीसरी वार इसी प्रकार कहा—हंभो सद्दालपुत्ता समणोवासया !—हे श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ! त चेव भणइ—वही बात दुहराई।

भावार्थ—देव ने सद्दालपुत्र को दूसरी तथा तीसरी वार भी यही कहा।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयं अज्झत्थिए समुप्पन्ने४ एवं जहा चुलणीपिया ! तहेव चिंतेइ। "जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं, जेणं ममं मज्झिमयं पुत्तं जेणं ममं कणीयसं पुत्तं जाव आयंचइ, जावि य णं ममं इमा अग्गिमित्ता भारिया समसुहदुक्ख-सहाइया, तंपि य इच्छइ, साओ गिहाओ नीणित्ता ममं अग्गओ घाएत्तए। तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति" कट्टु उद्धाइए। (जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्वं नवरं) अग्गिमित्ता भारिया कोलाहलं सुणित्ता भणइ। सेसं जहा चुलणीपियावत्तव्वया, नवरं अरुणभूए विमाणे उववन्ने जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवओ। ॥ २२६ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं सत्तमं सद्दालपुत्तमज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्यसतोऽयमाध्यात्मिकः ४ समुत्पन्न—"एवं यथा चुलनीपिता तथैव चिन्तयति, येन मम ज्येष्ठ पुत्रं, येन मम मध्यमकं पुत्रं, येन मम कनीयांसं पुत्रं, यावद् आसिञ्चति, यापि च खलु ममेयमग्निमित्रा भार्या समसुखदुःख सहायिका, तामपि चेच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम्, तत् श्रेयः खलु ममैतं पुरुषं ग्रहीतुमिति" कृत्वोत्थित, यथा चुलनीपिता तथैव सर्व भणितव्यम्, नवरमग्निमित्रा भार्या कोलाहलं श्रुत्वा भणति। शेषं यथा चुलनीपितृवक्तव्यता, नवरमरुणभूते विमाने उपपन्नो यावन्महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति।

शब्दार्थ—तए णं तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के मनमे तेण देवेण—उस देव द्वारा दोच्चंपि तच्चपि—दूसरी और तीसरी वार भी इस प्रकार कहे जाने पर अय अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—यह विचार उत्पन्न हुआ एवं जहा चुलणीपिया—जिस प्रकार चुलनीपिता ने सोचा था तहेव चिंतेइ—उसी तरह सोचने लगा जेण मम जेट्ठं पुत्तं—जिसने मेरे ज्येष्ठ पुत्र को जेण मम मज्झिमय पुत्तं—जिसने मेरे मझले पुत्र को जेणं मम कणीयसं पुत्त—जिसने मेरे कनिष्ठ पुत्र को मार डाला जाव आयंचइ—यावत् छींटे दिए जावि य णं ममं इमा—और जो यह मेरी अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भारिया समसुहदुक्ख सहाइया—मेरे सुख-दुःख मे सहायक है तंपि य—उसको भी साओ गिहाओ नीणेत्ता—घर से लाकर मम अग्गओ—मेरे आगे घाएत्तए इच्छइ—मारना चाहता है तं सेयं खलु ममं—अत मेरे लिए यही उचित है कि एयं पुरिसं गिण्हित्तए—इस पुरुष को पकड लूं त्ति कट्टु उद्धाइए—यह सोचकर उठा जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्व—शेप सव वाते चुलनीपिता के समान समझना नवरं—इतनी ही विशेपता है कि अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भार्या कोलाहल सुणित्ता भणइ—कोलाहल सुनकर वोलती है सेसं जहा चुलणीपिया वत्तव्वया—शेष वर्णन चुलनीपिता के समान है नवरं—विशेषता इतनी ही है कि अरुणभूए विमाणे उववन्ने—अरुणभूत विमान मे उत्पन्न हुआ जाव—यावत् महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप।

भावार्थ—जव उस अनार्य पुरुप ने दूसरी और तीसरी बार इसी प्रकार कहा तो सद्दालपुत्र के मन मे यह पुरुप अनार्य है इत्यादि सारी वाते आई। उसने सोचा

कि इस अनार्य ने मेरे ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ पुत्र को मार डाला है। उनके टुकडे कटुडे किए और मेरे शरीर को उनके रुधिर और मास मे छींटे दिए। अब मेरी पत्नी अग्निमित्रा को जो सुख-दु ख तथा धर्म-कार्यो मे सहायक है, घर से लाकर मेरे सामने मारना चाहता है। इस प्रकार सारा वृत्तान्त चुलनीपिता के समान समझना चाहिए। केवल इतना फर्क है कि कोलाहल सुनकर चुलनीपिता की माता आई थी और यहाँ पत्नी अग्निमित्रा आई। सद्दालपुत्र भी मरकर अरुणभूत विमान मे उत्पन्न हुवा और महाविदेह क्षेत्र मे सिद्धि प्राप्त करेगा।

टीका—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र पौषधशाला मे भगवान् महावीर द्वारा प्रज्ञापित धर्म की आराधना कर रहे थे। आधी रात के समय एक देव उनके समीप आया। उसके पास नील-कमल के समान चमचमाती तलवार थी। अत्यन्त क्रुद्ध होकर वह सद्दालपुत्र से बोला—यदि तू शीलादि व्रतो का परित्याग नही करता तो मैं तेरे पुत्रो को मार डालूँगा, इत्यादि कहकर चुलनीपिता के समान ही देव ने सद्दालपुत्र को नाना प्रकार के उपसर्ग किए। दैवी माया के कारण सद्दालपुत्र को ऐसा प्रतीत हुआ कि उसके तीनो पुत्र मार डाले गए हैं तथा उसके शरीर को रुधिर तथा मास से छींटे दिए जा रहे हैं। यह भीषण दृश्य देखकर और देवकृत नाना उपसर्गो-कष्टो को सह कर भी सद्दालपुत्र निर्भय बना रहा और अपनी समाधि से विचलित नही हुआ। यह देखकर देव ने चौथी बार कहा—"यदि तू अब भी शीलादि को भग नही करेगा तो मैं तेरी भार्या अग्निमित्रा जो कि धर्म मे तेरी सहायक है, धर्म-वैद्या है तथा धर्म के अनुराग मे रगी हुई है, घर से लाकर तेरे सामने मार डालूँगा। तेल से भरे कडाहे मे तल कर उसके मास और रुधिर से तेरे शरीर को छींटूँगा। जिससे तू अत्यन्त दु खी हो कर मर जायगा।" इस पर सद्दालपुत्र के मन मे विचार हुआ कि जिसने मेरे सब पुत्रो को मार डाला, और जो मेरी धर्म तथा सुख-दुख मे सहायक पत्नी को भी मार डालना चाहता है। ऐसे अनार्य पुरुष को पकड लेना चाहिए। यह विचार कर सद्दालपुत्र ज्यो ही देव को पकडने के लिए उठा, वह अदृश्य हो गया। अग्निमित्रा कोलाहल सुनकर आई और उसने सद्दालपुत्र से यथार्थ बात कही और बताया कि यह सब देव-माया थी। वास्तव में कुछ नही हुआ। तेरे सभी पुत्र आराम से सोए हुए हैं। इस माया के कारण तुम अपने व्रतो से विचलित हो गए हो।

अत तुम इसके लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि करो। सद्दालपुत्र ने आत्मशुद्धि की और क्रमश श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ अङ्गीकार की। अन्त मे सलेखना द्वारा शरीर त्याग कर के अरुणभूत नामक विमान मे उत्पन्न हुआ वहाँ आयुष्य पूरी करके महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और सिद्धि प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत वर्णन मे अग्निमित्रा भार्या के जो गुण वताए गए हैं वे महत्वपूर्ण हैं। जो इस प्रकार हैं—

१. **धम्म-सहाइया**—अग्निमित्रा धर्म-कार्यो मे सद्दालपुत्र की सहायता करती थी। उनमे वाधा नही डालती थी। इतना ही नही, प्रत्येक धर्म-कार्य मे प्रोत्साहन देती थी।

२. **धम्मविइज्जिया**—(धर्म-वैद्या) वह धार्मिक जीवन के लिए वैद्य के समान थी। अर्थात् किसी प्रकार की शिथिलता या दोप आने पर उसे दूर कर देती थी और धार्मिक अर्थात् आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए प्रेरणा करती रहती थी।

३. **धम्माणुराग-रत्ता**—(धर्मानुरागरक्ता) धर्म के प्रेम मे रगी हुई थी अर्थात् धर्म उसके वाह्य जीवन मे ही नही, हृदय मे भी उतरा हुआ था। धर्मानुष्ठान स्वय करने मे तथा दूसरो से कराने मे उसे आनन्द आता था।

४. **सम-सुहदुक्ख सहाइया**—(समसुख-दु ख सहायिका) वह अपने पति के सुख और दु ख मे वरावर हिस्सा वटाती थी और प्रत्येक अवसर पर सहायता करती थी।

भारतीय परम्परा मे पत्नी को सहधर्म चारिणी कहा गया है। अग्निमित्रा अपने इस कर्त्तव्य का पालन कर रही थी। उसने गृहस्थी के कार्यो मे पति को सदा सहायता दी और उसकी सुख सुविधाओ का ध्यान रखा। उसमे धर्म भावना जागृत रखी। जब देव द्वारा किए गए उपसर्ग के कारण सकट आया और वह विचलित हो गया, तो उसे पुन धर्म मे स्थापित किया आत्मविकास के मार्ग पर अग्रसर किया। इस प्रकार वह सच्चे रूप मे धर्म सहायिका और धर्म वैद्या सिद्ध हुई।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का सप्तम सद्दालपुत्र अध्ययन समाप्त ॥

अट्ठमज्झयणं

अष्टम अध्ययन

मूलम्——अट्ठमस्स उक्खेवओ, एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे । गुणसिले चेइए । सेणिए राया ॥ २२७ ॥

छाया——अष्टमस्योपक्षेपक., एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नगरम्, गुणशीलश्चैत्य., श्रेणिको राजा ।

शब्दार्थ—अट्ठमस्स उक्खेवओ—आठवें अध्ययन का उपक्षेप—प्रारम्भ पूर्ववत् है, एव खलु, जम्बू !—इस प्रकार हे जम्बू ! तेणं कालेण तेण समएण—उस काल उस समय रायगिहे नयरे—राजगृह नामक नगर था गुणसिले चेइए—गुणशील नामक चैत्य था सेणिए राया—श्रेणिक राजा था ।

भावार्थ—आठवे अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् है । श्री जम्बू स्वामी के प्रश्न करने पर श्री सुधर्मा जी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! उस काल जबकि चतुर्थ आरक था और श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी विराजमान थे, उस समय राजगृह नामक नगर था । गुणशील चैत्य उसके बाहिर था । वहाँ पर महाराजा श्रेणिक राज्य करते थे ।

महाशतक का वर्णन—

मूलम्——तत्थ णं रायगिहे महासयए नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जहा आणंदो । नवरं अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ वुड्ढि-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं ॥ २२८ ॥

छाया—तत्र खलु राजगृहे महाशतको नाम गाथापतिः परिवसति, आढ्यो, यथाऽऽनन्दः, नवरमष्ट हिरण्यकोट्यः सकांस्या निधान-प्रयुक्ता, अष्ट हिरण्यकोट्यः सकांस्या वृद्धि-प्रयुक्ता, अष्ट हिरण्यकोट्य, सकांस्या प्रविस्तर-प्रयुक्ता, अष्ट व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन ।

शब्दार्थ—तत्थ णं रायगिहे—उस राजगृह नगर मे महासयए नामं गहावई—महाशतक नाम का गाथापति परिवसइ—रहता था अड्ढे—वह आढ्य यावत् समृद्ध था जहा आणंदो—आनन्द श्रावक के समान सारा वृतान्त समझ लेना चाहिए, नवरं—इतना विशेष है अट्ठ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ सकंसाओ—कास्य के साथ निहाण-पउत्ताओ—कोप मे सञ्चित थी अट्ठ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुर्वण मुद्राएँ सकंसाओ—कास्य सहित वुड्ढि पउत्ताओ—व्यापार मे प्रयुक्त थी अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकंसाओ—कास्य से नपी हुई, आठ करोड सर्वण मुद्राएँ कॉस्य से प्रयुक्त पवित्थर-पउत्ताओ—घर के सामान मे लगी हुई थी अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक मे दस हजार गायो वाले आठ व्रज थे ।

भावार्थ—राजगृह नगर मे महाशतक नामक गाथापति रहता था । वह आढ्य एव आनन्द श्रावक की तरह सम्पन्न था । उसके कास्य सहित आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे, आठ करोड व्यापार मे और आठ करोड घर तथा सामान मे लगी हुई थी । पशुधन के आठ व्रज थे ।

१३ भार्याएँ—

मूलम्—तस्स णं महासयगस्स रेवई-पामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था, अहीण जाव सुरूवाओ ।। २२६ ।।

छाया—तस्य खलु महाशतकस्य रेवती प्रमुखास्त्रयोदश भार्या आसन्, अहीन-यावत्सुरूपा. ।

शब्दार्थ—तस्स ण महासयगस्स—उस महाशतक के रेवई पामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था—रेवती आदि प्रमुख १३ पत्नीयाँ थी अहीण जाव सुरूवाओ—(वे) अहीन (अर्थात् सम्पूर्णाङ्ग) यावत् सरूप थी ।

भावार्थ—उसकी रेवती आदि १३ पत्नीयाँ थीं। सभी सम्पूर्णाङ्ग यावत् सुन्दर थीं।

पत्नियों की सम्पत्ति—

मूलम्—तस्स णं महासयगस्स रेवईए भारियाए कोल-घरियाओ अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ, अट्ठ वया दस-गो-साहस्सिएणं वएण होत्था। अवसेसाणं दुवालसण्हं भारियाणं कोल-घरिया एगमेगा हिरण्ण-कोडी एगमेगे य वए दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था ॥ २३० ॥

छाया—तस्य खलु महाशतकस्य रेवत्या भार्याया कौलगृहिका अष्टहिरण्य-कोटचोऽष्ट व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेनाऽऽसन्। अवशेषाणां द्वादशाना भार्याणां कौल-गृहिका एकैका हिरण्यकोटी, एकैकश्च व्रजो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेनाऽऽसीत्।

शब्दार्थ—तस्स णं महासयगस्स—उस महाशतक की रेवईए भारियाए—रेवती भार्या के पास कोलघरियाओ—पितृकुल मे प्राप्त अट्ठ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ थी अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएण वएणं होत्था—और प्रत्येक मे दस हजार गायो के हिसाव से आठ व्रज थे, अवसेसाण दुवालसण्ह भारियाण—शेष १२ भार्याओ के पास कोल-घरिया—पितृ गृह से प्राप्त एगमेगा हिरण्णकोडी—एक २ करोड सुर्वण मुद्राएँ एगमेगे य वए दसगोसाहस्सिएण वएण होत्था—तथा दस हजार गायो वाला एक-एक व्रज था।

भावार्थ—रेवती के पास पितृ-कुल से प्राप्त आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ थी और प्रत्येक मे दस हजार गायो वाले आठ गोकुल थे। शेप बारह स्त्रियो मे प्रत्येक के पास पितृकुल से प्राप्त एक एक करोड सुवर्ण मुद्राएँ और दस हजार गायो वाला एक-एक व्रज था।

भगवान् का आगमन तथा महाशतक का व्रत ग्रहण—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएण सामी समोसढे। परिसा निग्गया। जहा आणंदो तहा निग्गच्छइ। तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ। नवरं अट्ठ

हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ उच्चारेइ, अट्ठ वया, रेवइ-पामोक्खाहिं तेरसहिं भारियाहिं अवसेस मेहुणविहिं पच्चक्खाइ। सेसं सव्वं तहेव इमं च णं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—"कल्लाकल्लिं च णं कप्पइ मे वेदोणियाए कंस-पाईए हिरण्ण-भरियाए संववहरित्तए" ॥ २३१ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समवसृत., परिषन्निर्गता। यथाऽऽनन्द-स्तथा निर्गगच्छति। तथैव श्रावकधर्मं प्रतिपद्यते, नवरमष्टहिरण्यकोटयः सकांस्या निधान-प्रयुक्ता उच्चारयति, अष्ट व्रजाः, रेवती प्रमुखाभ्यस्त्रयोदशभ्यो भार्याभ्योऽव-शेष मैथुनविधिं प्रत्याख्याति, शेष सर्वं तथैव। इमं च खलु एतद्रूपमभिग्रहमभिगृ-ह्णाति—"कल्या-कल्यि कल्पते मे द्विद्रौणीकया कास्यपात्र्या हिरण्यभृतया संव्यवहर्तुम्।"

शब्दार्थ—तेणं कालेणं तेण समएण—उस काल और उस समय सामी समोसढे—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए परिसा निग्गया—परिषद् धर्म कथा सुनने को निकली जहा आणदो तहा निग्गच्छइ—आनन्द के समान महाशतक भी निकला तहेव सावयधम्मं पडिवज्जइ—उसने भी उसी प्रकार श्रावक धर्म अङ्गीकार किया नवर—इतना विशेष है कि अट्ठ हिरण्ण कोडीओ सकंसाओ निहाणपउत्ताओ—आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ कास्य द्वारा नापी हुई कोष आदि मे रखने का उच्चारेइ—उच्चारण किया, अट्ठ वया—आठ व्रज रखे रेवई पामोक्खाहि तेरसहिं—रेवती प्रमुख १३ भारियाहि अवसेसं मेहुण विहिं पच्चक्खाइ—भार्याओ के अतिरिक्त अन्य स्त्रियो से मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान किया, सेसं सव्वं तहेव—शेष सब उसी प्रकार आनन्द की तरह समझना चाहिए। इम च णं एयारूव अभिग्गहं अभिगिण्हइ—उसने ऐसा अभिग्रह भी लिया कल्ला-किल्ल कप्पइ मे—प्रतिदिन मुझे कल्पता है कि वेदोणीयाए—कंसपाईए हिरण्ण भरियाए संववहरित्तए—दो द्रोण जितनी कास्य पात्र मे भरी हुई सुवर्ण मुद्राओ से व्यापार करना।

भावार्थ—उस काल उस समय भगवान् महावीर स्वामी पधारे। परिषद् दर्श-नार्थ निकली। महाशतक भी आनन्द श्रावक की भान्ति निकला। और उसी प्रकार गृहस्थधर्म स्वीकार किया। विशेषता यही है कि उसने कास्य सहित आठ २

करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोप आदि मे रखने की मर्यादा की। रेवती आदि तेरह पत्नियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियो से मैथुन सेवन का परित्याग किया। अन्य सब आनन्द के समान है। उसने यह भी अभिग्रह लिया कि "मै प्रतिदिन दो द्रोण सुवर्ण से भरे हुए कास्य पात्र द्वारा व्यापार करूँगा।

मूलम्——तए णं से महासयए समणोवासए जाए अभिगय-जीवाजीवे जाव विहरइ ॥ २३२ ॥

छाया——तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको जातोऽभिगत-जीवाजीवो यावद्विहरति।

शब्दार्थ——तए णं से महासयए—तदनन्तर वह महाशतक समणोवासए जाए—श्रमणोपासक हो गया अभिगय-जीवाजीवे जाव विहरइ—यावत् जीवाजीव का जानकार हो कर विचरने लगा।

भावार्थ——महाशतक श्रमणोपासक हो गया और जीवाजीव का ज्ञाता हो कर विचरने लगा।

मूलम्——तए णं समणे भगवं महावीरे बहिया जणवयविहारं विहरइ ॥ २३३ ॥

छाया——तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरो बहिर्जनपदविहार विहरति।

शब्दार्थ——तए णं समणे भगव महावीरे—एक दिन श्रमण भगावान् महावीर वहिया जाणवय-विहारं विहरइ—अन्य जनपदो मे विचरने लगे।

भावार्थ——इसके वाद श्रमण भगवान् महावीर विहार कर गए और अन्य जनपदो मे विचरने लगे।

रेवती का क्रूर अध्यवसाय—

मूलम्——तए णं तीसे रेवईए गाहावइणीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि कुडुम्ब जाव इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ ——"एवं खलु अहं इमासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं विघाएणं नो संचाएमि महासयएणं समणोवास-

एणं सद्धि उरालाइं माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणी विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं एयाओ दुवालसवि सवत्तियाओ अग्गिप्पओगेणं वा, विसप्पओगेणं वा जीवियाओ ववरोवित्ता एयासिं एगमेगं हिरण्ण-कोडिं, एगमेगं वयं सयमेव उवसम्पज्जित्ता णं महासयएण समणोवासएणं सद्धि उरालइं जाव विहरित्तए" एव संपेहेइ, संपेहेइत्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतराणि य, छिद्दाणि य, विवराणि य पडिजागरमाणी विहरइ ॥ २३४ ॥

छाया—तत खलु तस्या रेवत्या गाथापत्न्या अन्यदा कदाचित्पूर्वरात्रापररात्रकालसमये कुटुम्ब यावद् अयमेतद्रूप आध्यात्मिक —"एवं खलु अहमासां द्वादशाना सपत्नीनां विघातेन नो शक्नोमि महाशतकेन श्रमणोपासकेन सार्द्धमुदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जाना विहर्त्तुम्, तच्छ्रेय खलु ममैता द्वादशापि सपत्नयोऽग्निप्रयोगेण वा, शस्त्रप्रयोगेण वा, विषप्रयोगेण वा जीविताद्व्यपरोपयित्वैतासामेकैका हिरण्यकोटीमेकैकं व्रजं स्वयमेवोपसम्पद्य महाशतकेन श्रमणोपासकेन सार्द्धमुदारान् यावद्विहर्त्तुम्।" एवं सम्प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य तासां द्वादशानां सपत्नीनामन्तराणि च छिद्राणि च विवराणि च प्रतिजाग्रती विहरति।

शब्दार्थ—तए णं तीसे रेवईए गाहावइणीए—तदनन्तर उस रेवती गाथा पत्नी को अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित् पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि—अर्धरात्री मे कुडुम्ब जाव इमेयारूवे अज्झत्थिए—कौटुम्बिक वातो के लिए जागरण करते हुए यह विचार आया एव खलु अहं—इस प्रकार मै इमासिं दुवालसण्हं—इन बारह सवत्तीणं विघाएण—सपत्नियो के विघ्न के कारण नो संचाएमि—समर्थ नही हूँ, महासयएण समणोवासएणं सद्धि—महाशतक श्रमणोपासक के साथ उरालाइं—इच्छानुसार माणुस्सयाइ भोगभोगाइ भुञ्जमाणी विहरित्तए—मनुष्य सम्बन्धी काम भोग भोगती हुई विचरने मे तं सेयं खलु ममं—तो मेरे लिए उचित है कि एयाओ दुवालसवि सवत्तियाओ—इन १२ सपत्नियो को अग्गिप्पओगेणं वा विसप्पओगेण वा—अग्नि प्रयोग से अथवा विप प्रयोग के द्वारा जीवियाओ ववरोवित्ता—जीवन से पृथक करके एयासि—इनकी एगमेगं—एक २ हिरण्णकोडिं—करोड सुवर्ण मुद्राओ एगमेगं—एक एक व्रज सयमेव उवसंपज्जित्ताणं—स्वय अपने अधीन करलू तथा महासयएणं समणोवासएणं

सर्द्धि—महाशतक श्रमणोपासक के साथ उरालाइ जाव विहरित्तए—स्वेच्छानुसार यावत् भोग भोगू एवं संपेहेइ—इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता—विचार करके तासि दुवालसण्हं सवत्तीण—उन १२ सपत्नियो के अतराणि य छिद्दाणि य—गुप्त छिद्रो और विवराणि य—विवरो को पडिजागरमाणी विहरइ—ढूण्डने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी को अर्धरात्रि के समय कुटुम्ब जागरणा करते हुए यह विचार आया। "मैं इन १२ सपत्नियो के विघ्न के कारण महाशतक श्रमणोपासक के साथ इच्छानुसार भोग नही भोग सकती। अच्छा होगा कि इन सौतो को मार डालू। प्रत्येक की एक २ करोड सुवर्ण मुद्रा रूप सम्पति तथा व्रजो पर अधिकार जमा लू और महाशतक के साथ स्वेच्छानुसार काम भोगो का आनन्द लू।" यह सोच कर वह उनके गुप्त विवरो तथा छिद्रो को ढूण्डने लगी।

रेवती द्वारा सपत्नियो की हत्या और सम्पत्ति का अपहरण—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ तासि दुवालसण्ह सवत्तीण अतरं जाणित्ता छ सवत्तीओ सत्थ-प्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता छ सवत्तीओ विस-प्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता तासि दुवालसण्ह सवत्तीणं कोल-घरियं एगमेग हिरण्ण-कोडि, एगमेगं वयं सयमेव पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता महासयएणं समणोवासएणं सर्द्धि उरालाइं भोगभोगइं भुञ्जमाणी विहरइ ॥ २३५ ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्यदा कदाचित्तासा द्वादशानां सपत्नीनामन्तर ज्ञात्वा षट् सपत्नी. शस्त्रप्रयोगेणोपद्रवति, उपद्रुत्य षट् सपत्नीर्विषप्रयोगेणोपद्रवति, उपद्रुत्य तासा द्वादशानां कौलगृहिकमेकैकां हिरण्यकोटीमेकैक व्रज स्वयमेव प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य महाशतकेन सार्द्धमुदारान् भोग-भोगान् भुञ्जाना विहरति।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर उस रेवती गाथापत्नी ने अन्नया कयाइ—एक दिन तासि दुवालसण्ह सवत्तीण—उन १२ सपत्नियो के अंतरं जाणित्ता—छिद्रो को जानकर छ सवत्तीओ सत्थ-प्पओगेणं उद्दवेइ—छ सपत्नियो

को शस्त्र के प्रयोग से मार डाला उद्दवेत्ता—मारकर छ सवत्तीओ विसप्पओगेणं उद्दवेइ—छ सपत्नियो को विषप्रयोग द्वारा मार डाला उद्दवेत्ता—मार कर तासिं दुवालसण्ह सवत्तीण कोल-घरियं—उन १२ सपत्नियो की पितृ-कुल से प्राप्त एगमेगं हिरण्ण-कोडिं एगमेगं वय सयमेव पडिवज्जइ—एक २ करोड सुवर्ण मुद्राओ तथा एक २ व्रज को अपने अधीन कर लिया पडिवज्जित्ता—ग्रहण कर के महा-सयएण समणोवासएण सद्धि—श्रमणोपासक महाशतक के साथ उरालाइं—मन-माने भोग-भोगाइ भुञ्जमाणी विहरइ—भोगो को भोगने लगी ।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी ने अपनी बारह सपत्नियो की गुप्त बाते जान ली और उन मे से छ को शस्त्र द्वारा और छ को विष देकर मार डाला । उनकी सुवर्ण मुद्राओ और व्रजो को अपने अधीन कर लिया तथा महाशतक के साथ मन-माने भोग भोगने लगी ।

रेवती की मांस-मदिरा लोलुपता—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी मंस-लोलुया मंसेसु मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, अज्झोववन्ना बहु-विहेहिं मंसेहि य, सोल्लेहि य, तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च महुं च मेरगं च मज्जं च सीधुं च पसन्नं च आसाएमाणी ४ विहरइ ॥ २३६ ॥

छाया—तत. खलु सा रेवती गाथापत्नी मांसलोलुपा मांसेषु मूर्छिता, गृद्धा, ग्रथिता, अध्युपपन्ना, बहुविधैर्मांसैश्च, शूल्यकैश्च, तलितैश्च, भर्जितैश्च, सुरां च, मधु च, मैरेयं च, मद्यं च, सीधुञ्च प्रसन्नाञ्चाऽऽस्वादयन्ती ४ विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी मस-लोलुया—मास मे लोलुप मसेसु मुच्छिया—मॉस मे मूर्च्छित गिद्धा—मास मे गृद्ध होती हुई गढिया—मास मे ग्रथित अर्थात् अग २ मे मास भक्षण के अनुराग वाली अज्झोववन्ना—मास मे ही अत्यन्त आसक्त होती हुई बहुविहेहिं मसेहि य—नाना प्रकार के मासो मे और सोल्लेहि य—मास के शूलको मे और तलिएहि य—तले हुए

मास आदि मे और **भज्जिएहि य**—भूने हुए मास मे और **सुर च महुं च मेरग च**—सुरा (गुड आटे से वनी हुई शराव) मधुक, महुआ से वनी शराव तथा मेरग **मज्जं च**—'आसव' नामक अपरिपक्व मद्य **सीधु च**—तथा सीधु नामक शराव **पसन्न च**—सुगन्ध युक्त शराव आदि को **आसाएमाणी ४ विहरइ**—आस्वादन करती हुई विचरने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी माँस तथा मदिरा मे आसक्त रहने लगी। शूलक, तले हुए, भुने हुए तथा अन्य प्रकार के माँसो के साथ सुरा, सीधु, मेरक, मधु, मद्य तथा अन्य प्रकार की मदिराओ का सेवन करने लगी।

राजगृह में अमारि की घोषणा--

मूलम्—**तए ण रायगिहे नयरे अन्नया कयाइ अमाघाए घुट्ठे यावि होत्था ॥ २३७ ॥**

छाया—ततः खलु राजगृहे नगरे अन्यदा कदाचित् अमाघातः (अमारि) घुष्टश्चाप्यासीत्।

शब्दार्थ—**तए णं रायगिहे नयरे**—तदनन्तर राजगृह नगर मे **अन्नया कयाइ**—एक दिन **अमाघाए घुट्ठे यावि होत्था**—अमारि अर्थात् किसी जीव को न मारने की घोषणा हुई।

भावार्थ—एक दिन राजगृह नगर मे अमारि अर्थात् हिसा न करने की घोषणा हुई।

रेवती द्वारा खाने के लिए पीहर से बछड़े मँगवाना--

मूलम्—**तए णं सा रेवई गाहावइणी मंस-लोलुया मंसेसु मुच्छिया ४ कोलघरिए पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—"तुब्भे, देवाणुप्पिया! मम कोल-घरिएहिंतो वएहिंतो कल्लाकल्लि दुवे-दुवे गोणपोयए उद्दवेह, उद्दवित्ता ममं उवणेह" ॥ २३८ ॥**

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी मासलोलुपा मांसेषु मूच्छिता ४ कौल-गृहिकान् पुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वा एवमवादीत्—"यूय देवानुप्रिया ! मम कौलगृहिकेभ्यो व्रजेभ्य कल्याकल्यि द्वौ-द्वौ गोपोतकावुपद्रवत, उपद्रुत्य ममोपनयत ।"

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—इस पर उस रेवती गाथापत्नी ने मंस-लोलुया—मास लोलुप मसेसु मुच्छिया—तथा मास मे मूच्छित होकर कोलघरिए पुरिसे सद्दावेइ—अपने पितृ-गृह के पुरुषो को बुलाया सद्दावित्ता—बुलाकर एवं—वयासी—इस प्रकार कहा तुब्भे देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रियो ! तुम मम कोलघ-रिएहितो वएहितो—मेरे पीहर के व्रजो मे से कल्लाकल्लि दुवे-दुवे—प्रतिदिन दो गोण-पोयए उद्दवेह—बछडे मारा करो उद्दवित्ता मम उवणेह—मार कर मेरे पास लाया करो ।

भावार्थ—मास लोलुप रेवती ने पितृगृह के पुरषो को बुलाकर कहा—हे देवानु-प्रियो ! तुम प्रतिदिन मेरे पीहर के व्रजो मे से दो बछडे मार कर लाया करो ।

मूलम्—तए णं ते कोल-घरिया पुरिसा रेवईए गाहावइणीए 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता रेवईए गाहावइणीए कोलघरिए-हितो वएहितो कल्ला-कल्लिं दुवे-दुवे गोण-पोयए वहेंति, वहित्ता रेवईए गाहावइणीए उवणेति ॥ २३९ ॥

छाया—तत. खलु ते कौलगृहिका पुरुषा रेवत्या गाथापत्न्या 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य रेवत्या गाथापत्न्या कौलगृहिकेभ्यो व्रजेभ्य कल्याकल्यि द्वौ-द्वौ गोपोतकौ घ्नन्ति, हत्वा रेवत्यै गाथापत्न्यै उपनयन्ति ।

शब्दार्थ— तए णं ते कोलघरिया पुरिसा—इस पर पीहर के पुरुषो ने रेवईए—रेवती गाहावइणीए तहत्ति एयमट्ठ—गाथापत्नी की इस बात को 'ठीक है' इस प्रकार विणएणं पडिसुणति—विनयपूर्वक स्वीकार किया पडिसुणित्ता—स्वीकार कर के रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी के कोलघरिएहिंतो वएहितो—पीहर के गो-व्रजो मे से कल्ला-काल्लि—प्रतिदिन दुवे-दुवे गोणपोयए वहेति— दो बछडे मारने

लगे, वहित्ता—मारकर के रेवईए गाहावईणीए उवर्णेति—रेवती गाथापत्नी को पहुँचाने लगे।

भावार्थ—दास पुरुषो ने रेवती के इस कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया और प्रतिदिन दो वछड़ो को मार कर लाने लगे।

मूलम्——तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहिं मंसेहिं सोल्लेहि य ४ सुरं च ६ आसाएमाणी ४ विहरइ ॥ २४० ॥

छाया——तत खलु सा रेवती गाथापत्नी तैर्गोमांसैः शूल्यकैश्च ४ सुरञ्च ६ आ-स्वादयन्ती ४ विहरति।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी तेहिं गोणमसेहिं सोल्लेहि य ४—उन गोमासो के शूलको मे सुर च ६—तथा मदिरा आदि मे आसक्त होकर आसाएमाणी ४ विहरइ—उनका स्वाद लेती हुई विचरने लगी।

भावार्थ——रेवती गाथापत्नी उन (वछड़ो के) मास को शूलक आदि के रूप मे खाने और मदिरापान मे आसक्त रहने लगी।

महाशतक का पौषधशाला मे धर्माराधन——

मूलम्——तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता। एवं तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ, जाव पोसह-सालाए धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥ २४१ ॥

छाया—तत· खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य वहुभि शील यावद् भावयतश्चतुर्दश सवत्सरा व्युत्क्रान्ताः। एवं तथैव ज्येष्ठं पुत्र स्थापयति यावत्पौषध-शालाया धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तएणं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक के वहूहि सील जाव भावेमाणस्स—विविध प्रकार के व्रत-नियमो के

द्वारा आत्मा का संस्कार करते हुए चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता—१४ वर्ष व्यतीत हो गए एवं तहेव—इस प्रकार आनन्द की भान्ति जेट्ठं पुत्तं ठवेइ—उसने भी ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार दे दिया जाव—यावत् पोसहसालाए धम्मपण्णत्ति—पौषधशाला मे धर्मप्रज्ञप्ति को उवसंपज्जित्ता णं विहरइ—ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—महाशतक श्रमणोपासक को विविध प्रकार के व्रत-नियमो का पालन तथा धर्म द्वारा आत्मा का संस्कार करते हुए १४ वर्ष व्यतीत हो गए। उसने भी आनन्द की भान्ति ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दिया और स्वयं पौषधशाला मे धर्मानुष्ठान करने लगा।

रेवती का कामोन्मत्त होकर पौषधशाला में पहुँचना—

मूलम्—**तए णं सा रेवई गाहावइणी मत्ता लुलिया विइण्णकेसी उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी २ जेणेव पोसह-साला जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मोहुम्माय-जणणाइं सिंगारियाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी २ महासययं समणोवासयं एवं वयासी—"हंभो महासयया ! समणोवासया ! धम्म-कामया ! पुण्ण-कामया ! सग्ग-कामया ! मोक्ख-कामया ! धम्म-कंखिया ! ४, धम्म-पिवासिया ४, किण्णं तुब्भं, देवाणुप्पिया ! धम्मेण वा, पुण्णेण वा, सग्गेण वा, मोक्खेण वा?, जंण्णं तुमं मए सद्धिं उरालाइं जाव भुञ्जमाणे नो विहरसि ?" ॥ २४२ ॥**

छाया—तत. खलु सा रेवती गाथापत्नी मत्ता, लुलिता, विकीर्णकेशी, उत्तरीयकं विकर्षन्ती २ येनैव पौषधशाला येनैव महाशतक श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य मोहोन्मादजननान् शृङ्गारिकान् स्त्री-भावान् उपसन्दर्शयन्ती २ महाशतकं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हंभो महाशतक ! श्रमणोपासक ! धर्मकामुक ! पुण्यकामुक ! स्वर्गकामुक ! मोक्षकामुक ! धर्मकाङ्क्षिन् ! ४ धर्मपिपासित ! ४, किं खलु तव देवानुप्रिय ! धर्मेण वा ? पुण्येन वा ? स्वर्गेण वा ? मोक्षेण वा ? यत्खलु त्वं मया सार्द्धमुदारान् यावद् भुञ्जानो नो विहरसि ?

शब्दार्थ—**तए णं सा रेवई गाहावइणी**—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी **मत्ता**—मास, सुरा आदि से मत्त बनी हुई **लुलिया**—लोलुप **विइण्णकेसी**—बालो को बिखेरे हुए **उत्तरिज्जय विकड्ढमाणी २**—उत्तरीय को फैंकती हुई काम-वासना से पीडित **जेणेव पोसहसाला**—जहाँ पौपधशाला थी **जेणेव महासयए समणोवासए**—जहाँ श्रमणोपासक महाशतक था **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आई **उवागच्छित्ता**—आकर **मोहुम्माय जणणाइं**—मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाले **सिगारियाइ**—शृङ्गार भरे हाव-भाव कटाक्ष आदि **इत्थि-भावाइ**—स्त्री सम्बन्धि चेष्टाओ को **उवदसेमाणी २**—दिखाती हुई **महासयय समणोवासय एव वयासी**—इस प्रकार कहने लगी **हभो महासयया ! समणोवासया !**—हे महाशतक ! श्रमणोपासक ! तुम **धम्म-कामया !**—धर्म की कामना करते हो, **पुण्णकामया !**—पुण्य की कामना करते हो, **सग्गकामया !**—स्वर्ग की कामना करते हो, **मोक्खकामया !**—मोक्ष की कामना करते हो, **धम्मकखिया !**—धर्म की आकांक्षा करते हो **धम्मपिवासिया !**—धर्म के प्यासे हो परन्तु **किण्ण तुब्भं देवाणुप्पिया !**—किन्तु हे देवानुप्रिय ! **धम्मेण वा पुण्णेण वा सग्गेण वा मोक्खेण वा**—धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष से क्या मिलेगा ? **जण्ण तुमं**—जो तुम **मए सद्धि**—मेरे साथ **उरालइ जाव भुञ्जमाणे नो विहरसि**—इच्छापूर्वक भोग भोगना पसन्द नही करते ?

भावार्थ—मास तथा मदिरा मे आसक्त और कामवासना से उन्मत्त होकर रेवती पौपधशाला मे महाशतक के पास पहुँची। उसके बाल बिखरे हुए थे और साडी नीचे गिर रही थी। वहाँ पहुँच कर वह हाव-भाव तथा शृङ्गारिक चेष्टाएँ करती हुई महाशतक से बोली—"देवानुप्रिय ! तुम मेरे साथ मन-माने भोगो का आनन्द ले रहे थे। उन्हे छोडकर यहाँ चले आए और स्वर्ग तथा मोक्ष की कामना से धर्म और पुण्य का सञ्चय करने लगे। किन्तु स्वर्ग और मोक्ष मे इससे बढकर क्या मिलेगा ? धर्म और पुण्य का इससे बढकर और क्या फल है ?"

महाशतक का उसकी ओर ध्यान न देना—

मूलम्—**तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणाइ, अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ ॥ २४३ ॥**

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्न्या एतमर्थं नो आद्रियते नो परिजानाति, अनाद्रियमाणोऽपरिजानस्तूष्णीको धर्मध्यानोपगतो विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी की एयमट्ठं नो आढाइ नो परियाणाइ—इस बात का न तो सत्कार किया और न उस पर ध्यान दिया, अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे—परन्तु सत्कार तथा ध्यान के बिना तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ—मौन रहकर धर्मानुष्ठान मे लगा रहा ।

भावार्थ—महाशतक गाथा पति ने रेवती की कुचेष्टाओ और बातो पर कोई ध्यान नही दिया और मौन रह कर धर्मध्यान-धर्मानुष्ठान मे लगा रहा ।

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी महासययं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—"हंभो" ! तं चेव भणइ, सोवि तहेव जाव अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे विहरइ ॥ २४४ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकं श्रमणोपासक द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—"हंभो" । तथैव भणति । सोऽपि तथैव यावद् अनाद्रियमाणोऽपरिजानन् विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी महासययं समणोवासयं—महाशतक श्रमणोपासक के प्रति दोच्चपि तच्चपि—द्वितीय तथा तृतीय बार भी एवं वयासी—इस प्रकार बोली—हंभो ! तं चेव भणइ—हे महाशतक ! पहले की भाँति कहा सो वि—वह भी तहेव जाव—उसी प्रकार यावत् अणाढाइज्जमाणे अपरियामाणे विहरइ—बिना आदर सत्कार किए ध्यान मे स्थिर रहा ।

भावार्थ—तब गाथापत्नी रेवती ने महाशतक श्रावक से दूसरी तथा तीसरी बार भी वही बात कही, किन्तु महाशतक पहले की भाँति ध्यान मे स्थिर रहा ।

रेवती का निराश होकर लौटना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणी अपरियाणमाणी जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ॥ २४५ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकेन श्रमणोपासकेनानाद्रियमाणा अपरिज्ञायमाना यस्या एव दिशं प्रादुर्भूता तामेव दिशं प्रतिगता ।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी महासयएणं समणोवासएणं—महाशतक श्रमणोपासक के द्वारा आणाढाइज्जमाणी अपरियाणिज्जमाणी—अनादरित तथा तिरस्कृत होकर जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया—जिस दिशा से वह आई थी उसी दिशा मे चली गई ।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी तिरस्कृत होकर जहाँ से आई थी उधर ही वापिस चली गई ।

महाशतक द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए पढमं उवासग-पडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । पढमं अहा-सुत्तं जाव एक्कारसऽवि ॥ २४६ ॥

तए णं से महासयए समणोवासए तेणं उरालेणं जाव किसे धमणिसंतए जाए ॥ २४७ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासक. प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसंपद्य विहरति, प्रथमां यथासूत्र यावदेकादशापि ।

तत खलु स महाशतकः श्रमणोपासकस्तेनोदारेण यावत्कृशो धमनिसन्ततो जात ।

शब्दार्थ--**तए ण से महासयए समणोवासए**—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक **पढमं उवासगपडिमं**—प्रथम उपासक प्रतिमा को ग्रहण करके **विहरइ**—विचरने लगा, **पढमं अहा-सुत्तं जाव एक्कारसऽवि**—प्रथम से लेकर यावत् ११ श्रावक प्रतिमाओं को शास्त्रानुसार अङ्गीकार किया।

तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक **तेणं उरालेणं**—उस उग्र तपश्चरण के द्वारा **जाव**—यावत् **किसे**—कृश होकर **धमणिसतए जाए**—उसकी नस-नस दिखाई देने लगी।

भावार्थ--तदनन्तर श्रमणोपासक महाशतक ने क्रमशः पहली से लेकर ग्यारहवीं तक श्रावक की प्रतिमाएँ स्वीकार की और शास्त्रोक्त रीति से आराधना की। उस उग्र तपश्चर्या के कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया और उसकी नस-नस दिखाई देने लगी।

मूलम्—**तए णं तस्स महासययस्स समणोवासयस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकाले धम्म-जागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए ४--"एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं" जहा आणंदो तहेव अपच्छिम-मारणतिय-संलेहणाए झूसियसरीरे भत्त-पाण-पडियाइक्खिए कालं अणवकंखमाणे विहरइ ॥ २४८ ॥**

छाया—ततः खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्यान्यदाकदाचित्पूर्वरात्रापररात्रकाले धर्म-जागरिकां जाग्रतोऽयमाध्यात्मिक. ४—"एवं खलु अहमनेनोदारेण" यथाऽऽनन्दस्तथैवापश्चिममारणान्तिकसलेखनया जोषितशरीरो भक्तपानप्रत्याख्यातः कालमनवकाक्षन् विहरति।

शब्दार्थ--**तए णं तस्स महासययस्स समणोवासयस्स**—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक को **अन्नया कयाइ**—एक दिन **पुव्वरत्तावरत्तकाले**—अर्धरात्री के समय **धम्म-जागरियं जागरमाणस्स**—धर्म जागरणा करते हुए **अयं अज्झत्थिए ४**—यह विचार उत्पन्न हुआ **एवं खलु अहं**—इस प्रकार मैं **इमेणं उरालेण**—इस उग्रतपश्चर्या

के कारण अति कृश हो गया हूँ यावत् जहा आणंदो—जिस प्रकार आनन्द श्रमणोपासक ने किया था, तहेव—उसी प्रकार अपच्छिममारणंतिय-संलेहणाए झूसियसरीरे—इसने भी अन्तिम मारणान्तिक संलेखना के द्वारा शरीर का परित्याग करके भत्त-पाणपडियाइक्खिए—भक्तपान का प्रत्याख्यान करके कालं अणवकंखमाणे विहरइ—मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर विचरने लगा।

भावार्थ—एक दिन अर्धरात्रि के समय धर्म जागरण करते हुए उसके मन मे विचार आया कि इस उग्र तपश्चरण के कारण मैं कृश हो गया हूँ। नसें दिखाई देने लगी हैं। अब यही उचित है कि अन्तिम मारणान्तिक संलेखना अङ्गीकार कर लूँ और शुभ विचारो के साथ शरीर का परित्याग करूँ। यह विचार करके महाशतक ने भी आनन्द के समान अन्तिम संलेखना व्रत ले लिया और जीवन तथा मृत्यु दोनो की आकांक्षा से रहित होकर आत्म चिन्तन मे लीन रहने लगा।

महाशतक को अवधिज्ञान—

मूलम्—तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स सुभेणं अज्झवसाणेणं जाव खओवसमेणं ओहिणाणे समुप्पन्ने—पुरत्थिमेणं लवणसमुद्दे जोयण-साहस्सियं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं, पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं जाव चुल्ल-हिमवंत वासहर-पव्वयं जाणइ पासइ, अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं नरयं चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइयं जाणइ पासइ ॥ २४९ ॥

छाया—ततः खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य शुभेनाऽध्यवसायेन यावत् क्षयोपशमेनावधिज्ञानं समुत्पन्नम्—पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे योजनसाहस्रिकं क्षेत्रं जानाति पश्यति, एवं दाक्षिणात्ये खलु, पाश्चात्ये खलु, औत्तरे खलु यावत्क्षुद्र-हिमवन्तं वर्षधरं पर्वतं जानाति पश्यति, अधोऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां लोलुपा-च्युतं नरकं चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकं जानाति पश्यति।

शब्दार्थ—तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक को सुभेणं अज्झवसाणेणं—शुभ परिणामो के उत्पन्न होने पर जाव—

यावत् खओवसमेणं—अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर ओहिणाणे समुप्पन्ने—अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया, पुरत्थिमेण लवणसमुद्दे—पूर्व दिशा में लवण समुद्र के अन्दर जोयणसाहस्सियं खेत्त जाणइ पासइ वह एक हजार योजन क्षेत्र को जानने और देखने लगा एवं दक्खिणेण—इसी प्रकार दक्षिण दिशा में पच्चत्थिमेणं—तथा पश्चिम दिशा मे एक हजार योजन क्षेत्र को जानने देखने लगा उत्तरेणं जाव—उत्तर दिशा मे यावत् चुल्लहिमवंतं वासहर-पव्वयं जाणइ पासइ—चुल्लहिमवन्त वर्षधर पर्वत तक जानने तथा देखने लगा, अहे—नीची दिशा मे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुयच्चुयं नरयं—लोलुपाच्युत नरकावास को चउरासीइवाससहस्स-ट्ठिइयं—जहा ८४ हजार वर्ष की आयु मर्यादा है जाणइ पासइ—जानने देखने लगा।

भावार्थ—शुभ अध्यवसायो के कारण उसकी आत्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होती गई और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। परिणाम स्वरूप वह पूर्व दिशा मे लवण समुद्र के अन्दर एक एक हजार योजन तक जानने देखने लगा। इसी प्रकार दक्षिण तथा पश्चिम दिशा मे भी एक-एक हजार योजन तक जानने और देखने लगा, तथा उत्तर दिशा मे चुल्लहिमवान् पर्वत तक देखने लगा। अधोदिशा मे रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्दर लोलुपाच्युत नरक तक देखने लगा। जहाँ जीवो की चौरासी हजार वर्ष की आयु है।

रेवती का पुन. आगमन और उपद्रव करना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ मत्ता जाव उत्तरिज्जयं विकड्ढेमाणी २ जेणेव महासयए समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता महासययं तहेव भणइ, जाव दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—"हंभो!" तहेव ॥ २५० ॥

छाया—तत. खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्या कदाचिन्मत्ता यावदुत्तरीयकं विकर्षयन्ती २ येनैव महाशतक श्रमणोपासको येनैव पौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य महाशतकं तथैव भणति यावद् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत् "हभो"! तथैव।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी अन्नया कयाइ—एक दिन मत्ता—मतवाली होकर जाव—यावत् उत्तरिज्जय विकड्ढेमाणी २—उत्तरीय वस्त्र को गिराती हुई जेणेव महासयए समणोवासए—जहा महाशतक श्रमणोपासक था, जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ—जहाँ पौषधशाला थी वहाँ आई, उवागच्छित्ता—आकर महासयय तहेव भणइ—महाशतक श्रमणोपासक को उसी प्रकार कहने लगी जाव—यावत् दोच्चंपि तच्चपि—द्वितीय और तृतीय बार एवं वयासी—इस प्रकार बोली हभो ! तहेव—हे महाशतक ! तथैव पहले की तरह कहा।

भावार्थ—फिर एक दिन रेवती गाथापत्नी उन्मत्त होकर ओढने को नीचे गिराती हुई, महाशतक श्रावक के पास आई और दूसरी तथा तीसरी बार उसी प्रकार बोली।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ४ ओहिं पउजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइं गाहावइणि एवं वयासी—"हंभो रेवई ! अपत्थिय-पत्थिए ४ एवं खलु तुमं अंतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया समाणी अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा असमाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि" ॥ २५१ ॥

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्न्या द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तः सन् आशुरुप्त ४ अवधि प्रयुङ्क्ते प्रयुज्यावधिना आभोगयति, आभोग्य रेवती गाथापत्नीमेवमवादीत्—"हभो रेवति ! अप्रार्थित प्रार्थिके ! ४—एवं खलु त्वमन्त सप्तरात्रस्यालसकेन व्याधिनाऽभिभूतासती आर्त्तदुखार्त्त-वशार्त्ता असमाधिप्राप्ता कालमासे काल कृत्वाऽधोऽस्यां रत्नप्रभाया पृथिव्यां—लोलुपाच्युते नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नैरयिकतयोत्पत्स्यसे।"

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी के दोच्चपि तच्चंपि एव वुत्ते समाणे—

द्वारा दूसरी और तीसरी वार भी इस प्रकार कहने पर आसुरुत्ते ४—यावत् क्रुध हो गया ओहि पउंजइ—तव उसने अवधिज्ञान का प्रयोग किया पउंजित्ता—प्रयोग करके ओहिणा आभोएइ—अवधिज्ञान के द्वारा देखा आभोइत्ता—देख करके रेवईं गाहावइणि एव वयासी—रेवती गाथापत्नी को इस प्रकार कहा हभो रेवई !—हे रेवति ! अपत्थिय-पत्थिए ४ !—अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाली एवं खलु—इस प्रकार तुम—तू अंतो सत्तरत्तस्स—सात रात्रि के अन्दर अलसएणं वाहिणा अभिभूया—अलसक नामक व्याधि से पीडित हो कर अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा—चिन्तित, दु खी तथा विवश हो कर असमाहिपत्ता—असमाधि (कष्ट-रोग) को प्राप्त हो कर कालमासे कालं किच्चा—समय आने पर मर कर अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे लोलुयच्चुए नरए—लोलुपाच्युत नरक मे चउरासीइ-वास-सहस्सट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नारकियो मे नारकी के रूप मे उत्पन्न होगी।

भावार्थ—उसने अवधिज्ञान द्वारा उपयोग लगाकर देखा और कहा "तू सात दिन के अन्दर अलस रोग से पीडित हो कर कष्ट भोगती हुई मर जायेगी और लोलुपाच्युत नरक मे उत्पन्न होगी !" वहाँ ८४ हजार वर्ष की आयु प्राप्त करेगी।

रेवती का भयभीत होकर लौटना—

मूलम्—**तए ण सा रेवई गाहावइणी महासएणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणी एवं वयासी—"रुट्ठे णं ममं महासयए समणोवासए, हीणे णं ममं महासयए समणोवासए, अवज्झाया णं अह महासयएणं समणोवासएणं, न नज्जइ णं, अहं केणवि कुमारेणं मारिज्जिस्सामि" त्ति कट्टु भीया तत्था तसिया उव्विग्गा संजायभया सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ओहय जाव झियाइ ॥ २५२ ॥**

छाया—तत· खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकेन श्रमणोपासकेनैवमुक्ता सत्येवमवादीत्—"रुष्ट खलु मम महाशतक· श्रमणोपासक·, हीन खलु मम महाशतकः श्रमणोपासक , अपध्यातावल्वहं महाशतकेन श्रमणोपासकेन, न ज्ञायते खल्वह केनापि

कुमारेण मारयिष्ये" इति कृत्वा भीता, त्रस्ता, (नष्टा) उद्विग्ना सञ्जातभया शनैः शनैः प्रत्यवष्वष्कति प्रत्यवष्वष्कय येनैव स्वकं गृहं तेनैवोपागच्छति, उपागत्य, अवहत यावद्-ध्यायति।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी महासयएणं समणोवासएण एवं वुत्ता समाणी—महाशतक श्रमणोपासक के द्वारा इस प्रकार कही जाने पर एव वयासी—बोली—रुट्ठेणं मम महासयए समणोवासए—मुझ पर महाशतक श्रमणोपासक रुष्ट हो गया है हीणे णं मम महासयए—महाशतक मेरे प्रति हीन अर्थात् दुर्भावना वाला हो गया है अवज्झायाण अह महासयएण समणोवासएणं—महाशतक मेरा बुरा चाहता है न नज्जइ ण अह—मै नही जानती केणवि कुमारेणं-मारिज्जिस्सामि—कि मै किस मौत मे मारी जाऊँगी (ऐसा विचार करके) भीया—भयभीत हुई तत्था—त्रसित हो कर तसिया—डर गई उव्विग्गा—उद्विग्न हो उठी संजाय भया—भय के कारण सणिय २ पच्चोसक्कइ—शनै २ वापिस लौटी पच्चोसक्कित्ता—लौट कर वहाँ से निकल कर जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ—जहाँ अपना घर था, वहाँ पर आई उवागच्छित्ता—आ कर ओहय जाव झियाइ—उदास हो कर चिंता मे डूब गई।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी महाशतक द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर सोचने लगी—"महाशतक मेरे से रुष्ट होगया है, मेरे प्रति बुरे विचार ला रहा है। न मालूम मै किस मौत से मारी जाऊँगी। यह विचार कर डर के कारण वहाँ से चली गई और अपने घर जा पहुँची।

रेवती का मरकर नरक मे उत्पन्न होना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी अंतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ना ॥ २५३ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्तः सप्तरात्रस्यालसकेन व्याधिनाऽभिभूताऽऽर्त्तदु खार्त्तवशार्त्ता कालमासे कालं कृत्वाऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां लोलुपाच्युते नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोपपन्ना।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी अंतो सत्तरत्तस्स—सात रात्री के अन्दर ही अलसएणं वाहिणा—अलसक व्याधि से अभिभूया—पीडित होकर अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा—चिन्तित, दुखी तथा विवश होकर कालमासे कालं किच्चा—काल मास मे काल कर इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे लोलुयच्चुए—लोलुपाच्युत नरए—नरक मे चउरासीइवाससहस्सट्ठिइएसु—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नेरइएसु—नारकियो मे नेरइयत्ताए उववन्ना—नारकी के रूप मे उत्पन्न हुई।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी सात दिनो के अदर अलस नामक रोग से पीडित हो कर चिन्तित दु खी तथा विवश होती हुई मर गई और लोलुपाच्युत नरक मे उत्पन्न हुई जहाँ ८४ हजार वर्षो की आयु प्राप्त हुई।

टीका—अलसएणं—महाशतक ने क्रुद्ध हो कर रेवती से कहा—तू अलसक रोग से पीडित हो कर सात दिन मे मर जायेगी। टीकाकार ने अलसक रोग का अर्थ विशूचिका (पेट का दर्द) किया है और इस विषय मे एक श्लोक उद्धृत किया है—

"नोर्ध्वं व्रजति नाधस्तादाहारो न च पच्यते।
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः॥"

अर्थात् जब आहार न तो ऊपर की ओर जाता है, न नीचे की ओर और न पचता है, आमाशय मे गाँठ की तरह जम जाता है, उसे अलसक रोग कहते हैं। इस से ज्ञात होता है कि अलसक मन्दाग्नि का उत्कट रूप है। हाथ पैरो की सूजन को भी अलसक कहते हैं। इसी प्रकार हाथ पैरो के स्तम्भन अर्थात् उनकी हलचल रुक जाने को अलसक कहा जाता है।

चुलनीपिता तथा सुरादेव के वर्णन मे आया है—कि पुत्र या पति के अस्थिर होने पर माता या पत्नी ने उन्हे धर्म मे स्थिर किया। महाशतक का उदाहरण इसके विपरीत है। यहा पति धर्म में स्थिर है और पत्नी उसे विचलित करना

चाहती है। पत्नी या परिवार की इस अनुकूलता तथा प्रतिकूलता को प्रदर्शित करने के लिए स्थानाङ्ग सूत्र मे एक रूपक दिया है—

१ साल का वृक्ष साल का परिवार।

२ साल का वृक्ष एरण्ड का परिवार।

३ एरण्ड वृक्ष साल का परिवार।

४ एरण्ड वृक्ष का एरण्ड परिवार।

इसी प्रकार गृहस्थ तथा उसके परिवार का सम्बन्ध भी चार प्रकार का है—

१ स्वय श्रेष्ठ और परिवार भी श्रेष्ठ।

२ स्वय श्रेष्ठ और परिवार निकृष्ट।

३ स्वय निकृष्ट और परिवार श्रेष्ठ।

४ स्वय निकृष्ट और परिवार भी निकृष्ट।

स्वय धर्म मे स्थिर होने पर भी रेवती के कारण महाशतक को क्रोध आ गया। उत्तराध्ययन सूत्र मे इसी प्रकार गुरु और शिष्य को प्रकट किया गया है—

अणासवा थूलवया कुसीला मिउंपि चंडंपकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयंपि॥

अर्थात् अविनीत, कठोर बोलने वाले तथा दुराचारी शिष्य कोमल हृदय गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं, और गुरु के मन को पहचानने वाले चतुर तथा सुशील शिष्य क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

भगवान् का आगमन—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरणं जाव परिसा पडिगया॥ २५४॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः समवसरणं यावत्परिषत् प्रतिगता।

शब्दार्थ—तेणं कालेण तेण समएणं—उस काल उस समय समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर आए समोसरण—समवसरण रचा गया जाव परिसा पडिगया—यावत् परिषद् वापिस चली गई।

भावार्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान समवसृत हुए। परिषद् आई और धर्मोपदेश सुन कर चली गई।

महाशतक के पास गौतम स्वामी को भेज कर उसका दोष बताना—

मूलम्—"गोयमा !" इ समणे भगव महावीरे एवं वयासी—"एवं खलु गोयमा ! इहेव रायगिहे नयरे मम अंतेवासी महासयए नामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणाए झूसिय-सरीरे भत्त-पाणपडियाइक्खिए काल अणवकंखमाणे विहरइ ॥ २५५ ॥

छाया—"गौतम !" इति श्रमणो भगवान् महावीर एवमवादीत्—"एवं खलु गौतम ! इहैव राजगृहे नगरे ममान्तेवासी महाशतको नाम श्रमणोपासक. पौषधशालायामपश्चिममारणान्तिकसलेखनया जोषितशरीरो भक्तपानप्रत्याख्यात कालमनवकाङ्क्षमाणो विहरति।"

शब्दार्थ—गोयमा इ—हे गौतम ! इस प्रकार समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर एवं वयासी—बोले—एवं खलु गोयमा—इस प्रकार हे गौतम ! इहेव रायगिहे नयरे—इसी राजगृह नगर मे ममं अतेवासी—मेरा अन्तेवासी महासयए नाम समणोवासए—महाशतक नाम का श्रमणोपासक पोसहसालाए—पौषधशाला मे अपच्छिममारणंतिय सलेहणाए—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना द्वारा झूसियसरीरे—जोषित शरीर होकर भत्तपाणपडियाइक्खिए—भक्त पान का प्रत्याख्यान (त्याग करके) कालं अणवकखमाणे—मृत्यु को न चाहता हुआ विहरइ—विचरता है।

भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—"इसी राजगृह नगर मे मेरा शिष्य महाशतक श्रावक पौषधशाला मे सलेखना द्वारा भक्तपान का परित्याग करके मृत्यु की कामना न करते हुए विचर रहा है।"

मूलम्---तए णं तस्स महासयगस्स रेवई गाहावइणी मत्ता जाव विकड्ढेमाणी २ जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए तेणेव उवागया, मोहुम्माय जाव एवं वयासी---तहेव जाव दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी ।। २५६ ।।

छाया---ततः खलु तस्य महाशतकस्य रेवती गाथापत्नी मत्ता यावद् विकर्षयन्ती २ येनैव पौषधशाला येनैव महाशतकस्तेनैवोपगता, महोन्माद—यावद् एवमवादीत्—तथैव यावद् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत् ।

शब्दार्थ—तए ण—एक दिन तस्स महासयगस्स—उस महाशतक की रेवई गाहावइणी—रेवती गाथापत्नी मत्ता जाव विकड्ढेमाणी २—उन्मत्त होकर उत्तरीय को गिराती हुई जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए तेणेव उवागया—जहाँ पौषधशाला और महाशतक श्रावक था, वहाँ आई, मोहुम्माय जाव एवं वयासी—यावत् मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाली बातें कहने लगी तहेव—उसी प्रकार दोच्चंपि तच्चंपि एव वयासी—दूसरी और तीसरी बार भी वही बात कही ।

भावार्थ—उसका महाशतक की पत्नी उन्मत्त होकर कपडे बिखेरती हुई वहाँ आई और महाशतक के सामने शृंगार भरी चेष्टाएँ तथा बातें करने लगी । उसके दो तीन बार ऐसा कहने पर महाशतक को क्रोध आ गया ।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइं गाहावइणिं एवं वयासी---जाव उववज्जिहिसि, "नो खलु कप्पइ, गोयमा ! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव झूसियसरीरस्स भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स परो सतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं अणिट्ठेहिं अकंतेहिं अप्पिएहिं अमणुण्णेहिं अमणामेहिं वागरणेहिं वागरित्तए ।" "तं गच्छ णं, देवाणुप्पिया ! तुमं महासययं समणोवासयं एव वयाहि--"नो खलु देवाणुप्पिया ! कप्पइ समणोवासगस्स अपच्छिम जाव भत्तपाण पडियाइक्खियस्स परो संतेहिं जाव वागरित्तए । तुमे य णं

देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी सतेहि ४ अणिट्ठेहिं ५ वागरणेहिं वागरिया । तं णं तुमं एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव जहारिहं च पाय-च्छित्तं पडिवज्जाहि" ॥ २५७ ॥

छाया—तत· खलु स महाशतक. श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्न्या द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्त सन् आशुरुप्त ४ अवधिं प्रयुनक्ति, प्रयुज्यावधिना आभोगयति, आभोग्य रेवतीं गाथापत्नीमेवमवादीत्—यावदुत्पत्स्यसे ! नो खलु कल्पते गौतम ! श्रमणोपासकस्याऽपश्चिमयावज्जोषितशरीरस्य भक्तपानप्रत्याख्यातस्य पर सद्भिस्तत्त्वैस्तथ्यै. सद्भूतैरनिष्टैरकान्तैरप्रियैरमनोज्ञैरमनआपैर्व्याकरणैर्व्याकर्त्तुम्" तद् गच्छ खलु देवानुप्रिय ! त्व महाशतक श्रमणोपासकमेव वद—"नो खलु देवानुप्रिय ! कल्पते श्रमणोपासकस्यापश्चिमयावद् भक्तपानप्रत्याख्यातस्य परः सद्भिर्यावद् व्याकर्त्तुम् ।" त्वया च खलु देवानुप्रिय ! रेवती गाथापत्नी ४ अनिष्टै., ५ व्याकरणैर्व्याकृता, तत खलु त्वमिद स्थानमालोचय यावद्यथार्हं च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यस्व ।"

शब्दार्थ—तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी द्वारा दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे—दूसरी तथा तीसरी बार ऐसा कहे जाने पर आसुरुत्ते ओहिं पउंजइ—क्रुद्ध हो गया और अवधिज्ञान का प्रयोग किया पउंजित्ता—प्रयोग करके ओहिणा आभोएइ—अवधिज्ञान द्वारा देखा आभोइत्ता—देखकर के रेवइं गहावइणि एव वयासी—रेवती गाथापत्नी को ऐसा कहने लगा । जाव उववज्जिहिसि—यावत् तू (नरक मे) उत्पन्न होगी, नो खलु कप्पइ गोयमा !—हे गौतम ! नही कल्पता समणोवासगस्स—श्रमणोपासक को अपच्छिम जाव झूसिय सरीरस्स—जिसने अन्तिम सलेखना ले रखी है और भत्तपाणपडियाइक्खियस्स—आहार पानी का त्याग कर रखा है परो—दूसरे व्यक्ति के प्रति सतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं—सत्य, तत्त्व, तथ्य तथा सद्भूत होने पर भी अणिट्ठेहि अकतेहि अप्पिएहि अमणुण्णेहिं अमणामेहि वागरणेहि वागरित्तए—अनिष्ट, अकान्त (अप्रिय) अमनोज्ञ-मन को अच्छा न लगने वाले अमनाम-विचार करने पर भी दुःखदायी वचन बोलना । तं गच्छणं देवाणुप्पिया !—

इसलिए हे देवानुप्रिय ! जाओ तुम **महासययं समणोवासयं एवं वयाहि**—तुम श्रमणोपासक महाशतक से ऐसा कहो—**नो खलु देवाणुप्पिया ! नो कप्पइ समणोवासगस्स**—हे देवानुप्रिय ! श्रमणोपासक को नही कल्पता **अपच्छिम जाव भत्तपाण—पडियाइक्खियस्स**—जिसने अन्तिम सलेखना यावत् आहार पानी का त्याग कर रखा है **परो संतेहिं जाव वागरित्तए**—दूसरे व्यक्ति के प्रति सत्य होने भी अनिष्ट यावत् वचन बोलना। **तुमे य ण देवाणुप्पिया !**—और तुमने हे देवानुप्रिय ! **रेवई गाहावइणी**—रेवती गाथापत्नी को **संतेहि ४ अणिट्ठेहि ५ वागरणेहिं वागरिया**—सत्य होने पर भी अनिष्ट बातें कही **तं णं तुम**—इसलिए तुम **एयस्स ठाणस्स आलोएहि**—इस भूल के लिए आलोचना करो **जाव**—यावत् **जहारिह च पायच्छित्तं पडिवज्जाहि**—यथायोग्य प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

भावार्थ—रेवती द्वारा दूसरी तथा तीसरी वार ऐसा कहने पर महशतक क्रुध हो गया। उसने अवधिज्ञान का प्रयोग करके रेवती का भविष्य देखा और उसने नरक मे उत्पन्न होने की वात कही। हे देवानुप्रिय ! मारणान्तिक सलेखना द्वारा भक्तपान का परित्याग करने वाले श्रमणोपासक को सत्य तथ्य, तथा सद्भूत होने पर भी ऐसे वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए जो अनिष्ट, अप्रिय तथा अमनोज्ञ हो। जिनके सत्य होने पर भी दूसरे को कष्ट हो। अत तुम जाओ और महाशतक से इस वात के लिए आलोचना एव प्रायश्चित्त के लिए कहो।

टीका—प्रथम अध्ययन मे भी भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को श्रावक आनन्द के पास भेजा था। उस समय गौतम स्वामी की अपनी भूल थी और उन्हे आनन्द से क्षमायाचना के लिए भेजा गया था। उन्होने आनन्द से कहा था कि श्रावक को इतना विशाल अवधिज्ञान नही हो सकता। अत असत्य भाषण के लिए आलोचना करो। महावीर के पास पहुँचने पर उन्हे अपनी भूल का पता लगा और भगवान् के आदेशानुसार वे क्षमा-प्रार्थना करने के लिए गये। महाशतक सच्चा होने पर भी दोषी था क्योकि उसने ऐसी वात कही थी जो दूसरे को कष्ट देने वाली थी। जीवन के अन्तिम अर्थात् सलेखना व्रत की आराधना करते समय श्रावक को कटु वचन नही वोलने चाहिएँ। भगवान् ने इस भूल की शुद्धि के लिए महाशतक के पास गौतम स्वामी को भेजा और कहलाया कि वात कितनी ही सत्य,

तथ्य या यथार्थ हो फिर भी यदि दूसरे को कष्ट देने वाली हो, अप्रिय है तो उसे नही कहना चाहिए। सूत्रकार ने यहाँ इस प्रकार के कथन के लिए कई विशेषण दिये हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं। नीचे टीकाकार के शब्दो के साथ उनकी व्याख्या दी जायेगी।

सतेहि—सद्भिर्विद्यमानार्थै.—सत् का अर्थ है वे—वचन जिनमे कही गई बात विद्यमान हो।

तच्चेहि—तथ्यैस्तत्त्वरूपैर्वाऽनुपचारिकै.—तच्चेहि का अर्थ है तत्त्व या तथ्य अर्थात् जिनका प्रयोग उपचार या गौण रूप मे नही हुआ है। हम अपने भाषण मे बहुत से शब्दो का प्रयोग गौण रूप मे करते हैं। उदाहरण के रूप मे पराक्रमी पुरुष को सिंह कहा है क्योंकि उसमे सिंह के समान शौर्य तथा पराक्रम आदि गुण विद्यमान हैं। इसी प्रकार क्रोधी व्यक्ति को आग कहा जाता है। तेजस्वी को सूर्य कहते हैं। इसका दूसरा प्रयोग उपचार के रूप मे होता है। टागे वाले को ओ टागे ! कहकर पुकारना। तत्त्व वचन उसको कहते हैं जहाँ गौण या औपचारिक प्रयोग नही है अपितु शब्द अपने असली अर्थ को लिए हुए हैं।

तहिएहि—तमेवोक्त प्रकारमापन्नैर्न मात्रयापि न्यूनाधिकै.—अर्थात् जैसे कहे गये हैं ठीक वैसे ही, जहा तनिक भी अतिशयोक्ति या न्यूनोक्ति नही है अर्थात् बात जितनी है उतनी ही कही गई है। उसमे न कुछ बढाया गया है न कुछ घटाया गया।

अनिष्टै.—अवाञ्छतै—अनिष्ट अर्थात् अवाञ्छित जिन्हे कोई न चाहता हो।

अकान्तै—स्वरूपेणाकमनीयै—जो सुन्दर न लगे अर्थात् भद्दे हो। अनिष्ट का अर्थ है जिन्हे सामने वाला न सुनना चाहता हो और अकान्त का अर्थ है जो प्रत्येक सुनने वाले को बुरे या भद्दे लगें। अनिष्ट तो सुनने वाले की अपेक्षा से है और अकान्त सर्वसाधारण की दृष्टि से।

अप्रियै·—अप्रीतिकारकै—अप्रिय अर्थात् जिन्हे सुनकर मन मे अप्रसन्नता या दु ख हो, यह भी सर्वसाधारण की दृष्टि से है।

अमनोज्ञै—मनसा न ज्ञायन्ते नाभिलष्यन्ते वक्तुमपि यानि तै—अमनोज्ञ अर्थात् जिन्हे मन बोलना नही चाहता।

अमन-आपै—न मनसा आप्यन्ते प्राप्यन्ते चिन्तयाऽपि यानि तैः वचने चिन्तने च येषां मनो नोत्सहत इत्यर्थ.—अर्थात् मन जिन्हे सोचना, विचारना भी नही चाहता।

मूल पाठ मे 'अमनामेहिं' शब्द आया है। किन्तु टीकाकार ने 'अमनआपै' दिया है दोनो का अभिप्राय एक ही है।

मूलम्—**तए ण से भगवं गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता तओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ २५८ ॥**

छाया—तत. खलु स भगवान् गौतम श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य तत. प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य राजगृहं नगर मध्यमध्येनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य येनैव महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य गृहं येनैव महाशतक श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति।

शब्दार्थ—**तए ण से भगवं गोयमे**—तदनन्तर श्री भगवान् गौतम ने **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर की **एयमट्ठ**—इस बात को **तहत्ति**—यही ठीक है कहकर **विणएण पडिसुणेइ**—विनय पूर्वक स्वीकार किया, **पडिसुणित्ता**—स्वीकार कर के **तओ पडिणिक्खमइ**—वहाँ से निकले **पडिणिक्खमित्ता**—निकल कर **रायगिहं नयरं मज्झं मज्झेण**—राजगृह नगर के बीच मे **अणुप्पविसइ**—प्रवेश किया **अणुप्पविसित्ता**—प्रवेश कर के **जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे**—जहाँ महाशतक श्रमणोपासक का घर था **जेणेव महासयए समणोवासए**—जहाँ महाशतक श्रमणोपासक था **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आये।

भावार्थ—भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर के कथन को 'ठीक है' कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया। वे वहाँ से चले और राजगृह नगर मे महाशतक के घर पहुँचे।

मूलम्——तए णं से महासयए समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ ॥ २५९ ॥

छाया—तत खलु स महाशतक. श्रमणोपासको भगवन्तं गौतममायान्तं पश्यति, दृष्ट्वा हृष्टवायावद् हृदयो भगवन्तं गौतमं वन्दते नमस्यति ।

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर महाशतक श्रमणोपासक ने भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ—भगवान् गौतम को आते हुए देखा पासित्ता—देख कर हट्ठ जाव हियए—हृदय मे हृष्ट-तुष्ट होकर भगव गोयमं—भगवान् गौतम को वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया ।

भावार्थ—महाशतक भगवान् गौतम को आते देख कर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ । और उन्हे वन्दना नमस्कार किया ।

मूलम्——तए णं से भगवं गोयमे महासययं समणोवासयं एवं वयासी——"एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ, भासइ, पण्णवेइ, परूवेइ"——"नो खलु कप्पइ, देवाणुप्पिया ! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव वागरित्तए । "तुमे णं देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी संतेहिं जाव वागरिआ," तं णं तुमं देवाणुप्पिया ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि" ॥ २६० ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमो महाशतकमेवमवादीत्—"एवं खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीर एवमाख्याति, भाषते, प्रज्ञापयति, प्ररूपयति—"नो खलु कल्पते देवानुप्रिय ! श्रमणोपासकस्यापश्चिम यावद् व्याकर्त्तुम्, त्वया खलु देवानुप्रिय ! रेवती गाथापत्नी सद्भिर्यावद् व्याकृता" तत्खलु त्वं देवानुप्रिय ! एतस्य स्थानस्याऽऽलोचय यावत् प्रतिपद्यस्व ।"

शब्दार्थ—तए णं से भगवं गोयमे—तदनन्तर भगवान् गौतम महासययं समणोवासयं एवं वयासी—महाशतक श्रमणोपासक से इस प्रकार बोले एवं खलु देवाणु-

प्पिया !—हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **एवमाइक्खइ**—ऐसा कहा है, **भासइ**—भाषण किया है, **पण्णवेइ**—प्रतिपादन किया है, **परूवेइ**—प्ररूपित किया है, **नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया !**—कि हे देवानुप्रिय ! नही कल्पता **समणोवासगस्स**—श्रमणोपासक को **अपच्छिम जाव वागरित्तए**—अतिम सलेखना धारी को यावत् ऐसा कहना, **तुमेण**—तुमने **देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिय ! **रेवई गाहावइणी**—रेवती गाथापत्नी को **सतेहिं जाव वागरिआ**—तथ्यरूप वचन कहे **तं ण तुम देवाणुप्पिया !**—अत हे देवानुप्रिय ! तुम **एयस्स ठाणस्स आलोएहि**—इस स्थान की आलोचना करो **जाव पडिवज्जाहि**—यावत् प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

भावार्थ—भगवान् गौतम ने महाशतक श्रमणोपासक से कहा—"देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का यह कथन है—कि सलेखनाधारी श्रावक को ऐसा कहना नही कल्पता। तुमने अपनी पत्नी रेवती को ऐसा कहा है। अत इस दोष की आलोचना करो यावत् यथा-योग्य प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

महाशतक की भूल स्वीकार करना और प्रायश्चित्त लेना—

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए भगवओ गोयमस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव अहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जइ ॥ २६१ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको भगवतो गौतमस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य तत् स्थानमालोचयति, यावद् यथार्हं च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ—**तए णं से महासयए समणोवासए**—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने **भगवओ गोयमस्स**—भगवान् गौतम की **एयमट्ठं**—इस बात को **तहत्ति**—तथेति (ठीक है) कह कर **विणएण पडिसुणेइ**—विनय पूर्वक स्वीकार किया **पडिसुणेत्ता**—स्वीकार करके **तस्स ठाणस्स आलोएइ**—उस बात की अलोचना की **जाव**—यावत् **अहारिहं च**—यथा योग्य **पायच्छित्तं पडिवज्जइ**—प्रायश्चित्त अङ्गीकार किया।

भावार्थ—महाशतक ने भगवान् गौतम की इस बात को विनय पूर्वक 'तथेति' कह कर स्वीकार किया और अपने दोष के लिए आलोचना, प्रायश्चित्त किया।

गौतम स्वामी का वापिस आना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे महासयगस्स समणोवासयस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ २६२ ॥

छाया—तत खलु स भगवान् गौतमो महाशतकस्य श्रमणोपासकस्यान्तिकात्प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य राजगृह नगरं मध्यं-मध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य श्रमण भगवन्तं महावीरं वदते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति।

शब्दार्थ—**तए ण से भगव गोयमे**—उसके पश्चात् भगवान् गौतम **महासयगस्स समणोवासयस्स**—महाशतक श्रमणोपासक के **अंतियाओ**—समीप से **पडिणिक्खमइ**—निकले **पडिणिक्खमित्ता**—निकल कर **रायगिहं नयरं मज्झ-मज्झेण निग्गच्छइ**—राजगृह नगरी के बीच मे से होते हुए **जेणेव**—जहाँ पर **समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ**—श्रमण भगवान् महावीर थे वहाँ आये **उवागच्छित्ता**—आकर **समण भगव महावीर**—श्रमण भगवान् महावीर को **वदइ नमसइ**—वन्दना नमस्कार किया **वदित्ता नमसित्ता**—वन्दना नमस्कार करके **संजमेण तवसा**—सयम और तप के द्वारा **अप्पाण भावेमाणे विहरइ**—आत्मा का विकास करते हुए विचरने लगे।

भावार्थ—भगवान् गौतम महाशतक श्रावक के पास से लौटे और राजगृह नगर के बीच होते हुए भगवान् महावीर के पास आए। उन्हे वन्दना नमस्कार किया और सयम तथा तप द्वारा आत्मविकास करते हुए विचरने लगे।

भगवान् महावीर का विहार—

मूलम्——तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ रायगिहाओ नयराओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं-विहरइ ॥ २६३ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचित् राजगृहान्नगरात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य वहिर्जनपदविहारं विहरति ।

शब्दार्थ——तए ण समणे भगव महावीरे—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर अन्नया कयाइ—एक दिन रायगिहाओ नयराओ—राजगृह नगरी से पडिणिक्खमइ—निकले पडिणिक्खमित्ता—निकल कर वहिया जणवय विहार विहरइ—अन्य जनपदो मे विचरने लगे।

भावार्थ——कुछ समय पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर से विहार करके अन्य जनपदो मे विचरने लगे ।

महाशतक के जीवन का उपसहार—

मूलम्——तए णं से महासयए समणोवासए बहूहिं सील जाव भावेत्ता वीस वासाइं समणोवासग-परियायं पाउणित्ता, एक्कारस उवासगपडिमाओ सम्मं काएण फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइए-पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणवडिसए विमाणे देवत्ताए उववन्ने । चत्तारि पलिओवमाइं ठिई । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवो ॥ २६४ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं महासययमज्झयणं समत्तं ॥

छाया——तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको बहुभि. शील यावद् भावयित्वा विंशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्याय पालयित्वा, एकादशोपासकप्रतिमाः सम्यक् कायेन

स्पृष्ट्वा मासिक्या सलेखनयाऽऽत्मान जोषयित्वा, षष्टि भक्तान्यनशनेन छित्त्वा आलोचितप्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्त कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पेऽरुणावतंसके विमाने देवतयोपपन्नः । चत्वारि पल्योपमानि स्थिति·, महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेप· ।

शब्दार्थ——**तए ण से महासयए समणोवासए**—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने **बहूहि सील जाव भावेत्ता**—अनेक प्रकार से शील व्रत आदि का यावत् पालन किया, इस प्रकार **वीस वासाइं**—२० वर्ष तक **समणोवासग-परियायं पाउणित्ता**—श्रमणोपासक पर्याय का पालन किया **एक्कारस पडिमाओ सम्मं काएण फासित्ता**—एकादश उपासक प्रतिमाएँ शरीर द्वारा सम्यक् रूप से ग्रहण की **मासियाए संलेहणाए**—एक मास की सलेखना द्वारा **अप्पाणं झूसित्ता**—अपने आपको जोषित करके **सट्ठि भत्ताइं**—साठ भक्तो के **अणसणाए छेदेत्ता**—अन्न पानी के अनशनको पूरा करके **आलोइय पडिक्कते समाहिपत्ते**—आलोचना प्रतिक्रमण द्वारा समाधि प्राप्त करके **कालमासे कालं किच्चा**—समय पूरा होने पर मृत्यु प्राप्त करके **सोहम्मे कप्पे**—सौधर्म कल्प **अरुणवडिंसए विमाणे**—अरुणावतसक विमान मे **देवत्ताए उववन्ने**—देव रूप मे उत्पन्न हुआ, **चत्तारि पलिओमाइं ठिई**—और चार पल्योपम की स्थिति प्राप्त की **महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ**—यावत् महाविदेह क्षेत्र मे सिद्धि प्राप्त करेगा। **निक्खेवो**—निक्षेप पूर्ववत् है ।

भावार्थ——महाशतक श्रावक अनेक प्रकार से शील एव व्रतो द्वारा आत्मविकास करने लगा। कुल २० वर्ष तक श्रावक पर्याय पालन की। ग्यारह प्रतिमाओ को अङ्गीकार किया। एक महीने की सलेखना द्वारा आत्मा को पवित्र करके साठ भक्तो का अनशन किया। आलोचना प्रतिक्रमण तथा समाधि द्वारा आत्मा को शुद्ध किया। इस प्रकार धर्मानुष्ठान करते हुए समय आने पर मृत्यु प्राप्त कर के सौधर्म देवलोक, के अरुणावतसक विमान मे उत्पन्न हुआ और चारपल्योपम की आयु प्राप्त की। वहा समय आने पर महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और सिद्धि प्राप्त करेगा।

टीका--उपरोक्त सूत्रो मे भगवान गौतम के आदेशानुसार महाशतक द्वारा प्रायश्चित्त का वर्णन है उसने अपनी भूल स्वीकार की। आलोचना तथा प्रतिक्रमण करके समाधि को प्राप्त हुआ। यहा समाधि का अर्थ है चित्त की प्रसन्नता। जब दोष रूपी काँटा निकल गया तो उसका चित्त प्रसन्न हो गया। अन्त मे शरीर परित्याग करके वह भी देवलोक मे उत्पन्न हुआ और अन्य श्रावको के समान महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का अष्टम महाशतक अध्ययन समाप्त ॥

नवमज्झयणं

नवम अध्ययन

मूलम्——नवमस्स उक्खेवओ, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। तत्थ णं सावत्थीए नयरीए नंदिणीपिया नाम गाहावई परिवसइ, अड्ढे। चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ वुड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया दस-गोसाहस्सिएणं वएणं। अस्सिणी भारिया ॥ २६५ ॥

छाया——नवमस्योपक्षेपक। एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रावस्ती नगरी, कोष्ठकश्चैत्य। जितशत्रू राजा। तत्र खलु श्रावस्त्यां नगर्या नंदिनीपिता नाम गाथापति· परिवसति, आढ्य·। चतस्रो हिरण्य-कोटचो निधानप्रयुक्ता, चतस्रो हिरण्य-कोटचो वृद्धिप्रयुक्ता·, चतस्रो हिरण्यकोटच प्रविस्तरप्रयुक्ता, चत्वारो व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन। अश्विनी भार्या।

शब्दार्थ——नवमस्स उक्खेवओ—नवम अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् ही है। एवं खलु जम्बू !—सुधर्मास्वामी ने अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण—उस काल उस समय सावत्थी नयरी—श्रावस्ती नामक नगरी थी, कोट्ठए चेइए—कोष्ठक चैत्य था जियसत्तू राया—और जित शत्रु राजा था तत्थ णं सावत्थीए नयरीए—उस श्रावस्ती नगरी मे नंदिणीपिया नाम गाहावई परिवसइ—नन्दिनीपिता नामक गाथापति रहता था अड्ढे—वह आढच अर्थात् सम्पन्न था चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाण पउत्ताओ—उसकी चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोप मे थी चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढि पउत्ताओ—चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ व्यापार मे लगी हुई थी तथा चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपउत्ताओ—चार करोड सुवर्ण

मुद्राएँ घर तथा सामान मे लगी हुई थी, चत्तारि वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं —प्रत्येक मे दस हजार गायो वाले चार व्रज अर्थात् गोकुल थे, अस्सिणी भारिया— अश्विनी नामक भार्या थी।

भावार्थ—नवम अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् है। सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य से कहा—हे जम्बू ! उस समय श्रावस्ती नगरी तथा कोष्ठक चैत्य था। जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगरी मे नन्दिनीपिता नामक गाथापति रहता था। वह धन आदि से परिपूर्ण था। उसकी चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोश मे सञ्चित थी, चार करोड व्यापार मे लगी हुई थी तथा चार करोड घर तथा सामान में लगी हुई थी। प्रत्येक मे दस हजार गायो के हिसाब से चार व्रज थे। अश्विनी नामक भार्या थी।

मूलम्—सामी समोसढे। जहा आणंदो तहेव गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। सामी बहिया विहरइ ॥ २६६ ॥

छाया—स्वामी समवसृत.। यथाऽऽनन्दस्तथैव गृहिधर्म प्रतिपद्यते। स्वामी बहिर्विहरति।

शब्दार्थ—सामी समोसढे।—स्वामी समवसृत हुए जहा आणदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया सामी बहिया विहरइ—महावीर स्वामी अन्य जनपदो मे विहार कर गये।

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए ! आनन्द के समान उस नन्दिनीपिता ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। उसके बाद भगवान् महावीर स्वामी अन्य जनपदो मे विहार कर गये।

मूलम्—तए णं से नदिणीपिया समणोवासए जाए जाव विहरइ ॥ २६७ ॥

छाया—ततः खलु स नन्दिनीपिता श्रमणोपासको जातो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं नंदिणीपिया समणोवासए जाए—तदनन्तर वह नन्दिनीपिता श्रमणोपासक बन कर जाव विहरइ—यावत् विचरने लगा ।

भावार्थ—नन्दिनीपिता श्रावक बन कर विचरने लगा ।

मूलम्—तए णं तस्स नंदिणीपियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सीलव्वय-गुण जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं । तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ । धम्मपण्णत्तिं । वीसं वासाइं परियागं । नाणत्तं अरुणगवे विमाणे उववाओ । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवओ ॥ २६८ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं नवमं नन्दिणीपियाज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु तस्य नंदिनीपितुः श्रमणोपासकस्य बहुभिः शील-व्रत-गुण यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सरा व्युत्क्रान्ता । तथैव ज्येष्ठं पुत्रं स्थापयति । धर्मप्रज्ञप्तिम् । विंशति वर्षाणि पर्यायम् । नानात्वमरुणगवे विमाने उपपातः । महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेपः ।

शब्दार्थ—तए णं तस्स नंदिणीपियस्स समणोवासयस्स—तदनन्तर उस नन्दिनीपिता श्रमणोपासक को बहूहिं सीलव्वयगुण जाव भावेमाणस्स—अनेक प्रकार के शील व्रतादि से आत्मा को भावित करते हुए चोद्दस संवच्छरा वइक्कंताइं—१४ वर्ष बीत गए तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ—आनन्द की भाँति उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को स्व-कुटुम्ब का स्वामी बना दिया धम्मपण्णत्ति—और भगवान के पाससे ग्रहण की हुई धर्मप्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा । वीस वासाइं परियागं—वह बीस वर्ष तक श्रमणोपासक अवस्था मे रहा, शेष पहले की भाँति है नाणत्त—इतना अन्तर है कि उववाओ—उसकी उत्पत्ति अरुणगवे विमाणे—अरुणगव विमान मे हुई, महाविदेहे वासे सिज्झिहि—महाविदेह क्षेत्र मे सिद्ध होगा । निक्खेवो—निक्षेप पूर्ववत् है ।

वया दस गोसाहस्सिएण वएणं—प्रत्येक मे दस हजार गायों वाले चार व्रज अर्थात् गोकुल थे **फग्गुणी भारिया**—और फाल्गुनी भार्या थी ।

भावार्थ—दसवे अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् ही है । श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! उस काल उस समय श्रावस्ती नगरी मे कोष्ठक चैत्य था और जितशत्रु राजा था । उस श्रावस्ती नगरी मे सालिहीपिया नामक गथापति रहता था । वह धन-धान्य से समृद्ध था । उसकी चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे सञ्चित थी, चार करोड व्यापार मे लगी हुई थी तथा चार करोड घर तथा सामान मे लगी हुई थी । प्रत्येक मे १० हजार गायो वाले चार गो-व्रज थे और फाल्गुनी नामक पत्नी थी ।

मूलम्—**सामी समोसढे ! जहा आणदो तहेव गिहि-धम्मं पडिवज्जइ । जहा कामदेवो तहा जेट्ठं पुत्तं ठवेत्ता पोसह-सालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । नवरं निरुवसग्गाओ एक्कारसवि उवासग-पडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ, एवं कामदेव-गमेणं नेयव्वं जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने । चत्तारि पलिओवमाइं ठिई । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवो ॥ २७० ॥**

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं दसमं सालिहीपियाज्झयणं समत्तं ॥

छाया—स्वामी समवसृत. यथाऽऽनन्दस्तथैव गृहिधर्म प्रतिपद्यते ! यथा कामदेवस्तथा ज्येष्ठं पुत्रं स्थापयित्वा पौषधशालाया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति, नवर निरुपसर्गा एकादशाप्युपासकप्रतिमास्तथैव भणितव्याः । एव कामदेवगमेन ज्ञातव्य यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणकीले विमाने देवतयोपपन्न । चत्वारिपल्योपमानि स्थिति । महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति ।

शब्दार्थ—**सामी समोसढे**—स्वामी समवसृत हुए **जहा आणंदो तहेव गिहिधम्म पडिवज्जइ**—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया **जहा कामदेवो तहा जेट्ठ पुत्त ठवेत्ता**—कामदेव के समान उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब भार सौप कर **पोसहसालाए**—पौपधशाला मे **समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ति**

उवसंपज्जित्ताण विहरइ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से ग्रहण की हुई धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा, **नवरं निरुवसग्गाओ**—इतना विशेष है कि उसे कोई उपसर्ग नही हुआ, **एक्कारसवि उवासगपडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ**—११ उपासक प्रतिमाओ का प्रतिपादन उसी प्रकार है। **एवं कामदेवगमेण नेयव्व**—इसी प्रकार सारी घटनाएँ कामदेव श्रावक के समान ही समझनी चाहिएँ **जाव**—यावत् **सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने**—सौधर्मकल्प मे अरुणकील विमान मे देव रूप मे उत्पन्न हुआ। **चत्तारि पलिओवमाइं ठिई**—चार पल्योपम की स्थिति है, **महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ**—यह महाविदेह क्षेत्र मे सिद्ध होगा।

भावार्थ—स्वामी समवसृत हुए। आनन्द के समान सालिहीपिया ने भी गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया और आनन्द के समान ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौप कर पौषधशाला मे भगवान् महावीर से ग्रहण की हुई धर्म-प्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। विशेष इतना है कि उसे कोई उपसर्ग नही हुआ। ११ उपासक प्रतिमाओ का प्रतिपादन उसी प्रकार है। इसी प्रकार सारी घटनाएँ कामदेव श्रावक के समान समझनी चाहिएँ। यावत् सौधर्मकल्प मे अरुणकील विमान मे देवरूप मे उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी चार पल्योपम की स्थिति है तथा वहाँ वह महाविदेह क्षेत्र मे सिद्ध होगा।

।। सप्तम अङ्ग उपासकदशा का दशम सालिहीपियाध्ययन समाप्त ।।

।। उपसहार ।।

मूलम्—**दसण्हवि पणरसमे सवच्छरे वट्टमाणाणं चिता। दसण्हवि वीसं वासाइं समणोवासय-परियाओ ।। २७१ ।।**

छाया—दशानामपि पञ्चदशे सवत्सरे वर्त्तमानानां चिन्ता। दशानामपि विंशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्याया:।

शब्दार्थ—**दसण्हवि पणरसमे संवच्छरे वट्टमाणाण चिता**—दसो ही श्रावको को १५ वर्ष मे कुटुम्ब का भार परित्यागकर विशिष्ट धर्म-साधना की चिन्ता उत्पन्न हुई। **दसण्हवि वीसं वासाइ समणोवासयपरियाओ**—और दसो ने ही २० वर्ष पर्यन्त श्रावक पर्याय का पालन किया।

भावार्थ—दसो श्रावको को १५वें वर्ष मे कुटुम्ब भार को त्याग कर धर्म-साधना की चिन्ता हुई और दसो ने ही २० वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन किया ।

मूलम्—एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते ॥ २७२ ॥

छाया—एवं खलु जम्बूः ! श्रमणेन यावत्सप्राप्तेन सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां दशमस्याऽध्ययनस्यायमर्थ प्रज्ञप्तः ।

शब्दार्थ—**एव खलु जम्बू !**—इस प्रकार हे जम्बू ! **समणेण जाव सपत्तेण**—श्रमण भगवान् यावत् जिन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया है **सत्तमस्स अंगस्स**—सातवे अङ्ग **उवासगदसाणं**—उपासक दशाङ्ग-सूत्र के **दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते**—दसवें अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है ।

भावार्थ—इस प्रकार हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर जिन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, सातवे अङ्ग उपासकदशाङ्ग-सूत्र के दसवे अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है।

मूलम्—उवासगदसाणं सत्तमस्स अंगस्स एगो सुयखधो । दस अज्झयणा एक्कसरगा दससु चेव दिवसेसु उद्दिस्सिज्जति । तओ सुयखंधो समुद्दिस्सिज्जइ, अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु, अंगं वहेव ॥ २७३ ॥

॥ उवासगदसाओ समत्ताओ ॥

छाया—उपासकदशाना सप्तमस्याङ्गस्यैक. श्रुतस्कन्ध· । दश अध्ययनानि एकस्वरकाणि, दशसु चैव दिवसेषु उद्दिष्यन्ते । तत श्रुतस्कन्ध समुद्दिष्यते । अनुविज्ञायते द्वयोर्दिवसयोरङ्गस्तथैव ।

शब्दार्थ—**उवासगदसाण**—उपासकदशा नामक **सत्तमस्स अंगस्स**—सातवे अङ्ग का **एगो सुयखंधो**—एक श्रुतस्कन्ध है । **दस अज्झयणा**—दस अध्ययन हैं, **एक्कसरगा**—प्रत्येक मे एक जैसा स्वर या पाठ है **दससु चेव दिवसेसु**—और दस दिनो मे

उद्दिस्सिज्जति—पढे जाते ह तम्रो सुयखधो समुद्दिस्सिज्जइ--इस श्रुतस्कन्ध का पाठ पूरा हो जाता है। अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु अंग तहेव—इसी प्रकार दो दिन मे भी इस अग के पाठ की अनुमति दी गई है।

भावार्थ---उपासकदशा नामक सातवे अङ्ग मे एक श्रुतस्कन्ध है। दस अध्ययन हैं। जिनमे एक ही सरीखा स्वर अर्थात् पाठ है। इसका पाठ दस दिनो मे पूरा किया जाता है। ऐसा करने पर श्रुतस्कन्ध का पाठ हो जाता है। इसका पाठ दो दिन मे करने की अनुमति भी है।

टीका---उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग के दस अध्ययन और एक श्रुतस्कन्ध है। श्रुतस्कन्ध का अर्थ है श्रुत अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान का स्कन्ध। जैन आगमो का ग्रन्थ विभाजन अनेक प्रकार से मिलता है। किसी आगम का मूल खण्डो के रूप मे जो विभाजन किया गया है, उन्हे श्रुतस्कन्ध कहा गया है। श्रुतस्कन्धो का विभाजन अध्ययनो के रूप मे किया जाता है और अध्ययनो का उद्देशो के रूप मे। उद्देश का अर्थ है—एक प्रकरण या पाठ जिसका स्वाध्याय प्राय एक ही बार मे किया जाता है। उपनिषदो मे इसके लिए प्रपाठक शब्द आया है। प्रस्तुत सूत्र मे एक श्रुतस्कन्ध है अर्थात् खण्डो मे विभाजन नही है। इसमे दस अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन मे एक श्रावक का वर्णन है। अध्ययनो का उद्देशो के रूप मे विभाजन नही है। यहाँ 'एक्कसरगा' शब्द का प्रयोग है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि पाठ मे एक ही शैली अर्थात् गद्य का प्रयोग किया गया है। गाथा या पद्य का नही। दूसरा अर्थ यह है कि प्रत्येक अध्ययन मे एक ही प्रकरण है अर्थात् उसका उपविभाजन नही है। प्रस्तुत सूत्र का स्वाध्याय दस दिनो मे पूरा करने की परिपाटी है। किन्तु दो दिनो मे पूरा करने की अनुमति भी दी गई है।

इति श्री जैनधर्मदिवाकर जैनाचार्य पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज
द्वारा अनुवादित—

॥ श्री उपासकदशाङ्ग-सूत्र समाप्त ॥

संग्रह-गाथाएँ

वाणियगामे चम्पा दुवे य वाणारसीए नयरीए।
आलभिया य पुरवरी कंपिल्लपुरं च बोद्धव्वं ॥ १ ॥
पोलासं रायगिहं सावत्थीए पुरीए दोन्नि भवे।
एए उवासगाणं नयरा खलु होन्ति बोद्धव्वा ॥ २ ॥
सिवनंद-भद्द-सामा धन्न-बहुल-पूस-अग्गिमित्ता य।
रेवई-अस्सिणि तह फग्गुणी य भज्जाण नामाइं ॥ ३ ॥
ओहिण्णाण-पिसाए माया वाहि-धण-उत्तरिज्जेय।
भज्जा य सुव्वया दुव्वया निरुवसग्गया दोन्नि ॥ ४ ॥
अरुणे अरुणाभे खलु अरुणप्पह अरुणकंत-सिट्ठे य।
अरुणज्झए य छट्ठे भूय-वडिंसे गवे कीले ॥ ५ ॥
चाली सट्ठि असीई सट्ठी सट्ठी य सट्ठी दस सहस्सा।
असिए चत्ता चत्ता एए वइयाण य सहस्सा ॥ ६ ॥
बारस अट्ठारस चउवीसं तिविहं अट्ठारसाइ नेयं।
धन्नेण ति-चोवीसं बारस य कोडीओ ॥ ७ ॥
उल्लण-दन्तवण-फले अब्भिगणुव्वट्टणे सणाणे य।
वत्थ-विलेवण-पुप्फे आभरणं धूव-पेज्जाइ ॥ ८ ॥
भक्खोयण-सूय-घए सागे माहुर-जेमणऽन्नपाणे य।
तम्बोले इगवीसं आणंदाईण अभिग्गहा ॥ ९ ॥
उड्ढं सोहम्मपुरे लोलूए अहे उत्तरे हिमवन्ते।
पंचसए तह तिर्दिसि, ओहिण्णाणं दसगणस्स ॥१०॥
दंसण-वय-सामाइय-पोसह—पडिमा-अबंभ-सच्चित्ते।
आरम्भ—पेस—उद्दिट्ठ—वज्जए समणभूए य ॥११॥
इक्कारस पडिमाओ वीसं परियाओ अणसणं मासे।
सोहम्मे चउपलिया, महाविदेहम्मि सिज्झहिइ ॥१२॥

॥ उवासगदसाओ समत्ताओ ॥

उपरोक्त संग्रह गाथाएँ ग्रन्थ का मूल पाठ नही है। उनमे निर्युक्तिकार ने सारे सूत्र का संक्षिप्त परिचय दिया है, जिसका भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है—

श्रावक और उनकी नगरियाँ

वाणिज्य ग्राम मे एक श्रावक हुआ	—आनन्द।
चम्पा मे	—कामदेव।
वाराणसी	—चुलनीपिता और सुरादेव।
आलभी	—चुल्लशतक।
काम्पिल्यपुर	—कुण्डकौलिक।
पोलासपुर	—सद्दालपुत्र।
राजगृह	—महाशतक।
श्रावस्ती	—नन्दिनीपिता और सालिहीपिया।

श्रावको की भार्याएँ

१ आनन्द की शिवानन्दा।	६ कुण्डकौलिक की पुष्या।
२ कामदेव की भद्रा।	७ सद्दालपुत्र की अग्निमित्रा।
३ चुलनीपिता की श्यामा।	८ महाशतक की रेवती आदि तेरह भार्याएँ।
४ सुरादेव की धन्या।	९ नन्दिनीपिता की अश्विनी।
५ चुल्लशतक की बहुला।	१० सालिहीपिया की फाल्गुनी।

विशेष घटनाएँ

१ आनन्द—अवधिज्ञान और गौतम स्वामी का सन्देह।

२ कामदेव—पिशाच का उपसर्ग और श्रावक का अन्त तक दृढ रहना।

३ चुलनीपिता—पिशाच द्वारा माता भद्राके वधका कथन सुनकर विचलित होना।

४ सुरादेव—पिशाच द्वारा सोलह भयंकर रोग उत्पन्न करने की धमकी और उसका विचलित होना।

५ चुल्लशतक—पिशाच द्वारा सम्पत्ति बिखेरने की धमकी और उसका विचलित होना।

६ कुण्डकौलिक—देव द्वारा उत्तरीयक तथा अंगूठी का उठाना एवं गोशालक के मत की प्रशंसा करना, कुण्डकौलिक की दृढता और देव का निरुत्तर होना।

२ कामदेव—१८ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड ।
३ चुल्लनीपिता—२४ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे आठ करोड ।
४ सुरादेव—१८ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड ।
५ चुल्लशतक—१८ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड ।
६. कुण्डकौलिक—१८ करोड—प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड ।
७ सद्दालपुत्र—३ करोड—प्रत्येक मे एक करोड ।
८ महाशतक—२४ करोड निजी । आठ करोड रेवती का था ।
९ नन्दिनीपिता—१२ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे चार करोड ।
१० सालिहीपिया—१२ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे चार करोड ।

अभिग्रह अर्थात् भोग्य वस्तुओ की मर्यादा—

आनन्द आदि श्रावको ने नीचे लिखी २१ बातो मे मर्यादा कर रखी थी—

१ उल्लण—स्नान के पश्चात् अग पोछने के काम मे आने वाले अगोच्छे या तौलिये का ।
२ दन्तवण—दातुन ।
३ फले—फल ।
४ अभगण—अभ्यगन अर्थात् मालिश करने के तेल ।
५ उव्वट्टण—उवट्टन अर्थात अङ्गो पर मलने के लिए सुगन्धित आटा ।
६ नहाण—स्नान के लिए पानी का परिमाण ।
७ वत्थ—वस्त्र, पहनने के कपडे ।
८ विलेपण—विलेपन, चन्दन कस्तूरी आदि लेप करने के द्रव्य ।
९ पुप्फे—पुष्प-फूल माला आदि ।
१० आभरण—आभूषण जेवर ।
११ धूव—धूपवत्ती आदि कमरे को सुगन्धित करने वाली वस्तुएँ ।
१२ पेज्ज—पेय-शरवत ठडाई आदि पीने की वस्तुएँ ।
१३ भक्ख—भक्ष्य-पकवान या मिठाई ।
१४ ओयण—ओदन अर्थात् चावल, यह उन दिनो विहार का मुख्य भोजन था ।
१५ सूय—सूप-दाले ।
१६ घए—घृत-घी ।

१७ साग—शाक-पकाई जाने वाली सब्जिया ।

१८ माहुर—माधुर-गुड चीनी आदि भोजन मीठा बनाने वाली वस्तुएँ ।

१९ जेमण—दही, बडे, पकोडे, पापड़ आदि भोजनोपरान्त खाई जाने वाली वस्तुएँ ।

२० पाणे—पानीय-कुआ, नदी, सरोवर, बादलो आदि का पानी पीने के लिए ।

२१ तम्बोल—ताम्बूल अर्थात् पान और उसमे खाये जाने वाले मसाले ।

अवधिज्ञान की मर्यादा

दो श्रावको को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ और वे विभिन्न दिशाओ मे नीचे लिखे अनुसार देखने जानने लगे ।

पूर्वदिशा—लवणसमुद्र मे पाँच सौ योजन तक। इसी प्रकार दक्षिण और पश्चिम मे ।

उत्तरदिशा—चुल्ल हिमवान् पर्वत तक ।

ऊर्ध्वदिशा—सौधर्म देवलोक मे सौधर्म कल्प विमान तक ।

अधोदिशा—प्रथम रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक मे लोलुपाच्युत नामक स्थान तक जहाँ चौरासी हजार वर्ष की आयु वाले नारकी जीव रहते हैं। महाशतक ने तीनो दिशाओ मे हजार हजार योजन तक अवधिज्ञान से जाना और देखा ।

ग्यारह प्रतिमाएँ

प्रत्येक श्रावक ने ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की थी। इनका निरूपण अन्यत्र किया जा चुका है। उनके नाम नीचे लिखे अनुसार है ।

१ दर्शन	७ सचित्त परित्याग
२ व्रत	८ आरम्भ परित्याग
३ सामायिक	९ प्रेष्य अर्थात् नौकर आदि भेजने का परित्याग ।
४ पौषध	१० उद्दिष्ट भोजन परित्याग ।
५ दिवाब्रह्मचारी	११ श्रमणभूत
६ ब्रह्मचर्य	

प्रत्येक श्रावक ने बीस वर्ष तक व्रत एव प्रतिमाओ का पालन किया और अन्त मे सल्लेखना द्वारा देह का परित्याग करके सौधर्म देवलोक मे चार पल्योपम की आयु प्राप्त की। वहा से च्यव कर सबके सब महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगे और सिद्धि प्राप्त करेंगे ।

परिशिष्ट

उपासकदशाङ्ग

प्रस्तुत सूत्र का नाम उवासगदसाओ है। साधारणतया इसे उपासकदशाङ्ग कहा जाता है। अङ्गसूत्रो मे गणना होने के कारण इसके साथ 'अङ्ग' पद जोड दिया गया है। शेप दो अर्थात् 'उपासक' और 'दश' शब्द इसके प्रतिपाद्य विपय को प्रकट करते हैं। इसमे दस उपासको का वर्णन है। उपासक शब्द सस्कृत की आस् उप-वेशने धातु से पहले उप उपसर्ग लगाने पर बना है। इसी से उपासना शब्द भी बनता है। उपासक का अर्थ है उपासना करने वाला। उपासना का अर्थ है समीप वैठना। वेद तथा उपनिपदो मे अग्नि, सूर्य, प्राण प्रणव अर्थात् ओकार दहर अर्थात् हृदयाकाश आदि अनेक प्रकार की उपासनाओ का वर्णन है। वहाँ इसका यही अर्थ है कि अपने लक्ष्य का बार २ चिन्तन करना और अन्य सव बातो से हटकर उसी के ध्यान मे लगे रहना। किन्तु यहाँ इसका अर्थ है अरिहन्त तथा साधुओ की उपासना करने वाला अर्थात् उनके समीप वैठकर धर्मकथा सुनने वाला। उपनिपत् शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट करता है। नी पूर्वक शद् धातु का अर्थ है वैठना और उसका अर्थ है समीप। इसी प्रकार का दूसरा शब्द उपोसह है। इसका सस्कृत रूप है उपवसत्थ अर्थात् पास मे वसना। जव श्रावक व्रत लेकर कुछ समय के लिए मुनियो के पास रहने का निश्चय करता है तो उसे उपवसत्थ कहा जाता है। उपवास शब्द भी इसी अर्थ को लिए हुए है किन्तु वहाँ आचार्य या गुरु के स्थान पर आत्मा अर्थ लिया जाता है। उपवास का अर्थ है, भोजन आदि वाह्य व्यापार छोडकर निरन्तर आत्मचिन्तन मे लीन रहना। उपस्थिति शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट करता है

अड्ढे जाव अपरिभूए—जिस प्रकार अग्निशिखा से प्रज्वलित तथा वायु रहित स्थान मे रखा हुआ दीप प्रकाश देता है रहता है उसी प्रकार आनन्द भी प्रदीप्त अर्थात् दूसरो के लिए प्रकाश दाता था। उसके पास जो सम्पत्ति थी उसकी तुलना तेल और वत्ती से की गई है। उदारता, गम्भीरता आदि गुणो की शिखा से और दीप्ति से। और मर्यादा पालन की वायु रहित स्थान से। तेजस्वी जीवन के लिए इन सव बातो की आवश्यकता है अर्थात् उसके तीन तत्व हैं वैभव, सद्‌गुण, और मर्यादापालन इसी जीवन को आढ्य शब्द से प्रकट किया गया है। दूसरा विशेपण अपरिभूत है। इसका अर्थ है परिभव या अनादर का न होना जो व्यक्ति सम्पन्न,

सद्‌गुणों, तथा मर्यादा मे स्थिर है उसका कही तिरस्कार नही होता। आढ्यता और अपरिभव आदर्श गृहस्थ के मूल तत्त्व हैं।

तस्स ण आणन्दस्स—प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द गाथापति की सम्पत्ति का वर्णन किया गया है उसके पास बारह कोटि सुवर्ण था। चार कोटि कोप मे सगृहीत तथा ४ वृद्धि के लिए व्यापार मे लगा हुआ था, और चार गृह सामग्री मे यह विभाजन तत्कालीन अर्थ व्यवस्था को सूचित करता है इसका अर्थ है उस समय सम्पत्ति के तीन विभाग किए जाते थे और प्रत्येक मे समान रूप से अर्थ का विनियोग किया जाता था। जितना व्यापार मे लगाया जाता था उतना ही कोप मे भी रखा जाता था, जिसका व्यापार मे क्षति या सकट के समय उपयोग हो सके। इससे तत्कालीन गृहस्थों की दूरदर्शिता प्रकट होती है।

उस समय सुवर्ण नाम का सिक्का प्रचलित था। शक काल मे इसे दीनार कहा गया। यह शुद्ध सुवर्ण और ३२ रत्ती का होता था।

मुद्रा के रूप उपरोक्त धन के अतिरिक्त आनन्द के पास गोधन भी विशाल सख्या मे था। यहा गो शब्द का अर्थ केवल गाय नही है, बैल, तथा अन्य पशु भी उसमे आ जाते हैं फिर भी यह मानना पडता है कि उस समय गृहस्थ के काम मे आने वाले मुख्य पशु गाय और बैल ही थे। गौओ से दूध घी मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थ प्राप्त होते थे।

महाकवि कालीदास ने राजा दिलीप के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए उसे वृषस्कन्ध कहा है, अर्थात् उसके कन्धे बैल के समान उभरे हुए थे। जैन, बौद्ध, एव प्राचीन वैदिक साहित्य मे बैल को अत्यन्त शुभ, भार ढोने मे समर्थ तथा संकट काल मे साहस न तोडने वाला बताया गया है। साथ ही वह अहिंसक भी होता है। कालान्तर मे जब हिंसा एव क्रूरता को क्षत्रियो का गुण माना जाने लगा तो उनकी उपमा सिंह से दी जाने लगी।

अस्तिकवाद—आस्तिक और नास्तिक शब्द को लेकर अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। मनु-स्मृति मे आया है—

योऽन धीत्य द्विजो वेदान्, अन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स शूद्रवत् बहिष्कार्य, नास्तिको वेदनिदक ॥

—मनु स्मृति।

अर्थात् जो ब्राह्मण वेदो को विना पढे अन्यत्र परिश्रम करता है वह नास्तिक तथा वेदनिन्दक है। उसे शूद्र के समान वहिष्कृत कर देना चाहिए। मनु की दृष्टि मे जो व्यक्ति वेदो मे श्रद्धा नही रखता वह नास्तिक है। किन्तु इस दृष्टि मे मीमासा तथा वेदान्त को छोड कर सभी दर्शनो को नास्तिक मानना होगा।

पाणिनीय मे आस्तिक और नास्तिक शब्द की व्युत्पत्ति के लिए नीचे लिखा सूत्र दिया है—"**अस्ति नास्ति दिष्ट मति**"। अर्थात् जिस व्यक्ति के मत मे परलोक है, वह आस्तिक है। जिसके मत मे नही है, वह नास्तिक है। और जो दिष्ट अर्थात् भाग्य को मानता है वह दैष्टिक है। कठोपनिषद् इन शब्दो की व्याख्या मरने के वाद आत्मा के अस्तित्वको लेकर की गई है। जो लोग मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व मानते हैं वे आस्तिक हैं और जो नही मानते वे नास्तिक हैं।

भगवान महावीर ने अपने आस्तिकवाद को आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ मे प्रकट किया है। वहाँ उन्होने चार वाते वताई हैं—

१ आत्मावादी—अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को मानने वाला।
२ लोकवादी—विश्व के अस्तित्व को मानने वाला।
३ कर्मवादी—पुरुषार्थ, शुभाशुभ फल को मानने वाला।
४ क्रियावादी—पुरुषार्थ मे विश्वास रखने वाला।

भौगोलिक स्थानो का परिचय

आलभिया (पाली-आलवी, अर्धमागधी-आलभो)

भगवान् महावीर १८ वे वर्षावास के लिए आलभिया आये और चुल्लशतक को श्रावक बनाया। यह नाम जनपद और नगर दोनो के लिए मिलता है। आलभिया नगर आलभिया जनपद की राजधानी थी। इसे श्रावस्ती से ३० योजन तथा बनारस से १२ योजन बताया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वह राजगृह तथा श्रावस्ती के बीच रही होगी। कन्निङ्घम तथा होरनले ने इसकी उत्तरप्रदेश के उनाओ जिले के नावाल अथवा नेवाल नामक स्थान के साथ एकता बताई है। परन्तु नन्द लालडे का मत है कि इटावा से २७ मील उत्तर पूर्व मे स्थित अविवा नामक स्थान ही आलभिया है।

कम्पिल्लपुर—भगवान महावीर ने अपना २१ वा वर्षावास कपिल्लपुर (सकाम्पित्यपुर) मे किया और कुण्डकौलिक को अपना अनुयानी बनाया। इस स्थान का निर्देश महाभारत बौद्ध साहित्य तथा सस्कृत साहित्य मे अनेक बार आया है। ज्ञात होता है कि उन दिनो यह विशाल नगर और व्यापार का केन्द्र रहा होगा। बौद्धो के कुम्भकारजातक मे इसे उत्तर पञ्चाल की राजधानी और गङ्गा के उत्तरी तट पर बताया गया है। किन्तु महाभारत मे इसे दक्षिण पञ्चाल की राजधानी बताया है। वर्तमान फरूखाबाद जिले मे 'कम्पिल' नाम का गॉव है, कहा जाता है यही प्राचीन कम्पिलपुर था।

चम्पा—भगवान महावीर अपने ३०वे वर्षावास के लिए चम्पा आये और कामदेव को प्रतिबोध दिया।

विहार के भागलपुर जिले मे चम्पापपुर नाम का गाव है जो गगा के तट पर बसा हुआ है भगवान महावीर के समय वह चम्पा नाम की विशाल नगरी के रूप प्रसिद्ध था। यह नगरी अगदेश की राजधानी थी, कहा जाता है कि वर्तमान भागलपुर जिला ही उस समय अगदेश के नाम से प्रसिद्ध था।

पोलासपुर—भगवान महावीर अपने २१ वे वर्षावास के लिए पोलासपुर मे आये और सद्दालपुत्र को अपना अनुयायी बनाया। पाली साहित्य मे इसका नाम पलासपुर मिलता है। पोलासपुर नगर के बाहिर ही 'सहस्राम्रवन' नाम का उद्यान था।

वाणियगाम-वाणिज्यग्राम अ० १ सू० ३—भगवान महावीर अपने १५ वे वर्षावास के लिए वाणिज्यग्राम आये और गाथापति आनन्द को श्रावक धर्म मे दीक्षित किया। यह चेतक की राजधानी वैशाली का उपनगर था और उसके पास ही बसा हुआ था, मुख्यतया व्यापार का केन्द्र था। अब भी इसका नाम बानिया गाव है और वह बसाढ (प्राचीन वैशाली) के पास बसा हुआ है,

वाराणसी—भगवान् महावीर ने अपना १८ वाँ वर्षावास वाराणसी मे विताया और चुलनीपिता तथा सुरादेव को श्रावक बनाया। यह नगर गङ्गा के पश्चिमी तट पर बसा हुआ है और अब भी विद्या तथा व्यापार का विशाल केन्द्र है। इसके एक ओर वरणा नदी है और दूसरी ओर 'असि' नाम का बरसाती नाला। इन्ही दोनो के बीच बसी होने के कारण इसे वाराणसी कहा जाता है। मुसलमान तथा अग्रेजो के समय नाम को विगाड कर इसे बनारस कहा जाने लगा। स्वतन्त्र भारत मे पुन वाराणसी प्रचलित कर दिया गया। यह २३ वे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की जन्म भूमि है। इससे कुछ ही दूर बौद्धो का प्रसिद्ध तीर्थ सारनाथ है जहाँ बुद्ध ने सर्व प्रथम उपदेश दिया था। इसी के आस पास का जगल बौद्ध साहित्य मे 'मृगदाव' के नाम से प्रसिद्ध है। सारनाथ को जैन तीर्थंकर भगवान् श्रेयासनाथ की जन्मभूमि माना जाता है। उससे पाच मील दूर चन्द्रावती नाम का स्थान है जो आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जन्म भूमि है। वैदिक साहित्य मे वाराणसी का वर्णन काशी के नाम से मिलता है। और उसे दस पवित्र नगरियो मे गिना गया है। इस प्रकार वाराणसी का जैन बौद्ध और ब्राह्मण तीनो परम्पराओ मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन, तथा बौद्ध साहित्य मे काशी का वर्णन जनपद के रूप मे आता है और वाराणसी का उसकी राजधानी के रूप मे। काशी के पूर्व मे, गङ्गा के पूर्वी तट पर मगध की सीमा प्रारम्भ हो जाती है। काशी के उत्तर मे विदेह जनपद है और दक्षिण मे कोशल। पश्चिम मे वत्स जनपद था।

रायगिह (स० राजगृह) भगवान् महावीर ने यहाँ अनेक वर्षावास विताये थे। यही पर २२ वे वर्षावास मे महाशतक को श्रावक बनाया। जैन तथा बौद्ध साहित्य मे राजगृह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ का राजा श्रेणिक भगवान महावीर का परम भक्त था। बौद्ध साहित्य मे इसका नाम बिम्बसार के रूप मे मिलता है। इसकी चेलणा आदि राणियाँ तथा मन्त्री अभयकुमार भी महावीर के

परम भक्त थे। बुद्धि वैभव के लिए जैन साहित्य मे अभयकुमार का सर्व्वोच्च स्थान है। रोहिणा चोर, धन्ना सार्थवाह आदि की कहानियाँ बडी २ सख्या मे राजगृह से सम्बद्ध हैं। श्रेणिक का दूसरा पुत्र कुणिक या अजातशत्रु था। उसने पिता को कैद मे डाल दिया और स्वय गद्दी पर बैठ गया। आस-पास के जनपदो को जीत कर उन्हे मगध साम्राज्य मे मिला लिया।

इस समय इस स्थान का नाम राजगिर है। यह पटना से ७० मील तथा नालन्दा से आठ मील है। चारो ओर पर्वतो से घिरा हुआ है। प्राचीन काल मे यह स्थान अत्यन्त महत्त्व का था तथा विभिन्न व्यापारिक मार्ग यही से होकर जाते थे -

सावत्थी—भगवान् कहावीर २३ वे वर्षावास के लिए श्रावस्ती आये और नन्दिनीपिता को श्रावक बनाया, दसवाँ श्रावक सालीहिपिता भी यही का निवासी था। यह नगरी राप्ती (स० इरावती) नदी के तट पर बसी हुई थी। इसका वर्तमान नाम साहेत-महेत है। प्राचीन काल मे यह कोशल की राजधानी थी। और साकेत (वर्तमान अयोध्या) से छ योजन थी। राप्ती का प्राचीन नाम अचिरवती या अजिरवती है। जैन सूत्रो मे इसे इरावती कहा है।

सहस्राम्रवन—प्रस्तुत सूत्र मे सहस्राम्रवन का निर्देश दो स्थानो पर आया है। कुण्डकौलिक अध्ययन मे काम्पिल्यपुर के साथ और सद्दालपुत्र अध्ययन मे पोलासपुर के साथ। पाली साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि सहस्राम्रवन आजीविको का मुख्य केन्द्र था। प्रस्तुत सूत्र मे भी उपरोक्त दोनो श्रावको की मुख्य घटनाये आजीविक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती है। दोनो के धर्मानुष्ठान का वर्णन भी अशोक-वनिका मे ही है।

ऐतिहासिक नामो का परिचय

गोशाल—उपासकदशाङ्गसूत्र मे गोशालक और उसके सिद्धान्त का वर्णन दो बार आया है। भगवतीसूत्र के पन्दरहवे शतक मे उसका विस्तृत वर्णन है। गोशालक छद्मस्थ काल मे भगवान महावीर का शिष्य रहा और उसके पश्चात् उनका प्रतिस्पर्धी बन गया। वह आजीविक सम्प्रदाय का तीसरा आचार्य माना जाता है। भगवतीसूत्र मे आया है कि गोशालक से ११७ वर्ष पहले आजीविक सम्प्रदाय प्रारम्भ हो चुका था।

गोशालक निमित्त शास्त्र का पण्डित था। उसने यह छ दिशाचर सन्यासियो से सीखा था। आजीविक सम्प्रदाय के अन्य साधु भी इसके अभ्यासी थे। आजीविक सम्प्रदाय की दूसरी विशेषता है कठोर तपश्चरण। स्थानाङ्गसूत्र मे उनके द्वारा की जाने वाली चार प्रकार की तपस्याओ का उल्लेख है। उववाइसूत्र मे आजीविको की नीचे लिखी श्रेणियाँ बताई गई है—

१ प्रत्येक, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ अथवा सप्तम घर से भिक्षा लेने वाले, २ केवल कमल-नाल की भिक्षा लेने वाले, ३ प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले, ४ बिजली चमकने पर भिक्षा छोड देने वाले, ५ बडे मटके मे बैठ कर तपस्या करने वाले (उष्ट्रिक श्रमण)। आजीविक साधु अकेले रहते थे, ठडे पानी का उपयोग करते थे। गेहूँ चने आदि कच्चे अनाज को स्वीकार करते थे और अपने लिए बना हुआ भोजन अर्थात् आधाकर्मी आहार स्वीकार करते थे। स्त्रियो से सम्बन्ध रखते थे और दिगम्बर घूमते थे।

आजीविक सम्प्रदाय के गृहस्थ गोशालक को अर्हत्, जिन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा तीर्थङ्कर कह कर पूजते थे। माता-पिता मे भक्ति रखते थे। पाँच प्रकार के फलो का परित्याग करते थे। उदुम्बर, वट (बड का फल) बोर (मञ्जरी), सतर तथा पिलखु, कन्द-मूल, गाजर, प्याज भी नही खाते थे। ऐसा व्यापार करते थे जिसमे जीवहिसा न हो और खस्सी किये बिना ही बैलो को काम मे लाते थे। वे भी १५ कर्मादानो द्वारा आजीविकोपार्जन नही करते थे। उपासकदशाङ्गसूत्र मे सद्दालपुत्र का वर्णन आजीविकोपासक के रूप मे आया है। श्रावस्ती और

पोलासपुर आजीविकों के मुख्य केन्द्र थे। वहाँ एक आजीविकशाला का भी वर्णन मिलता है।

सद्दालपुत्र के कथानक से ज्ञात होता है कि गोशालक नियतिवादी था अर्थात् वह मानता था कि विश्व का परिवर्तन निश्चित है। पुरुषार्थ या पराक्रम के द्वारा उन मे कोई परिवर्तन नही किया जा सकता। सूत्रकृताङ्ग मे नियतिवाद की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि हमारे सुख दु ख न तो हमारे किए हुए हैं और न किसी दूसरे के। वे सब नियत हैं अर्थात् जो होने हैं हो कर रहेगे।

महावीर और गोशाल का परस्पर सम्बन्ध—भवगती सूत्र मे गोशालक का वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—वह शरवण नाम की बस्ती मे एक ब्राह्मण की गोशाला में उत्पन्न हुआ था। उसके पिता का नाम मखलि था। मख का अर्थ है परिव्राजक। गोशाल का पिता हाथ मे एक चित्र ले कर घूमा करता था और उसे दिखा कर भिक्षा मागता था। इसीलिए उसका नाम मखलि पड गया।* घूमते हुए वह एक बार शरवण आया और एक ब्राह्मण की गोशाला मे ठहर गया। वही पर उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका नाम गोशाल पड गया। बडा होने पर गोशालक भी परिव्राजक बन गया और भिक्षा वृत्ति करने लगा। एक बार वह राजगृह मे आया और जुलाहे की तन्तुशाला (खड्डी या कपडा बुनने का स्थान) मे ठहर गया। भगवान् महावीर भी उस समय वहाँ ठहरे हुए थे। गोशालक ने महावीर के प्रति होने वाले पूजा सत्कार को देखा और उनका शिष्य बन गया।

एक बार शरत् काल मे जब वृष्टि नही हो रही थी। भगवान् महावीर गोशालक के साथ सिद्धार्थ ग्राम से कूर्म ग्राम की ओर जा रहे थे। मार्ग मे एक पत्र-पुष्पयुक्त तिल का पौधा था। उसको देख कर गोशालक ने पूछा—भगवन् ! यह तिल का पौदा फलवान होगा या नही ! पौधे पर लगे सात फूलों के जीव मर कर

* टिप्पण—सस्कृत मे मखलि का रूपान्तर मसकरी मिलता है। मसकर का अर्थ है—बास का डण्डा। उसे हाथ मे लेकर घूमने वाला परिव्राजक मसकरी कहा गया। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे इसका यही अर्थ बताया है। देखो—

—सू० मसकर, मसकरिणौ वेणुपरिव्राजकयो।

कहाँ उत्पन्न होंगे ? भगवान ने उत्तर दिया—गोशालक ! यह तिल का पौधा फलवान् होगा तथा ये सात तिल पुष्प के जीव मर कर इसी पौधे की एक फली में सात तिल होंगे।

वे दोनों कूर्म ग्राम में पहुँचे तो वैशपायन नाम के तपस्वी को देखा। वह ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड सूर्य में आतापना ले रहा था। हाथ ऊँचे उठा रखे थे और सिर पीछे की ओर झुका रखा था। उसका सिर तथा शरीर जुओं से भरा था। उसे देखकर गोशालक को हँसी आ गई। उसने तापस का मजाक उड़ाना शुरू किया। वैशपायन को क्रोध आ गया और उसने गोशालक को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या का प्रयोग किया। किन्तु महावीर ने शीतल लेश्या द्वारा उसे शान्त कर दिया और गोशालक के प्राण बचा लिए। गोशालक के पूछने पर उन्होंने यह भी बताया तेजोलेश्या किस प्रकार प्राप्त की जाती है।

तत्पश्चात् वे सिद्धार्थग्राम लौट आए। मार्ग में सरसों के पौधे को देखा। यहीं पर मतभेद हो जाने के कारण गोशालक महावीर से पृथक् हो गया। उसने कठोर तपस्या द्वारा तेजोलब्धि प्राप्त की और अपने आप को 'जिन' कहने लगा। क्रमश. वह आजीविक सम्प्रदाय का नेता बन गया। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती था। वहाँ हालाहला नाम की आजीविकोपासिका रहती थी जो जाति से कुम्हार थी। परिव्राजक जीवन के २४ वें वर्ष में एक बार गोशालक उसके पास आपण में ठहरा हुआ था। छः दिशाचर भी वहाँ आये। उस समय भगवान महावीर भी श्रावस्ती में ठहरे हुए थे। उन्होंने गोशालक के जीवन का वर्णन किया और कहा कि वह जिन नहीं है। इस पर गोशालक क्रुद्ध हो गया और उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर कहा यदि महावीर मेरे विरुद्ध कुछ कहेंगे तो मैं उन्हें तेजोलेश्या द्वारा भस्म कर दूंगा। आनन्द ने महावीर के पास जाकर सारी बात कही। भगवान् ने उत्तर दिया यह सत्य है कि गोशालक के पास तेजोलेश्या है किन्तु वह उसका प्रयोग अरिहन्त पर नहीं कर सकता अरिहन्त की शक्ति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। उन्होंने आनन्द के द्वारा अपने शिष्यों को कहलाया कि वे गोशालक के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क या वार्तालाप न करें।

एक दिन गोशालक अपने शिष्यों के साथ श्रमण भगवान महावीर के पास पहुँचा और उनसे कहने लगा—"आपका शिष्य मखलिपुत्र गोशाल बहुत दिन पहले

मर चुका है। मैं वह नही हूँ। मै तो उदायी कौण्डिनेय हूँ।" उसने अपने पिछले सात जन्म भी वताये। साथ ही अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया। उत्तर मे महावीर ने कहा—"तुम अपने असली रूप को छिपाते हो किन्तु वह मुझसे छिपा नही रह सकता।" इस पर गोशालक को क्रोध आ गया और उसने तेजोलेश्या द्वारा महावीर के दो शिष्यो को भस्म कर दिया। गोशालक ने महावीर पर भी उसका प्रयोग किया किन्तु वह निष्फल गई।

महावीर पर प्रयोग की गई तेजोलेश्या निष्फल होने पर स्वय गोशालक को जलाने लगी। अपने निवास स्थान पर लौट कर वह विक्षिप्त के समान रहने लगा। कभी नाचता, कभी गाता, कभी हालाहला के सामने कुचेष्टाएँ करता और कभी अपने शरीर को कीचड से लीप लेता। अन्त मे जब उसने देखा कि मृत्यु समीप आ गई है तो अपने स्थविरो को बुला कर कहा—महावीर ही सच्चे जिन हैं। तुम लोग उन्ही की उपासना करना। मैं ने जो प्ररूपणा की है वह मिथ्या है। इस वात को सर्वसाधारण को घोपित कर देना।

गोशालक मर कर देवता के रूप मे उत्पन्न हुआ और अन्त मे मोक्ष को प्राप्त करेगा।

जैन और बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि उन दिनो आजीविको का सम्प्रदाय अत्यन्त प्रतिष्ठित था। इसके अनुयायियो की सख्या महावीर से भी अधिक थी। सर्वसाधारण के मानस पर नियतिवाद का काफी प्रभाव था। नन्दी सूत्र मे दृष्टि-वाद के ८८ सूत्रो या प्रवादो का वर्णन है। उनमे से २२ का सम्वन्ध आजीविको के साथ है और २२ का त्रैराशिको के साथ। अभयदेवसूरि के मतानुसार त्रैराशिक गोशालक के अनुयायी थे। अशोक की धर्मलिपि मे आजीविको का तीन वार उल्लेख आया है। उसके पौत्र दशरथ मे नार्गार्जुनी तथा वारावर की पहाडियो मे उनके निवास के लिए गुफाएँ प्रदान की थी। वराहमीहर (५५० ई० प०) ने अपने समय के सात धार्मिक सम्प्रदायो मे इसका भी उल्लेख किया है। निशीथचूर्णि मे ८०० पण्डरभिक्खुओ का वर्णन आया है जिन्हे गोशालक का अनुयायी माना जाता है। शीलाङ्काचार्य (८७६ ई० प०) ने आजीविको और दिगम्बरो की एकता का प्रतिपादन करके दोनो को गोशालक का अनुयायी वताया है। वृहज्जातक के टीकाकार भट्टोत्पल ने उन्हे एकदण्डी वताया है।

चेडग—अ० १ सूत्र ३ (चेटक)—महाराजा चेटक भगवान् महावीर स्वामी के मामा और वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष थे, जिसमे नौ मल्ली और नौ लिच्छवी गणराज्य सम्मिलित थे। उसकी बहन त्रिशला भगवान् महावीर की माता थी। चेटक की सात कन्याओ का वर्णन जैन-साहित्य मे बहुत जगह मिलता है। उनमे से मृगावती, प्रभावती आदि का स्थान सोलह महा-सतियो मे है। वे इस प्रकार हैं।

१ प्रभावती—(महासती) वीतभय के राजा उदयन की पत्नी।
२ पद्मावती—(महासती) चम्पा के राजा दधिवाहन की रानी।
३ मृगावती—(महासती) कौशाम्बी के राजा शतानीक की पत्नी।
४ शिवा—(महासती) उज्जैनी के राजा चण्डप्रद्योत की रानी।
५ जेष्ठा—कुण्ड ग्राम के राजा (महावीर के बडे भाई) नन्दीवर्धन की रानी।
६ सुजेष्ठा—इसने विवाह नही किया और भगवान् महावीर के पास दीक्षा ले ली।
७ चेलना—राजगृह के सम्राट श्रेणिक की रानी।

कहा जाता है कि जब अभयकुमार ने दीक्षा ले ली, तो श्रेणिक ने नन्दा (अभयकुमार की माता) को देवदूष्य भेट किया। उसी समय हल तथा विहल नामक छोटे पुत्रो को सेचानक नाम का हाथी और एक बहुमूल्य हार दिया। इन दोनो का मूल्य मगध साम्राज्य के बराबर था। जब कूणिक अपने पिता श्रेणिक को कैद करके सिहासन पर बैठा तो उसने इन दोनो की माग की। हल और विहल अपने नाना चेटक की शरण मे चले गये। परिणाम स्वरूप कूणिक और चेटक का भयकर युद्ध हुआ जिसमे एक ओर मगध साम्राज्य था और दूसरी ओर वैशाली का गण-तन्त्र। भगवती सूत्र मे इस लडाई का विस्तृत वर्णन है।

कूणिक—बौद्ध साहित्य मे इसका उल्लेख अजातशत्रु के नाम से मिलता है। यह चेलना का पुत्र था। कहा जाता है जब यह गर्भ मे आया तो एक दिन चेलना को अपने पति श्रेणिक का मास खाने की इच्छा हुई। चेलना ने समझा कि उसका भावी पुत्र पति के लिए अशुभ है। पैदा होते ही उसे नगर के बाहर कचरे के ढेर पर फिकवा दिया। जब श्रेणिक को यह बात ज्ञात हुई तो वह चेलना पर नाराज हुआ और पुत्र को वापिस मँगा लिया। जब वह कचरे पर पडा था, तो उसके

अगूठे को एक कुकुट ने काट डाला जिससे वह टेढा हो गया। इसी कारण वालक का नाम कूणिक पड गया। जब वह बडा हो गया श्रेणिक ने अपने ग्यारह पुत्रो को बुलाया और राज्य को उनमे वाट देने के लिए कहा। कूणिक सारे राज्य पर अकेला अधिकार करना चाहता था। उसने पड्यन्त्र करके पिता को कैद मे डाल दिया और स्वय गद्दी पर वैठ गया। श्रेणिक को भूखा तथा प्यासा रखा जाने लगा और प्रतिदिन १०० कोडे लगाए जाने लगे। चेलना को भी उससे मिलने की अनुमति नही मिली। कुछ दिनो वाद उसने किसी प्रकार अनुमति प्राप्त की और वह अपने वालो मे ऐसी वस्तुऍ छिपा कर ले गई जिस से पति की प्राण रक्षा हो सके।

एक दिन कूणिक कुछ शान्त हो कर माता से वाते कर रहा था। चेलना ने वताया कि किस प्रकार वह वाहिर फैंक दिया गया था और किस प्रकार पिता के कहने पर उसे वापिस लाया गया। उसका अगूठा सूज गया था और पीक भरने के कारण असह्य वेदना हो रही थी। उसी समय पिता ने अगूठे को मुँह मे ले लिया तथा पीक और गन्दे खुन को चूस लिया।

कूणिक को यह सुनकर वडा पश्चात्ताप हुआ और वह तत्काल पिता को मुक्त करने के लिए कारागार मे पहुँचा। श्रेणिक ने समझा कूणिक जेल से निकाल कर मुझे अन्य यातनाऍ देगा। अत उसने तालपुट विप खाकर आत्म हत्या करली।*

जियसत्तू (स०—जितशत्रु)—प्रस्तुत सूत्र मे राजगृह का राजा श्रेणिक था और शेष ७ नगरो के नाम हें—

१ वाणिज्य ग्राम। २ चम्पा। ३ वाराणसी। ४ आलभिका। ५ कम्पिलपुर। ६ पोलासपुर। ७ श्रावस्ती।

तत्कालीन इतिहास ग्रन्थो मे जितशत्रु नामक किसी राजा का नाम नही मिलता। श्रेणिक के पुत्र का नाम अजातशत्रु था जो पिता को कैद करके गद्दी पर वैठा था। जैन साहित्य मे उसका वर्णन कूणिक के नाम से आया है। उसने आस-पास के जनपदो को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया था। किन्तु वह जितशत्रु नही हो सकता। क्योकि भगवान महावीर अपने २२ वे वर्षावास के लिए जव राजगृह पहुँचे तो वहाँ श्रेणिक राजा था और १९ वे वर्षावास मे उन्होने वाणिज्यग्राम

* निरयावलीकासूत्र।

पहुँच कर आनन्द को प्रतिबोध दिया। उस समय वहाँ जितशत्रु का निर्देश आया है इसी प्रकार आलभिका नगरी मे वे १८ वे वर्षावास मे पहुँचे। श्रेणिक के जीवन काल मे वहाँ अजातशत्रु नही हो सकता। अत यही मानना उचित है कि जितशत्रु केवल विशेषण है वह व्यक्तिवाचक नाम नही।

पुण्णभद्द चेइअ (पूर्णभद्र चैत्य)—चम्पा नगरी के बाहिर पूर्णभद्र चैत्य का निर्देश आया है। यक्ष-पूजा भारत मे प्राचीन काल से चली आ रही है। अब भी प्राचीन नगरो के प्रवेश-द्वारो पर यक्षायतन या मन्दिर मिलते है। जैन मन्दिरो मे भी प्रवेश द्वार पर रक्षक के रूप यक्ष एव यक्षणी की मूर्ति बनाई जाती है। भारतीय सगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति तथा अन्य कलाओ का विकास यक्ष एव यक्षणियो को लक्ष्य बना कर हुआ है। कालिदास के मेघदूत नामक गीतिकाव्य का नायक एक यक्ष ही है। जहाँ एक यक्ष तथा यक्षणी के प्रेम का चित्रण किया गया है।

आजकल जो स्थान मनोरजनगृहो (क्लबो) का है, प्राचीन समय मे वही स्थान यक्षायतनो का था। वहाँ लोग इकट्ठे होकर सगीत, नृत्य, मल्लयुद्ध, जादूगरी तथा अन्य प्रकार से मनोरञ्जन करते थे।

'यक्ष' शब्द का अर्थ है—देदीप्यमान या चमकती हुई आकृति। केनोपनिषद् मे इसका यही अर्थ आया है। यह शब्द सस्कृत यज् धातु से बना है जिसके तीन अर्थ हैं। (क) देव पूजा, (ख) सगतिकरण, (ग) और दान। यक्षायतनो के मुख्यतया दो कार्य होते थे—देव पूजा और सगति अर्थात् मेला।

जैन साहित्य मे मुख्यतया दो यक्षो का वर्णन मिलता है–मणिभद्र और पूर्णभद्र। उववाइ सूत्र मे पूर्णभद्र के चैत्य का निम्नलिखित वर्णन आया है—

उस पर छत्र बना हुआ था। विशाल घण्टे लटक रहे थे। ध्वजाएँ फहरा रही थीं और वह मयूर पखो से सुशोभित था। उसके चारो ओर छज्जे थे। आँगन गोबर से लिपा हुआ था। दिवारो पर सफेदी की हुई थी। उस पर रक्त (गोशीर्ष) तथा श्वेत चन्दन द्वारा हाथो की छापे लगी हुई थी। उसके द्वार पर चन्दन कलश वाले तोरण लटक रहे थे। अन्य स्थानो पर भी चन्दनघट सुशोभित थे। आगन मे सुगन्धित जल छिडका जाता था और द्वारो पर पुष्प मालाएँ लटक रही थी। भिन्न-भिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्प लगे हुए थे। अभिनेता, नृतक, नट, पहलवान, मुष्टिक, योद्धा, नकलची, सूत (वीरगाथाएँ गाने वाले), कथावाचक, बाँस पर

नाचने वाले, चित्र प्रदर्शक, तूती वजाने वाले, मुरली वजाने वाले तथा वीणा आदि वजाने वाले वहाँ सम्मिलित होते रहते थे। वहुत से लोग मन्दिर मे पूजा करने भी आते थे।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि यक्षपूजा मनोरजन एव लौकिक सुख के लिए साधारण जनता मे प्रचलित थी। इसी दृष्टि से यक्षायतन वनाए जाते थे। आत्म-साधना मे उनका कोई स्थान नही था।

संख-(शङ्ख) श्र० २ सू० ११६-श्रावक का वर्णन भगवती सूत्र मे इस प्रकार है श्रावस्ती नगरी मे अनेक श्रमणोपासक रहते थे। वही शख तथा पुष्कली नामक श्रमणोपासक भी थे। शख की पत्नी का नाम उत्पला था। एक वार भगवान महावीर श्रावस्ती आये और शख आदि श्रावक धर्मोपदेश सुनने गए। धर्मकथा के अन्त मे शख ने अपने साथियो से कहा-"आओ हम लोग पौषधशाला मे रह कर धर्म-जागरणा करें। इसके लिए अशन-पान आदि तैयार करालो," शख के साथी भोजन तैयार करने में लग गए, इधर शख के मन मे पौषधोपवास करने का विचार आया और वह ग्यारहवाँ प्रतिपूर्णपौषध अङ्गीकार करके पौषधशाला मे धर्म जागरण करने लगा। साथी भोजन तैयार करके शख को बुलाने गए तो उसने कहा आप लोग इच्छापूर्वक भोजन करके पौषध कीजिए, मैंने तो उपवास कर लिया है। साथियो को शख की यह वात अच्छी नही लगी। दूसरे दिन भगवान महावीर की धर्मकथा के वाद इस वात की चर्चा होने लगी तो भगवान ने कहा कि शख की निन्दा मत करो, वह उच्चकोटि का श्रमणोपासक है और धर्मानुष्ठान मे आगे बढ रहा है।

कल्पसूत्र मे भगवान महावीर के श्रावको की सख्या वताते समय शख और महाशतक का प्रमुख रूप उल्लेख है।

पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या

अवसर्पिणी—विश्व के विषय मे आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि इसमे प्रतिदिन विकास हो रहा है, दूसरी ओर वैदिक परम्परा के अनुसार इसमे प्रतिदिन ह्रास हो रहा है। जैन धर्म न विकासवादी है और न ह्रासवादी। वह परिवर्तनवादी है इसका अर्थ है, उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान। इसी परिवर्तन को एक कालचक्र के रूप मे उपस्थित किया गया है, उसके बारह आरे हैं छ ऊपर से नीचे अर्थात् पतन की ओर जा रहे हैं और छ नीचे से ऊपर अर्थात् उत्थान की ओर। पतन की ओर जाने वाले आरो को अवसर्पिणी काल तथा उत्थान की ओर जाने वाले आरो को उत्सर्पिणी काल कहा जाता है।

इस समय अवसर्पिणी काल का पञ्चम आरा चल रहा है इसके प्रथम दो आरो तथा तृतीय के प्रारम्भिक तीन चरणो मे भारतवर्ष भोगभूमि था, अर्थात् व्यक्ति प्रकृति द्वारा स्वय प्रदत्त सामग्री पर निर्वाह करते थे। आजीविका के लिए पुरुषार्थ या कर्म करने की आवश्यकता नही थी। तृतीय आरे के अन्त मे प्रकृति के वरदान न्यून हो गए और परस्पर सघर्ष के अवसर आने लगे। उस समय प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव हुए। उन्होने राज्य सस्था की नीव डाली। और आजीविका के लिए आग जलाना, वर्तन बनाना, खेती करना आदि विद्याओ का आविष्कार किया। उस समय से यह देश भोगभूमि के स्थान पर कर्मभूमि बन गया। उन कर्मो को असि अर्थात् सैनिक वृत्ति २, मसी अर्थात् विद्यावृत्ति तथा ३ कसी (कृषि) अर्थात् खेती आदि वैश्यवृत्ति के रूप मे विभक्त किया गया। वैदिक परम्परा मे जो स्थान मनु का है वह जैन परम्परा मे ऋषभ देव का है। इसके पश्चात् चौथे आरे मे अन्य तेईस तीर्थङ्कर हुए। इसके अन्त मे भगवान महावीर जिनका समय ईसवी पूर्व ५९८ माना जाता है। महावीर ३० वर्ष तक गृहस्थ मे रहे उसके पश्चात् १२॥ वर्ष साधना मे विताए और ३२॥ वर्ष तक धर्मोपदेश किया। प्रस्तुत घटना उस समय की है, जब उन्हे कैवल्यप्राप्ति हो चुकी थी और गौतम आदि गणधर भी दीक्षित हो चुके थे। अत इसे स्थूल रूप मे ईसवी पूर्व ५५० के लगभग रख सकते हैं।

अमत्त (अमात्य)—संस्कृत व्याकरण मे इस शब्द का अर्थ बताया गया है 'अमा' अर्थात् सहभव अमात्य, अर्थात् वह मन्त्री जो राजा के साथ रहता हो। राजा प्रत्येक कार्य मे उसकी सलाह लेता है राजा के अनुचित कार्य की ओर प्रवृत्त होने पर वह उसे रोकता है।

'आवश्यकचूर्णि' मे इस बात का उल्लेख भी आया है कि राजा के कर्तव्यभ्रष्ट होने पर अमात्यपरिषद् ने उसे सिंहासन-च्युत कर दिया। वसन्तपुर मे जितशत्रु नाम का राजा था। वह अपनी सुकुमारिका नामक रानी मे अत्यन्त आसक्त रहने लगा और राज्य मे अव्यवस्था फैलने लगी। परिणामस्वरूप अमात्य-परिषद् ने उसे हटाकर राजकुमार को गद्दी पर बैठा दिया। बौद्ध साहित्य के सच्चकिर जातक मे भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

अहासुहं (यथा सुखं) अ० १ सू० १२—भगवान महावीर के सामने जब कोई व्यक्ति धर्मानुष्ठान मे अग्रसर होने का निश्चय प्रकट करता था तो भगवान कहा करते थे (अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबन्ध करेह) अर्थात् हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, देर मत करो। भगवान महावीर की दृष्टि मे धर्माचरण ऊपर से लादी गई आज्ञा या कष्ट नही था। व्यक्ति के मन मे जब अपने आप उत्साह जागृत होता था और वह साधना मे अग्रसर होने के लिए अपनी उमग प्रकट करता तभी भगवान उपरोक्त उत्तर देते थे। उस उत्साह मे तपस्या एव अन्य कठोरताएँ भी सुखद प्रतीत होती थी। साथ मे भगवान यह भी कह देते थे कि जब तक उत्साह है, आगे बढते चले जाओ। देर करके उत्साह को ठण्डा मत होने दो। उपरोक्त वाक्य मे भगवान महावीर का प्रेरक सन्देश मिलता है।

अमाघाए (अमाघात)—यह शब्द महाशतक के अध्ययन मे आया है और कहा गया है कि राजगृह मे एक बार अमाघात की घोषणा हुई। इसका अर्थ है—हिंसा या प्राणीवध का निषेध। महावीर तथा बुद्ध के समय मगध मे यह प्रथा थी कि पवित्र तिथि या मगलमय अवसर पर राजा की ओर से प्राणी हिंसा बन्द करने की आज्ञा हो जाती थी। बौद्ध साहित्य मे भी ऐसी घोषणाओ के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मध्यकाल मे इसी के लिए अमारी शब्द का प्रयोग किया जाता था। राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तो मे, जहाँ सर्व साधारण पर जैन सस्कृति का प्रभाव है, अब तक ऐसी घोषणाएँ होती रही हैं। राष्ट्रीय जीवन मे ऐसी

घोषणाओ का महत्वपूर्ण स्थान है। उस दिन को सारी प्रजा पवित्र मानती है और पाप कार्यो से अलग रहती है। परिणामस्वरूप हृदय मे पवित्र विचार उठते है और सर्वसाधारण का झुकाव धर्म एव सदाचार की ओर हो जाता है।

आजीविक–(गोशालक के अनुयायी)—मेगस्थनीज तथा तत्कालीन अन्य वर्णनो से ज्ञात होता है कि उन दिनो समाज मे श्रमणो की बहुत प्रतिष्ठा थी। भगवान महावीर के लिए आया है कि जब चम्पा के नागरिको ने उनके आगमन का समाचार सुना तो दर्शनार्थ जाने वालो की भीड लग गई।

इब्भ—इब्भ शब्द का अर्थ है धन सम्पन्न व्यापारी, नगर का साहूकार यह वैश्य जाति का होता था। जिसके पास हाथी जितना धन हो, वह तीन प्रकार का होता है—जिसके पास मणि, मुक्ता, मू गा, सोना, चान्दी द्रव्य हाथी शरीर के प्रमाण हो वह जघन्य इब्भ है। जिसके पास हीरा और माणिक्य की राशि हाथी के तुल्य हो वह मध्यम इब्भ है। जिसके पास केवल हीरो की राशि हाथी के समान हो वह उत्कृष्ट इब्भ होता है।

ईसर–(ईश्वर)—इसका अर्थ है युवराज या राज्य का उत्तराधिकारी। वह राजा का पुत्र, भाई या निकटतम सम्बन्धी होता था। सर्वसाधारण पर उसका प्रभाव होता था और वह राज्य सचालन मे सक्रिय भाग लेता था। उसके गुणो मे बतया गया है कि ७२ कलाओ, सभी शास्त्रो का जानकार होता था। राजनीति तथा धनुर्विद्या मे विशेष निपुणता रखता था।

कोडु बिय–अ० १ सू० १२ (कौटुम्बिक)—इसका अर्थ है परिवार का मुखिया। आनन्द श्रावक को राजा, ईश्वर आदि जो प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मान की दृष्टि देखते थे और उसका परामर्श लेते रहते थे। उनमे इसका उल्लेख भी आया है।

कोल्लाक सन्निवेश—सन्निवेश का अर्थ है—पडाव। कोल्लाक सन्निवेश का निर्देश आनन्द नामक अध्ययन मे आया है। यह वाणिज्य ग्राम (आनन्द का निवास-स्थान) से उत्तर पूर्व मे है। कहा जाता है कि भगवान महावीर को सर्व प्रथम भिक्षा कोल्लाक में प्राप्त हुई थी। वे उस समय कम्मार (कर्मकार अर्थात् लोहारो के गाव से आए थे और कोल्लाक सन्निवेश की ओर विहार कर गये। भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति भी कोल्लाक सन्निवेश मे गए थे और आनन्द

श्रावक से मिले थे। यहाँ आनन्द के जाति-बन्धु रहते थे। यही पर उसने उपाश्रय मे रह कर ग्यारह प्रतिमाएँ अङ्गीकार की और सलेखना द्वारा शरीर का त्याग किया। विहार के मुजफरपुर जिले मे बसार नाम का गाँव है जो प्राचीन वैशाली के खण्डरो पर बसा हुआ है। उस से मील उत्तर-पश्चिम की ओर कोलुआ नाम का गाँव है। कहा जाता है इसी का प्राचीन नाम कोल्लाक सन्निवेश था।

गाहावई–गृहपति या गाथापति अ० १ सू० २—जैन तथा बौद्ध साहित्य मे नगर या राज्य के प्रधान पुरुषो मे गाथापति का भी उल्लेख मिलता है उसे चक्रवर्ती का एक रत्न माना जाता है। सेना के लिए खाद्य सामग्री उपलब्ध करना उसका कार्य है। शान्ति के समय उसका सम्बन्ध राजकीय कोष्ठागार के साथ रहता है अर्थात् राजा के लिए अन्न आदि की व्यवस्था करना उसका कार्य होता है। किन्तु बौद्ध तथा जैन कथा-साहित्य मे उसका वर्णन अनेक चमत्कारिक घटनाओं के साथ मिलता है। यहाँ उनका उल्लेख आवश्यक नही जान पडता। उपासकदशाङ्ग मे आनन्द आदि कई श्रावको के साथ यह विशेषण है।

घरसमुदाण–गृहसमुदान–अ० १ सू० ७७—जैन मुनि के लिए यह विधान है कि भिक्षा के लिए घूमते समय घरो मे किसी प्रकार का भेद-भाव न करे। सम्पन्न घरो मे अच्छी भिक्षा मिलेगी और दूसरो मे न्यून कोटि की, इस विचार से घरो को चुन कर भिक्षा-वृत्ति न करे। इस बात को लक्ष्य मे रख कर भिक्षा-वृत्ति के लिए कुछ चर्याएँ बताई गई हैं। उदाहरण के रूप मे साधु पहले से ही यह निश्चय कर के चलता है कि आज मं गली मे भिक्षा के लिए घूमते समय सर्व प्रथम एक ओर के पहले घर मे जाऊँगा फिर दूसरी ओर के दूसरे मे, फिर पहली ओर के तीसरे मे। इस प्रकार घूमते हुए आवश्यक आहार प्राप्त हो जाने पर वापिस लौट आऊँगा। इस वृत्ति को गोमुत्रिका कहा गया है अर्थात् जहाँ चलते हुए बैल के मूत्र के समान एक बार इधर और एक बार उधर जाना होता है। गृह-समुदान चर्या मे एक ओर के प्रत्येक घर से भिक्षा ली जाती है। बीच मे किसी को नही छोडा जाता।

चुल्लहिमवंत—जैन भूगोल के अनुसार पृथ्वी के मध्य मे जम्बूद्वीप है जो लवण-समुद्र से घिरा हुआ है। जम्बूद्वीप के बीच मेरु पर्वत है। उसके दक्षिण तथा उत्तर मे सात-सात वर्ष या देश है। इनका विभाजन वर्षधर पर्वत करता हैं। चुल्ल-

हिमवान् का अर्थ है छोटा हिमालय। यह भरत क्षेत्र या भारतवर्ष के उत्तर मे है।

चेइअ—इसका संस्कृत रूप चैत्य है। वैदिक काल मे "इष्टक चितम्" शब्द का प्रयोग मिलता है इसका अर्थ है "ईंटो से बना हुआ चबूतरा" जो यज्ञ की वेदी के रूप मे बनाया जाता था। यहाँ चित शब्द चिञ्ा् चयने धातु से बना है जिसका अर्थ है चिना हुआ। चिता शब्द भी इसी धातु से बना है। चिता के ऊपर निर्मित स्तूप या छतरी आदि को चैत्य कहा गया है। प्राचीन प्रथा के अनुसार ऐसे स्थानो पर किसी यक्ष की मूर्ति भी स्थापित कर दी जाती थी और नगर के समृद्ध व्यक्ति उसके चारो ओर उद्यान बना देते थे। इन सबको प्राचीन साहित्य मे चैत्य कहा गया है। संस्कृत मे "चिती सज्ञाने" धातु भी है। इस से चित्त या चित शब्द बनता है। चित का अर्थ है, शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा और चित्त का अर्थ है मन या बुद्धि। चित से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व को भी चैत्य कहा जा सकता है अर्थात् आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य को भी चैत्य कहा जा सकता है।

तलवर—तल शब्द का अर्थ है खडग-मुष्टि अर्थात् तलवार की मूठ। तलवार का अर्थ है राजा का अङ्ग रक्षक। सभवतया तलवर शब्द इसी से बिगडकर बना हो। प्रारम्भ मे इसका अर्थ था वह चिन्ह जिसे प्रतिष्ठा के रूप मे राज-दरबारी धारण किया करते थे। बाद मे यही खड्ग के अर्थ मे रूढ होगया। अब भी पजाब मे क्षत्रियो की 'तलवार' नामक जाति है। प्रतीत होता है उनके पूर्वजो को यह उपाधि राज-दरबार मे सम्मान के रूप मे प्राप्त हुई थी किन्तु बाद मे जाति वाचक बन गई। "दीवान" आदि जातियाँ इसी तथ्य को सिद्ध करती हैं।

दुविह तिविहेण—इसका अर्थ है दो करण, तीन योग। जैन धर्म मे त्याग का जितना सूक्ष्म विवेचन है उतना अन्यत्र नही मिलता। श्रावक तथा साधु दोनो के लिए अनेक प्रकार के व्रत, नियम एव त्यागो का विधान है। और उनकी बहुत सी कोटियाँ हैं। उदाहरण के रूप मे एक व्यक्ति यह नियम करता है कि वह अमुक कार्य स्वय नही करेगा किन्तु दूसरे से कराने की छूट रखता है। इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति यदि उसे अपनी इच्छा से करता है तो वह उसकी निन्दा नही करता प्रत्युत अनुमोदन कर सकता है। इस दृष्टि से जैन शास्त्रो मे त्याग के ४९ भेद बताये

गए है। करना, कराना और अनुमोदन करना ये तीन करण कहे जाते हैं और मन, वचन तथा काया को योग कहा जाता है। इन्ही के परस्पर मेल से उपरोक्त भेद हो जाते हैं। हीनतम कोटि का त्याग एक करण एक योग से है अर्थात् अपने हाथ से न करना। सर्वोत्कृष्ट कोटि का त्याग तीन करण तीन योग से होता है अर्थात् मन, वचन और काया से न स्वय करना, न दूसरे से कराना और न करने वाले का अनुमोदन करना।

धम्म-पण्णत्ती (धर्म-प्रज्ञप्ति)—भारतीय सम्प्रदायो मे धार्मिक अनुष्ठान के लिए शास्त्राज्ञा, देशना, प्रज्ञप्ति आदि अनेक शब्द मिलते हैं। वे तत्-तत् सम्प्रदाय के मूल दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं। वैदिक परम्परा मे आदेश या आज्ञा शब्द मिलता है। वहां वेद की आज्ञा को ही धर्म माना गया है। मनुष्य को उसके सम्बन्ध मे विचार करने या ननुनच करने का अधिकार नही है। बौद्धो मे बुद्ध देशना शब्द मिलता है। देशना का अर्थ है मार्ग-दर्शन, बुद्ध का मुख्य लक्ष्य जीवन के मार्ग का प्रतिपादन करना था। वे तत्त्व चर्चा मे नही गए। भगवान महावीर के लिए प्रज्ञप्ति शब्द मिलता है। इसका अर्थ है अच्छी तरह सम्यक् रूप से ज्ञान कराना। भगवान महावीर का लक्ष्य यह था कि व्यक्ति को सत्य का ज्ञान करा देना चाहिए। उसे बता देना चाहिए कि हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, यथार्थ सुख कहाँ है और उसे प्राप्त कराने वाला मार्ग कौन सा है? इसके पश्चात् मार्ग को चुनना और उस पर चलना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर है। प्रज्ञप्ति शब्द का यही अर्थ है। इसी अर्थ को लक्ष्य मे रखकर शामाचार्य ने पण्णवणा (प्रज्ञापना) सूत्र की रचना की है।

निग्गंथ पावयण—नैर्ग्रन्थ प्रवचन अ० १ सू० १२।

पत्तियामि (प्रत्येमि) अ० १ सू० १२।

रोएमि (रोचे) अ० १ सू० १२।

जब कोई नया व्यक्ति भगवान महावीर का उपदेश सुनकर उनका अनुयायी बनना चाहता है तो वह उपरोक्त शब्दो मे अपनी इच्छा प्रकट करता है। वह कहता है—हे भगवन्! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन रुचता है अर्थात् अच्छा लगता है। उसे सुन कर मेरे मन मे प्रसन्नता होती है। पातञ्जल योग दर्शन की व्याख्या मे व्यास ने इस प्रसन्नता को श्रद्धा कहा है (श्रद्धा मनस सम्प्रसाद यो० सू० १-२०)।

इस वाक्य का दूसरा पद है पत्तियामि। इसका अर्थ है प्रत्यय अर्थात् विश्वास करता हूँ। श्रद्धा दृढ होने पर अपने आप विश्वास के रूप परिणित हो जाती है।

तीसरा पद है निर्ग्रन्थ। इसका अर्थ है जो ग्रन्थ (गाठ) अर्थात् परिग्रह को त्याग चुका है। यह शब्द जैन परम्परा के श्रमणो के लिए प्रयुक्त होता है। विशेषतया भगवान महावीर के लिए।

चौथा पद है प्रवचन। इसका अर्थ है उत्तम वाणी। वैदिक परम्परा मे इसके स्थान पर अनुशासन शब्द मिलता है। इसका अर्थ है परम्परा प्राप्त आज्ञा। जैन धर्म उक्त परम्परा को अधिक महत्व नही देता। वह अपने नए अनुभव के साथ नई परम्परा को जन्म देता है। तीर्थंकर अपने युग मे इसीलिए नए तीर्थ की स्थापना करते हैं। प्रवचन का अर्थ है वह शब्द जो अपने आप मे प्रमाण है। जिसके सत्य असत्य का निर्णय किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर नही किया जाता। इसके लिए वक्ता मे दो बाते होनी आवश्यक है--

१ वह वीतराग हो अर्थात् कोई बात रागद्वेष या स्वार्थ से प्रेरित होकर न कहे।

२ वह सर्वज्ञ हो अर्थात् प्रत्येक बात को पूरी तरह जानता हो जिसमे भूल या गलती की शङ्का न रहे।

भगवान महावीर मे यह दोनो बाते थी। इसीलिए उनकी वाणी को प्रवचन कहा गया है।

पल्योपम--एक योजन लम्बे, एक योजन चौडे और एक योजन गहरे गोलाकार बाल-खडो से भरे कूप की उपमा से जो काल गिना जाए उसे पल्योपम कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं—

१ उद्धार पल्योपम, २ अद्धा पल्योपम, ३ क्षेत्र पल्योपम।

चारो गतियो के जीवो की आयु की गणना सूक्ष्म अद्धा पल्योपम से की जाती है। इसका विशेष विवरण अनुयोगद्वार सूत्र मे है।

पव्वइत्तए--प्रव्रजितुम् अ० १ सू० १२—जैन साहित्य मे पवज्जा (प्रव्रज्या) का अर्थ है—घर बार तथा कुटुम्ब छोड कर मुनिव्रत अङ्गीकार करना। यह शब्द व्रज धातु से बना है जिसका अर्थ है चले जाना 'प्र' उपसर्ग 'सदा के लिए' अर्थ प्रकट करता है। वैदिक परम्परा का परिव्राजक शब्द भी इसी धातु से बना है किन्तु वहा

परि उपसर्ग है जिसका अर्थ है चारो ओर इधर उधर चारो दिशाओ मे घूमने वाले सन्यासी को परिव्राजक कहा जाता है। प्रव्रज्या की तुलना मे वैदिक परम्परा का सन्यास शब्द है। यह शब्द असुड्-क्षेपणे (दिवादिगण) धातु से बना है। इसका अर्थ है फेकना। जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन के समस्त उत्तरदायित्व को तथा उसके लिए आवश्यक कार्यो को छोड कर चला जाता है वह सन्यासी कहा जाता है।

परियण--परिजन अ० १ सू० ८--परिवार के व्यक्तियो के लिए उन दिनो दो शब्दो का प्रयोग होता था स्वजन और परिजन। पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि कुटुम्ब के व्यक्ति स्वजन कहे जाते थे और नौकर-चाकर आदि परिजन।

प्राणातिपात--जैन धर्म मे प्राणो की सख्या १० है पॉच ज्ञानेन्द्रियाँ, अर्थात् मन, वचन और काया, श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य। इनमे से किसी का नाश करना, कष्ट पहुँचाना या प्रतिवन्ध लगाना हिंसा है। उदाहरण के रूप मे यदि हम किसी के स्वतन्त्र चिन्तन पर प्रतिवन्ध लगाते हैं तो यह मनोरूप प्राण की हिसा है। यदि उसे बोलने से रोकते हैं तो यह वचन रूप प्राणो की हिसा है। यदि स्वतन्त्र विचार अथवा हलचल से रोकते हैं तो यह काया रूप प्राण की हिसा है। इसी प्रकार सुनने, देखने, सू घने, स्वाद लेने अथवा स्पर्श करने से रोकना तत्तत् प्राणो की हिसा है।

पासंड (पाषण्ड) अ० १ सू० ४४--इस शब्द का आधुनिक रूप पाखण्ड है जिसका अर्थ हैं ढौग। पाखण्डी-ढौगी को कहा जाता है। परन्तु प्राचीन समय मे यह अर्थ नही था। उस समय इसका अर्थ था धार्मिक सम्प्रदाय या पन्थ। अशोक की धर्मलिपियों मे भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है। इसीलिए सम्यक्त्व व्रत के अतिचारो मे पासड शब्द से पहले 'पर' शब्द लगा हुआ है। इसका अर्थ है दूसरे धर्म वाले की प्रशसा करना या उसके साथ परिचय बढाना श्रावक के लिए वर्जित है।

पोसहोवास अ० १ सू० १६--यह शब्द पौषध और उपवास (पौषधोपवास) दो शब्दो से बना है। पौषध शब्द सस्कृत के उपवास का रूपान्तर है। इसका अर्थ है धर्माचार्य के पास निवास करना। जब आठ पहर के लिए उपवासपूर्वक घर से अलग हो कर धर्माचार्य के पास या धर्म स्थान मे रहा जाता है तो उसे पौषधोपवास कहते हैं। यह श्रावक का ग्यारहवॉ व्रत है और आत्म शुद्धि के लिए किया जाता

है। जैन परम्परा मे अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियो पर इसे करने की प्रथा है। पर्यूपण अर्थात् सॉवत्सिरिक पर्व के दिन तो प्राय सभी वयस्क जैन इसकी आराधना करते हैं।

माडविय अ० १ सू० १२—मडव का अर्थ है १८ हजार गाँवो का समूह, इसके मुखिया या अध्यक्ष को माडविक कहा जाता था। जो स्थान आजकल जिलाधीश या Deputy Commissioner का है वही उन दिनो माडविक का था।

राजा—उपासकदशाङ्ग मे राजा शब्द का उल्लेख दो रूपो मे आया है। पहले रूप मे यह जितशत्रु, श्रेणिक तथा कूणिक के साथ आया है जहाँ इसका अर्थ है सम्राट् या राज्य का सर्वोच्च सत्ताधीश। बुद्ध के समय मगध साम्राज्य के साथ वैशाली का गणतन्त्रीय शासन भी विद्यमान था। वहाँ सर्वोच्च सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ मे नही थी। उसमे अनेक गण सम्मिलित थे। प्रत्येक गण से एक व्यक्ति प्रतिनिधि के रूप मे निर्वाचित होकर आता था और वह राजा कहा जाता था। भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ ऐसे ही राजा थे। आनन्द श्रावक के वर्णन मे आया है कि वह अनेक राजाओ, ईश्वरो, तलवरो माण्डविको आदि मे प्रतिष्ठित था। वहा राजा शब्द का अर्थ इसी प्रकार चुने हुए प्रतिनिधि हैं। इनकी सख्या घटती वढती रहती थी। उन्हे राजा, गणराजा या सघमुख्य कहा जाता था।

वण्णओ—सूत्रो मे स्थान स्थान पर वण्णओ शब्द आया है। इसका अर्थ है अन्यत्र सूत्र मे वर्णित। प्राचीन परम्परा मे धर्मोपदेश करते समय इन स्थानो पर राजा, नगरी, चैत्य आदि के वर्णन की प्रथा थी। पचम शताब्दी मे देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण के समय जब आगमो को लिपिबद्ध किया गया तो एक ही सरीखे वर्णन को पुन पुन लिखने के स्थान पर केवल सकेत करके छोड दिया गया। इससे यह तथ्य प्रकट होता है, कि इस प्रकार के वर्णन केवल अर्थवाद थे और धर्मोपदेश को रोचक बनाने के लिए किये जानेते थे। उन्हे ऐतिहासिक महत्त्व नही दिया जा सकता। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के संकेतो के आधार पर आगमो के पौर्वापर्य का निर्णय नही करना चाहिए, क्योकि यह सकेत लिपिकाल से सम्बन्ध रखते हैं, रचना काल से नही।

वड्ढावए-वर्धापक (अ० १ सू० ५)।

सव्व कज्ज वड्ढावए (सर्व कार्य वर्धापक)।

यह आनन्द श्रावक के विशेषण के रूप मे आया है। इसका अर्थ है सब कार्यो को बढाने वाला। यह विशेषण श्रावक के महत्त्व को प्रकट करता है, इससे प्रकट होता है कि श्रावक प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य मे प्रोत्साहन देता है, उसे आगे बढाता है और इस प्रकार समाज की उन्नति मे सहायक बनता है।

समोसरिए-समवसृत अ० १ सू० २—प्राचीन साहित्य मे धार्मिक तथा अन्य प्रकार की सभाओ के लिए समवसरण, सङ्गीति, सङ्गत, संस्था, समिति, परिषद्, उपनिषद् आदि अनेक शब्द आये हैं। वे सब स्थूल रूप मे एकार्थक होने पर भी सूक्ष्म भेद प्रकट करते हैं जो प्रत्येक परम्परा की विभिन्न दृष्टियो के सूचक है। इन शब्दो मे सम् उपसर्ग प्राय सर्वत्र है। यह समूह या एकत्रित होने का बोधक है।

१. **समवसरण**—यह शब्द 'सृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है घूमना या किसी लक्ष्य को सामने रखे बिना चलते रहना। इसके पहले लगा हुआ 'अव' उपसर्ग 'नीचे की ओर' का द्योतक है। जिस प्रकार पानी बिना किसी लक्ष्य को सामने रखे नीचे की ओर बहने लगता है उसी प्रकार भगवान् सर्वसाधारण को उपदेश देने के लिए स्थान विशेष को लक्ष्य मे न रख कर घूमते रहते हैं। इस प्रकार घूमते हुए जहाँ वे अटक जाते है और उपदेश देने लगते हैं उसी का नाम समवसरण है। तीर्थंकरो के समवसरण मे सब जातियो के स्त्री पुरुष ही नही देवता और पशु भी उपदेश श्रवण के लिए उपस्थित होते हैं।

२ **सङ्गीति**—शब्द बौद्ध परम्परा मे प्रचलित है। इसका अर्थ है इकट्ठे होकर गाना। बौद्ध भिक्षुओ ने इकट्ठे होकर त्रिपिटको का पाठ किया उसी को सङ्गीति कहा गया।

३. **सङ्गत**—वैदिक परम्परा मे, साधु-सन्यासियो या परिव्राजको का इकट्ठा होना सङ्गत कहा जाता है। इसका अर्थ है एक साथ मिलकर चलना। इसी का समानार्थक सङ्गम शब्द है जिसका अर्थ है नदियो का मिल कर बहना।

४ **संस्था**—इसका अर्थ है मिलकर बैठना। यह शब्द उपनिषदो मे मिलता है, जहाँ ऋषि-मुनि एक साथ बैठ कर आत्म-चर्चा करते हैं।

५. **समिति**—यह शब्द 'इ' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'चलना', समीति का अर्थ है एक साथ मिल कर प्रगति करना।

६. **परिषद्**—इसका अर्थ है चारो ओर 'बैठना'। जहाँ गुरु या राजा के रूप एक व्यक्ति केन्द्र मे बैठता है और दूसरे सभासद के रूप मे घेरे रहते हैं उसे परिषद् कहा जाता है। 'सम्' उपसर्ग से बने हुए उपरोक्त शब्दो मे किसी एक की प्रधानता का द्योतन है। वहाँ सब मिलकर चर्चा करते हैं किन्तु परिषद् मे एक बोलता है और दूसरे सुनते है।

७. **उपनिषद्**—इसका अर्थ है पास मे बैठना गुरु शिष्य को पास मे बैठाकर रहस्य के रूप मे जो उपदेश देता है उसी का नाम 'उपनिषद्' है।

"समणे" (अ० १ सू० २)—आगम साहित्य मे जहाँ भगवान् महावीर का नाम आया है उसके साथ "समणे निग्गथे" विशेषण भी मिलता है साधारणतया इसका सस्कृत रूपान्तर श्रमण तथा अर्थ मनि या साधु किया जाता है। उत्तराध्ययन मे "समयाए समणो होइ" पाठ आया है। इसका अर्थ है "श्रमण समता से होता है।" श्रमण शब्द भारतीय सस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण धारा का प्रतीक है जिसका ब्राह्मण धारा के साथ सघर्ष रहा है। हेमचन्द्र ने श्रमण और ब्राह्मण के परस्पर विरोध को शाश्वत वैर के रूप मे प्रकट किया है। श्रमण परम्परा के मुख्य तीन तत्त्व हैं—

१. **श्रम**—व्यक्ति अपने ही परिश्रम एव तपस्या द्वारा ऊँचा उठ सकता है। इसके विपरीत ब्राह्मण परम्परा मे यज्ञ का अनुष्ठान पुरोहित करता है, बलिदान पशु का होता है और फल यजमान को मिलता है।

२ **सम**—समस्त प्राणियो मे मौलिक समानता है। प्रत्येक प्राणी साधना द्वारा उच्चतम पद को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्राणी को सुख अच्छा लगता है और दु ख बुरा। आचाराङ्ग सूत्र मे भगवान् महावीर कहते हैं कि जब तुम किसी को मारने या कष्ट देने की इच्छा करते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचो। परस्पर व्यवहार मे समता का ही दूसरा नाम अहिंसा है जो कि जैन आचार शास्त्र का मूल है। विचार मे समता का अर्थ "स्याद्वाद" है। इसका अर्थ है, हम अपने विचारो को जितना महत्त्व देते हैं उतना ही दूसरे के विचारो को भी दे। केवल दूसरे के होने के कारण उन्हे बुरा न माने और केवल अपने होने के कारण उन्हे अच्छा न माने।

३. शम—इसका अर्थ है क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो तथा इन्द्रिय लालसाओ का शमन। श्रमण परम्परा का यह विश्वास है कि कषायो एव भोग-लालसाओ का शमन ही कल्याण का मार्ग है। समणे के साथ जो निग्गथे (निर्ग्रन्थ) विशेषण आया है उससे यह सिद्ध करना है कि निर्ग्रन्थ श्रमणो का एक भेद था।

"सुहम्मा–सुधर्मन्"—भगवान महावीर के ग्यारह गणधर अर्थात् प्रधान शिष्य थे। उनमे सुधर्मा स्वामी पाँचवे है। सभी गणधर अपने पूर्व जीवन मे कर्मकाण्डी श्रोत्रीय ब्राह्मण थे। भगवान महावीर के पास शास्त्रार्थ के लिए आये और अपनी शकाओ का उचित समाधान प्राप्त करके उनके शिष्य हो गए। सुधर्मा स्वामी को यह शका थी कि प्रत्येक जीव जिस योनि मे है मरकर भी उसी योनि को प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने बताया कि ऐसा नही है। जीव अपने भले बुरे कर्मो के अनुसार, नई-नई योनियो को प्राप्त करता रहता है।

सेट्ठि–(श्रेष्ठिन्)—इस शब्द का रूप सेठ या सेट्ठी है और आज भी इसका वही अर्थ है जो उन दिनो मे था। उस समय विविध प्रकार के व्यापारियो एव शिल्पियो के १८ गण माने जाते थे। सेट्ठि उन सबका मुखिया होता था और प्रत्येक कार्य मे उनकी सहायता करता था। आजकल वाणिज्य सघ (Chamber of Commerce) के अध्यक्ष का जो स्थान है वही स्थान उन दिनो सेट्ठी का था। 'सेट्ठि' शब्द का निर्देश राज्य मान्य व्यक्ति के रूप मे भी मिलता है जो अपने मस्तक पर सुवर्णपट धारण किया करता था। सस्कृत व्याकरण के अनुसार श्रेष्ठ शब्द का अर्थ है—प्रशस्ततम या सर्वोत्तम, तदनुसार श्रेष्ठि का अर्थ है वह व्यक्ति जो सर्वोत्तम पद पर प्रतिष्ठित है।

हिरण्णकोडीओ—वैदिक साहित्य को देखने पर पता चलता है कि उन दिनो धन-सम्पत्ति का परिमाण गाय, या पशुओ की सख्या मे होता था। लेन-देन तथा वाणिज्य का आधार भी वही था छान्दोग्य उपनिषद् मे राजा जनक ब्रह्म-विद्या सम्बन्धि शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करने वाले ऋषियो के लिए सौ गौएँ देने की घोषणा करता है। कठोपनिषद् मे आता है कि वाजश्रवा नाम ऋषि ने स्वर्ग प्राप्त करने के लिए सर्वस्व-दक्षिणा यज्ञ किया। यज्ञ के अन्त मे ब्राह्मणो को दक्षिणा के

रूप मे जो गौएँ प्राप्त हुई वे बूढी तथा मरणासन्न थी। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से पता चलता है कि उस समय गाय के स्थान पर सिक्को का प्रयोग होने लगा था।

हिरण्य-सुवर्ण—प्रधान सिक्का हिरण्य या सुवर्ण कहलाता था। यह ३२ रत्ती सोने का होता था। अनेक स्थानो पर सुवर्ण और हिरण्य शब्दो का एक साथ उल्लेख है और अनेक स्थानो पर वे अलग-अलग हैं। भण्डारकर का कथन है कि जहा सुवर्ण शब्द हिरण्य के साथ आता है, वहाँ उसका अर्थ सुवर्ण न होकर एक प्रकार का सिक्का है, जिसका वजन ७ माशे ३२ रत्ती होता है था।

२ **सुवर्ण-माष**—(Ancient Indiao Numismtics, P 51) इससे छोटा सिक्का सुवर्ण-माष होता है। यह भी सोने का हुआ करता था इसका उल्लेख उत्तराध्ययन मे आया है।

३. **कार्षापण**–(प्रा० काहावण)—तीसरे प्रकार का सिक्का कार्षापण या काहावण कहा जाता था। विम्बसार के समय राजगृह मे इसका प्रचलन था। बुद्ध ने भी जहाँ रुपये पैसे की बात आई है कार्षापण उल्लेख किया है। यह तीन प्रकार का होता है—(१) सोने का बना हुआ, (२) चान्दी का बना हुआ, और (३) ताम्बे का बना हुआ। यह चोकोण होता था और वजन लगभग १४६ रत्ती होता था (Rhys Davids—'Buddhist India') उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २० गाथा ४२) मे कूटकार्षापण का उल्लेख आया है। इससे ज्ञात होता है कि उन दिनो खोटा सिक्का भी प्रचलित था।

४. **माषक**–(मास)—आजकल इसे मासा कहा जाता है।

५ **अर्धमाषक**–(अधमास)—आधा मासा।

माषक का उल्लेख सूत्रकृताङ्ग (द्वितीय अध्ययन) तथा उत्तराध्ययन (अ० ८ गाथा १७) मे आया है। जातको मे (I पृ० १२०, III पृ० ४४८) माषक तथा अर्धमाषक दोनो का उल्लेख मिलता है। खुद्दकपाठ की टीका परमत्तथजोतिका मे (I पृ० ३७) लौहमाषक, दारुमाषक तथा जतुमाषक का भी उल्लेख है।

६ **रूवग**–(रुप्यक)—आजकल इसे रुपया कहा जाता है। आवश्यकचूर्णि मे कूट रुप्यक अर्थात् खोटे रुपये का भी उल्लेख है।

७. **पन्निक**–(स० पणिक)—संस्कृत मे पण्य शब्द का अर्थ है बाजार मे बिकने वाली वस्तुएँ। इसी आधार पर दुकान को आपण कहा जाता है। इसका उल्लेख

व्यवहार भाष्य (३ तथा ७-८) मे आया है। कात्यायन के मतानुसार मासे को भी पण कहा जाता था और इसका वजन कार्षापण का २० वाँ भाग होता था।

८. **पायङ्क**—यह भी पण के ही समान है। इसका उल्लेख हरिभद्रीय आवश्यक मे आया है। वृहत्कल्प भाष्य तथा उसकी टीकाओ मे भी कई प्रकार के सिक्को का उल्लेख है।

९. **कवड्डग**-(कपर्दक)—हिन्दी मे इसे कौडी कहा जाता है। यह समुद्री जीव का शरीर होता है। सिक्के के रूप मे इसका प्रचलन अनेक स्थानो पर अब भी विद्यमान है

१०. **काकिणि**—यह ताम्बे का सबसे छोटा सिक्का होता था और दक्षिणापथ मे प्रचलित था। इसका उल्लेख उत्तराध्ययन टी० (अध्ययन ७ गाथा ११) मे आया है। इसका वजन ताम्बे के कार्षापण का चतुर्थाश होता था।

११ **द्रम**—यह चान्दी का सिक्का था और भिल्लमाल मे प्रचलित था। निशीथचूर्णि मे इसका दूसरा रूप चम्मलातो दिया हुआ है। अर्थात यह चर्म का ी बनता था। मलधारी हेमचन्द्र कृत भवभावना मे भी चमडे के सिक्के का उल्लेख आया है। वहाँ बताया गया है कि यह सिक्का नन्द-साम्राज्य मे प्रचलित था। द्रम शब्द ग्रीक भाषा के द्रच्म शब्द से बना है। ई० पू० २०० से लेकर ई० पश्चात् २०० तक उत्तर पश्चिमी भारत मे ग्रीस निवासियो का राज्य था।

१२ **दीनार**—यह सोने का होता था और पूर्व मे प्रचलित था। यह सिक्का ोम निवासियो से लिया गया है। भारत मे इसका प्रचार प्रथम ई० मे कुशान हुआ।

१३ **केवडिग**—यह भी सोने का होता था और पूर्व मे प्रचलित था।

१४ **सामरक**—यह चान्दी का होता था और उत्तरापथ मे अठन्नी के बराबर । उत्तरापथ के दो सिक्के पाटलीपुत्र के एक सिक्के के बराबर होते थे। दक्षिणा- ा के दो रुपये काँची के एक नेला के समान होते थे। काँची के दो सिक्के कुसुम ार अर्थात् पाटलिपुत्र के एक सिक्के के समान होते थे।

सत्थवाह-सार्थवाह (अ० १ सू० ५)।

उन दिनो यात्रा इतनी सरल नही थी जितनी आजकल है। मार्ग उवड-खावड थे बीच मे कही नदियाँ, कही पर्वत और कही भयकर वन आ जाते थे। जगली पशुओ और डाकुओ का भय बना रहता था। अत विकट मार्गो को पार करने के लिए व्यापारी इकट्ठे होकर चलते थे। उनके इस काफिले को सार्थ कहा जाता था और उसके सचालक को 'सार्थवाह'। सार्थवाह प्राय राज्य का उच्चाधिकारी या राजमान्य सामन्त होता था। शस्त्रविद्या तथा शासन व्यवस्था का पर्याप्त अनुभव रखता था। यात्रा से पहले वह नगर मे घोषणा कर देता था कि अमुक तिथि को अमुक नगर के लिए सार्थ प्रस्थान करेगा। मार्ग मे भोजन, पानी, वस्त्र निवास, औषध तथा सुरक्षा की निश्शुल्क व्यवस्था की जायेगी। इतना ही नही व्यापार प्रारम्भ करने के लिए आर्थिक सहायता भी की जायेगी। घोषणा के उत्तर मे सैकडो व्यापारी बैलगाडियो या बैलो पर अपना-अपना सौदा लाद कर विदेशो मे व्यापार के लिए चल पडते थे।

सार्थवाह का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा आदर प्राप्त था। वह पथ-प्रदर्शक सकटो का निवारक तथा लक्ष्य-प्राप्ति मे परम सहायक माना जाता था। उसी की उपमा पर भगवान महावीर को महासार्थक कहा गया है जो चतुर्विध-सङ्घ रूपी सार्थ को ससार रूपी भयङ्कर वन से पार ले जाते है और संकटो से बचाते हुए मोक्ष रूपी नगर मे पहुँचाते हैं।

